

6008.

स्वर्गीय-श्रेष्ठि-चन्दन-जैनागम-ग्रन्थमाला । ग्रन्थसङ्ख्या १

श्रीदशवैकालिकसूत्रम् । (सावचूरि सच्छायम्)

पूज्यश्री-हस्तिमल्लजी-महाराजकृत-
सौभाग्यचन्द्रिका-भाषाटीका-समेतम् ।

एम. ए., एलएल. बी., पदवीधरेण अमोलकचन्द्रेण सुरुपुरियोपनामकेन सम्पादितम् ।

प्रथमावृत्तिः ।

१०००

प्रकाशकः रावबहादुर मोतीलाल बालमुकुन्द मुथा,
भवानी पेठ, सातारा (M. S. M. Rly.)

मुद्रकः रा. ए. विठ्ठल हरि बर्वे, आर्यभूषण प्रेस, ९१५११ पेठ भांडुर्डा, पूना नं. ४.

मूल्यं रूप्यकत्रयम् ।



शास्त्रोद्धारकी योजनाके बारेमें कुछ वक्तव्य



शास्त्रोद्धार-योजनाके बारेमें निम्नोक्त पत्र भेजा गया था—

सादर सप्रेम जयजिनेन्द्र !

हमारे परमपूज्य काकाजी स्व० श्री. चन्दनमलजी साहब मूथाके स्मरणार्थ एक शास्त्रोद्धारकी योजना की गई है। उस योजनाके अनुसार आगमोंका सम्पादनकार्य श्रीमज्जेनाचार्य बालब्रह्मचारी पंडितवर्य परमपूज्य श्री. हस्तीमलजी महाराजके देखरेखमें चल रहा है। इस कार्यको सर्वाङ्गसुंदर एवं विद्वन्मान्य बनानेके लिये समाजके अन्यान्य सुयोग्य विद्वानोंके सहकारकी भी नितान्त आवश्यकता है। वारंते हम अपनी कार्यपद्धति आपके सामने रखते हुए आपसे सविनय प्रार्थना करते हैं कि आप इस कार्यमें अपना योग्य सहयोग देकर हमें कृतार्थ बनाएं।

हमारे कार्यपद्धतिमें सम्पादनके नीचेमुजब विभाग किये गये हैं—

१ प्रथमतः पुरानीसे पुरानी एवं उपादेय ऐसी मूलकी जो शुद्ध प्रति मिले उसपरसे मूलका संशोधन करना।

२ बादमें उसकी प्राचीन टीकाके आधारसे संस्कृतमें छाया देना।

३ उपरान्त कोई अप्राप्य एवं अत्युत्तम टीका आदि हो तो वह भी उपयोगितानुसार छपवाना।

४ इसके अलावा पारिभाषिक व कठिन शब्दोंपर टिप्पणी आदि देना। फिर प्रश्न आता है अनुवादका।

५ अनुवाद—अंग्रेजी, हिन्दी, गुजराती एवं मराठी—इसतरह चारोंमेंसे कोई तयार करके आवश्यकतानुसार कोनसा भी एक देना। अंग्रेजीके प्रतिमें एक अंग्रेजी भूमिका (Introduction) भी देना। इसतरह बनसके वहांतक प्रत्येक सूत्रका शुद्ध मूल, सरल छाया एवं उपयोग दिखानेसे खुला अनुवाद तय्यार होकर जनताके सामने आवे ऐसा हमारा विचार है।

इस कार्यमें आपकी क्या राय है तथा आप किसप्रकार सहयोग दे सकते हैं यह कृपया अतिशीघ्रही हमें लिखकर भिजवावें। इस कार्यको मान्य बनानेके लिये आपकी तरफसे अन्य भी कोई योग्य सूचना आई तो उसका भी साभार स्वीकार होगा।

हालमें श्रीमद्भारतवर्षीय सूत्रका कार्य चलता है। मूल एवं छायाकी प्रति लगभग तयार होगई है। आपका जवाब आनेपर एक कॉपी शीघ्रही आपकी सेवामें भेजी जायगी। इसके आगे नन्दीसूत्र लेनेका निश्चित हुआ है—आपको ज्ञात रहे।

पत्रोत्तर शीघ्रही देवें—

आपका कृपाकांक्षी :

मोतीलाल बा. मूथर—सातारा.

इस पत्रके जो उत्तर आये वे इसप्रकार हैं—

उपाध्यायजी श्री आत्मारामजी महाराजसाहब—

“मैं अपने विचार पं. दुःस्वमोचनजी झाको बतला चुका हूँ”—जो कि यह कार्य अत्यन्त आवश्यक है और बनसके वहांतक मैं अपना सहयोग देनेमें सहमत हूँ, इत्यादि थे.

उपाध्यायजी कविवर श्री अमरचन्द्रजी महाराजसाहब—

“बड़ी प्रसन्नता है कि आप जैसे दानवीर गृहस्थ अपनी लक्ष्मीका सदुपयोग साहित्य-प्रकाशन जैसे पवित्र कार्यमें कर रहे हैं। वास्तवमें आगमोंके प्रकाशनका कार्य अतीव आवश्यक है।

क्या ही अच्छा हो यदि यह कार्य सचका संगठितरूपसे हो। इधर श्री उपाध्यायजी महाराज भी बड़े परिश्रमसे कार्य कर रहे हैं। उधर पूज्यश्री जैनाचार्य पं. श्री. हस्तीमल्लजी महाराजका भी सविशेष कृपाभाव है कि—आप भी इस पुनीत कार्यमें

जुटे हैं। परन्तु आप जानते हैं एक साथ अलग २ शास्त्र निकलेंगे तो उनमें वैषम्य भी अवश्य ही कही न कहीं होगा और वह फिर समाजके लिये भविष्यमें दुःखद होगा। आप कुछ ऐसा मार्ग सोचें ताकि—एकही अर्थ एकही भावसे कार्य हो, और फिर उसमें मतभेद दिखाने जैसा विरोधियोंको कोई अवसर न मिले।

आपके योजनासम्बन्धी नियम सभी सुन्दर हैं और वे विचारपूर्वक ही रखे गये हैं। उनमें कोई विशेष ऐतराज नहीं।”

उत्तरमें अन्य योग्य सूचनाएँ भी हैं।

जैनाचार्य पूज्यश्री जवाहिरलालजी महाराजसाहब—

“शास्त्रोद्धारका कार्य पवित्र और अत्युपयोगी है। मैं इस कार्यकी सफलता चाहता हूँ। आप मेरेसे इस कार्यमें क्या सहयोग चाहते हैं यह पत्रमें स्पष्ट नहीं लिखा। मेरा शरीर वृद्ध और रोगी है, फिरभी सहायताके विषयकी स्पष्टता मालूम होने-पर विचार करूँगा।

भारतभूषण शतावधानी पण्डितरत्न श्री रत्नचन्द्रजी महाराजसाहब—

“आपने जो स्कीम उठाई है वह उत्तम है। समाजमें ठोस साहित्यकी बहुत आवश्यकता है। पूज्यश्री हस्तीमल्लजी महाराजके तत्त्वावधानमें कार्य होनेसे आशा बन्धती है कि यह कार्य बहुत शुद्ध और प्रामाणिक ही होगा। पूज्यश्री उद्दीयमान विद्वान् हैं।”

पत्रमें अन्य योग्य सूचनाएँ भी हैं।

पण्डितवर्य युवाचार्यजी श्री आणंदकृपिजी महाराजसाहब—

“आगमसंशोधनके विषयमें विचारणीय बातें सुयोग्य प्रतीत हुई। चौथी बात जरूर विचारणीय है। यदि सुयोग्य विद्वान् मुनिवरोंसे एक पद्धतिसे आगमसम्पादनकार्य होवे तो अल्पकालमें कार्य हो जावे ऐसी हमारी सम्मति है।”

पंडितवर्य युवाचार्यजी श्री गणेशलालजी महाराजसाहब—

“शास्त्रोद्धारके विषयमें दो मत हो ही नहीं सकते। यह कार्य जितना पवित्र उतना ही आदरणीय भी है। योग्य हाथोंसे इसका सम्पादन होनेमें सफलता असम्भव नहीं।

वर्तमान साम्प्रदायिक परिस्थिति एवं दायित्वपूर्ण भारके कारण लगभग मे इस कार्यमें सहायता देनेमें असमर्थ हूँ। फिर भी आपकी ओरसे यह स्पष्ट मालूम होनेपर कि आप कौनसा कार्य मुझसे लेना चाहते हैं, मैं उसपर विचार कर सकता हूँ। लेकिन इस समय तो किसी भी वचनको देनेमें असमर्थ हूँ।

इन रात्रमें भी पूज्यश्रीकी आज्ञा सर्वोपरी होगी।”

श्री० वर्धमानजी साहब पितलिया, रतलाम—

“शास्त्रोद्धारका कार्य करनेकी आपकी प्रबल इच्छा है यह जानकर बहुतही हर्ष हुआ। आपकी समाजसेवाकी भावना प्रशंसनीय है। एवं श्रीमज्जेनाचार्य पूज्यश्री हस्तीमल्लजी महाराजसाहबका शास्त्रीय ज्ञान तथा लघुवयमें बुद्धिप्राबल्य भी अतिही सराहनीय है। ऐसे महापुरुषके द्वारा सम्पादित साहित्य जैन समाजमें आदरपात्र बनें यह स्वाभाविक है। फिर भी इस योजनाको सर्वाङ्गसुन्दर एवं विद्वन्मान्य बनानेके हेतु आपने विद्वानोंका सहकार प्राप्त करनेका प्रयत्न किया है यह भी वांछनीय है। उक्त कार्यमें मेरा भी सहयोग आपने चाहा है यह आपका बड़प्पन है। आप जानतेही है कि इस विषयमें मेरा अनुभव ज्यादा नहीं है।”

श्री० अगरचन्दजी भैरोंदानजी साहब सेठिया, बिकानेर—

“शास्त्रोद्धारकी आपकी योजना अत्यन्त सराहनीय है एवं कार्यपद्धति भी उत्तम है। श्रीमान् पूज्यश्री हस्तीमल्लजी महाराजसाहबकी देखरेख और सलाहसे कार्य हो रहा है उसके उत्तम एवं उपयोगी होनेमें क्या सन्देह हो सकता है ?

आपने दशवैकालिक सूत्र भेजेनेवात लिखा सो आप खुशीके साथ भेजिये। हमें इस विषयका शौक है इसलिये ऐसे ज्ञानवर्द्धक कार्योंमें हमारी दिलचस्पी रहती है और हम उनका हृदयसे स्वागत करते हैं।”

श्री० वहादूरमलजी साहब बांठिया, भीनासर—

“आपकी जो योजना है वह सर्वोत्तम है। मे सब प्रकारसे पूर्ण सहमत हूँ और आप महानुभावोंने समयानुकूल जैसा भी विचार किया है वह सर्वथा प्रशंसनीय है।

इसके सम्पादनका कार्य श्रीमज्जैनाचार्य बालप्रह्लाचारी पंडितवर्य परमपूज्य श्री. हस्तीमल्लजी महाराजसाहबके देखरेखमें चलना हम लोगोंके लिये बड़े सौभाग्यकी बात है। परन्तु मेरे लिये जो आपने सहयोगके लिये लिखा वह आपकी कृपा है। मैं जिस योग्य भी हूँ सदा प्रस्तुत हूँ।”

उपरोक्त एव अन्य भी जयपुरके श्री. केसरीमलजी चोरडिया व श्री. मूसलजी आदि कई सज्जनोंकी तरफसे उत्साहवर्धक जवाब आनेपर ईप्सित सूत्रकी तीन अध्ययनतककी टाइप की हुई कॉपी निम्नोक्त सज्जनोंकी सेवामें भेज दी गई—

१ जैनधर्मविवाकर उ० जी श्री आत्मारामजी महाराज.

२ उ० जी कविवर श्री. अमरचन्द्रजी महाराज.

३ भारतभूषण शतावधानीजी श्री. रत्नचंद्रजी महाराज.

४ जैनाचार्य पूज्यश्री जवाहिरलालजी महाराज.

५ युवाचार्यजी आणंदऋषिजी महाराज.

६ श्रीमान् सेद भैरोंदानजी साहब सेठिया—विकानेर.

परम हर्षकी बात है कि विद्वान् मुनिवरोंने एवं सहयोगी श्रावकबन्धुओंने भेजी हुई प्रतिका परिशीलन करके योग्य सूचनाएँ भेजकर हमें कुतार्थ किया है व चर्चात्मक ऐसे दो दो चार चार पत्रोंका व्याकरणदृष्ट्या विचार करके जवाब भेजने का कष्ट उठाया है इसलिये हम इन सत्रोंका हार्दिक आभार मानते है व भविष्यमें भी वे इसीप्रकार सहयोग देते रहेंगे ऐसी उत्कट इच्छा प्रकट करते है ।

निवेदक—

मोतीलाल वालमुकुंद मुथा.

अमोलकचंद नवलमल सुरपुरिया.

श्री देवी कॉन्फरन्सको
सादर समर्पण.

प्रकाशक.

समाजके बहुतेरे विद्वानोंसे सहकार लेकर हमने यह जो प्रयत्न किया है, उसके लिये आखिल भारतीय श्री श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन कॉन्फरन्सने इस ग्रन्थको साताराकी जनरल कमेटीमें एक प्रस्ताव करके अधिकृत (Certified) माना है, इसलिये हम कॉन्फरन्सके पूर्ण आभारी हैं ।

मोतीलाल वालमुकुंद मुथा.

अमोलकचंद नवलमल सुरपुरिया.

प्राक्कथनम् ।

मित्राः मायमिद्विमाधकाः सन्तु । अत्रार्यायते प्राणिप्राणपीडनपरा धर्मेति कृत्या यलवर्द्धकेतिकृत्या क्षुत्पती-
 काश्रमेनिष्ठया हिंसायु हिंसा अजयं प्राप्नुवन्, तासां भूतदयाहेतोः प्रतीकारेण भाव्यमिति मन्वाना जैता महर्षयः
 सर्वगर्वाधिरन्तनीः संगृह्य जग्रन्तुः कांश्चिद्ग्रन्थान्, येष्वङ्गोपाङ्गमूलच्छेदादयो भेदा भूयांसः सन्ति यदीयतरधानि
 प्राप्तुं गतनयाः सप्तभद्रपञ्चत्वारो निशेषा गुणस्थानानि योगमार्गणा समुद्घातादयः परद्रस्ताः पारिभाषिकशब्दा
 निदानभाष्यमुप्याप्ति, भक्षेणोऽभिधेयं यद् य एव प्रतिभाशालिन आर्हतायाऽऽगमाय समर्पितजीविनाः, त
 एवैवशीर्षं रहस्यमवस्थानि, भेदरे पञ्चलप्राहिणाण्डित्याः कार्यतः क्षणं क्षिताक्षाः सहस्राक्षा अपि इत्यत्र नास्ति
 संशीतिलेशोऽपि । अतश्च सिद्धोयमगाधोऽनघो दुरधिगमो जैनागमपयोनिधिर्निश्चितशेषमुष्णीकैर्वशीकृतहृषीकैः
 पैथिद्विपिभिर्निरन्यदुर्लभमेधासन्धानकेन प्रमथ्य वेद्यः सुधासन्दोहसंनिभाऽभिधेय इति । सोऽयमिदानीन्तनैर्वैदुविधः
 महमायाऽभाषिदाचक्रान्तस्त्रान्तिदुरधिगम इति किं वाच्यम् ? चिरन्तनैरवदानावधानधुरीणैर्मुनिपुङ्गवैर्मनकज-
 केरपि श्रीशय्यभावाचार्यैर्गुह्यैर्मुनिप्रतेन मनकनाम्ना निजतनुजन्मना दुरधिगमागमरहस्यं ग्राहयितुमिदं दशवैकालि-
 काभिधानस्य सूनस्य नूतनं निर्माणमेव सुलभयोधनिदानममानि । यन्नुर्नाम स योऽविज्ञातोऽपि हृदयं वध्नाति, वद्धमपि-
 हृदयं यय पलायप्रवृत्तादते, अत एव पूर्वसम्यग्निवद्धाः सत्पथपथिकं बालं वीक्ष्य दयार्द्रहृदयाः श्रीशय्यभवाचार्या
 ग्रादशाद्वापि श्रीदशार्थकालिकनामकं नवप्रवर्जितोपकारकं मूलसूत्रं प्रणीतवन्तः, यद्यपीदं सूत्रं नाङ्गतं नोपाङ्गाङ्गीकृतम्,
 भयापि विस्तृतदुरुहपूर्वायद्ग्रन्थेभ्यः सारतया स्थधिरैरुद्धृतमित्यतीव संयमजीवातुभूततया स्तोत्रप्रशोत्साहवतां
 मादशां हितामितिहेतोर्नैवेप्रमथैव प्रथममापातितम्, ज्ञानमूलकतया संयमस्य संयमिभिरागमसेवा हेवाकितया विधेया

इति मनस्याधाय स्वीकृतमिदं कार्यम् । आगमोद्धारनिमित्तं वित्तं तदाकिञ्चनैर्दुरधिगममिति मौनमालम्ब्यमानं मां स्वर्गायौ वदान्यः सातारानिवासी श्रेष्ठी श्रीचन्दनमल्लजीमहोदयः पञ्चाशत्सहस्रपरिमिता मुद्रा जैनागमोद्धिधी-
र्यया वित्तीर्य व्यापारयामास । श्रेष्ठि-श्रीचन्दनमल्लजी-वित्तीर्ण-द्रव्यस्य सदुपयोगाऽर्थं श्रीमोतीलालजी-श्रेष्ठिना वर्षेर्तौ साधुदर्शनाय उदयपुरमागतवताऽभ्यर्थितं यत्स्वर्गतश्रेष्ठिनो विशेषमभिलाषमनुल्लङ्घ्य साम्प्रतं महाराष्ट्रप्रान्तेज्ज-
मागधीभाषानिबद्धसूत्राणि आंग्लभाषया सह व्यवस्थापकसमित्या पाठ्यरूपेण स्वीकृतानि सन्ति तानि च सौलभ्येन न प्राप्नुवन्ति विद्यार्थिनः, यानि च लभन्ते तेष्वपि भाषाभावतः शुद्धाः सरला व्याख्या नोपलभ्यन्ते, अतः श्रीमतां समीहा चेत्तदा योऽन्नव्ययो भविता, तमहं पितृव्यप्रत्तवित्ताद्विधास्यामीति, श्रीमन्तस्तु शोधयन्तु शास्त्राणि, अर्थसौकर्येऽपि पदवान्यप्रमाणाद्यल्पज्ञतादिवैषम्यं तदनु रुरोध माम्, किन्तु-

‘सत्कार्यं विदधानस्य दयन्ते साधवो भुवि । विधानादेधते प्रजा निष्प्रज्ञस्य प्रसङ्गतः ।’

अनेन विधिनाऽल्पप्रज्ञोऽप्यत्यल्पसहायकोऽप्यागमसेवां साधयितुं प्रावर्तिषि । सोऽयं मामकीनः प्रथमः प्रयासः सदगुणहीनः प्रमादादिदोषपीनः स्यात्, अथापि दोषज्ञा मदीयं सेवाभावं बहुमन्यमानाः स्वीयसमुचित-
सूचनयाऽपनेष्यन्ति दोषान्, उत्साहयिष्यन्ते च माम्, किमधिकैरभिधेयहीनैरभिधानैरिति विरमामि प्रचुरजल्पनात् ।

निवेदकः

हस्तिमल्लो मुनिः ।

भूमिका—

सुन पाठक ! आप इस बातको अच्छी तरह जानते हैं कि, संसारमें रहनेवाले मुर, नर, असुर, पशु, पक्षी आदि सभी प्राणी रोग शोक-विशेम चिन्ता-रूप अनेक दुःखोंसे पीड़ित रहते हैं। अच्छेसे अच्छे सर्व साधनसम्पन्न व्यक्ति भी दुःखके मग्नमें डूबे हुए दिन पटते हैं। अनुभवशीलोंका यह प्रत्यक्ष अनुभव है। इसी लिये सभी प्राणी शान्तिकी खोजमें थोड़ी अधिक मात्ताने लगे हुए दिखते हैं। शारीरिक व मानसिक दुःखोंसे छुटकारा पाकर वैसी शान्ति पानेके लिये चारित्र-धर्मकी आगमना अपेक्षित होती है। स्वपरका महान् उपकार करनेवाला यह चारित्र-धर्म श्रुतज्ञानके बिना अर्थात् धर्मशास्त्र-ज्ञानके बिना नहीं तो सद्यता है, अतः सर्वप्रथम श्रुतज्ञानको प्राप्त करना बहुत आवश्यक है। श्रुतज्ञानकी महिमामें प्रभुने श्रीउत्तरा-प्ययन सूत्रके २९ वे अध्ययनमें फरमाया है—“जहा सुई समुत्ता न विणस्सइ, तहा जीवो समुत्तो संसारे न विणस्सइ” अर्थात् श्रुतज्ञानगम्य आत्मा तोंमें मूँधी हुई सुईकी तरह संसारमें गिरकर भी नष्ट नहीं होता।

शास्त्रज्ञानकी महिमामें विशेषज्ञोंने बहुत कुछ विचार किया है। उन सब वाक्योंको उद्धृत करनेका स्थान यह नहीं, केवल प्रसङ्गमे कुछ उद्धरण देना योग्य समझता हूँ। आगममें दुःखोंका मूल अज्ञान है ऐसा कहा गया है। जो अनुभवसे भी टीका दिगता है, एक तरफ अज्ञानीका दुःखानुभव और दूसरी तरफ ज्ञानीओंका दुःखानुभव इन दोनोंमें बहुत अन्तर रहता है। जहाँ अज्ञानी अज्ञानके कारण स्वपरको त्रास देकर छोटेसे दुःखको बहुत बड़ा अनुभव करता है, वहाँ ही ज्ञानी ज्ञानके कारण त्रासोंकी चिन्ताको दूर करते हुए भयङ्कर दुःखको भी सहज अनुभव करते हैं। यह है ज्ञानकी विशेषता। इस बातको हरएक व्यक्ति अनुभवसे समझ सकता है। हाँ इतना अवश्य ध्यान रहे कि वह ज्ञान सम्यग् ज्ञान हो, न कि मिथ्या ज्ञान। क्यों कि सम्यग् ज्ञानकी उपासनाही आत्माको शान्ति दे सकती है।

देखी हुई चीज यदि देशसे या कालसे दूरमें भी होगी तो अनुमान आदि उनका निर्णय दिला सकते हैं। लेकिन कभी न देखी या सुनी आत्मा, परलोक, बन्ध, मोक्ष आदि वस्तुके विषयमें सम्पूर्ण निर्णय देनेके लिये तो एकमात्र साधन आगमही है। इसी लिये नीतिकारोंने कहा है कि—“सर्वस्य लोचनं शास्त्रम्”, शास्त्रही सब की आँख है। यह शास्त्रही ज्ञान-

दर्शन-चारित्र्य-रूप रत्नत्रयकी आराधनासे आत्माको सुगतिगामी बनाता है। और अन्तमें सब दुःखोंसे मुक्त करता है। हित, अहित, कर्तव्य, अकर्तव्य आदिका बोध कराके आगम इस लोकमें मनुष्यको शिष्ट, संयत व शान्त बनाता है। यदि मनुष्यका सञ्चित कर्म प्रतिकूल न हो तो, इसी प्रकार ज्ञानद्वारा परम्परासे मुक्तिरूप परमलाभ मिलता है। अन्तःकरणकी विशुद्धिका तो यह प्रधान साधनही है। जैसे कहा भी है—

“मलिनस्य यथाऽस्थन्तं जलं वस्त्रस्य शोधनम् ।

अन्तःकरणरत्नस्य, तथा शास्त्रं विदुर्बुधाः ॥

अर्थात् मलिन वस्त्रोंको निर्मल बनानेमें जैसे जल साधन हैं। वैसेही अन्तःकरणरूप रत्नको शुद्ध करनेवाला शास्त्र है, ऐसा विद्वान् लोग मानते हैं। शास्त्रकी महिमा दिखानेवाले इन वाक्योंकी सच्चाई इसीसे सिद्ध होती है कि “वीतरागोऽनृतं वाक्यं न ब्रूयान्द्वेषसम्भवात्”—रागद्वेषोंसे रहित होनेसे वीतराग भूषा (झूठ) नहीं कह सकते हैं।

आगम याने क्या ?—

‘आप्तवचनमागमः’ अर्थात् आप्तोंका वचन आगम है और आप्त उन पुरुषोंको कहते हैं जो रागद्वेष आदि विकारी भावोंसे दूर हैं। तथा श्रुत ज्ञानकी विशेषतासे स्वच्छ हृदयवाले व चौदह पूर्वोंसे दश पूर्वतकके ज्ञानोंको रखनेवाले भी आप्तोंके समानही माननीय हैं। इसी लिये नन्दीसूत्रमें इनके वचनोंको सम्यक् श्रुत कहा है। यह कैसे मालुम हो कि ये वचन आप्तोंके होनेसे मानने चाहिए ? इसके लिये शास्त्रमें परीक्षा बताई है—

“अं सुच्या पलिवज्जंति तवं संतिमहिंसयं” उ. अ. ३ गा. ८

अर्थात् जिस वचनको सुनकर श्रोता तप, शान्ति व शुद्ध अहिंसाको स्वीकार करें, उसको आप्त वचन समझना चाहिए। ऐसे गुण जिन अन्य ग्रन्थोंमें या ग्रन्थोंके एक भागमें हों वे ग्रन्थ अथवा ग्रन्थका एक भाग भी आप्तवचनोंके समान

१. आप्तलक्षणं यथा—“कार्त्स्न्येन ज्ञानसकलतत्त्वो रागद्वेषादिनाशवि नाऽन्यथावादी यः स आप्त इति चरके पतञ्जलिः।

माननीय है। क्यों कि उन ग्रन्थोंमें जो कहीं युक्तिसंगत और प्रमाणयुक्त भाग मिलता है, वह भी आत वाक्योंसे संगृहीत है, कारण यह कि अतीन्द्रिय विषयोंको निश्चयपूर्वक पूर्ण जानकर कहना यह साधारण पुरुषोंकी शक्तिसे बाहर है। इसी लिये पण्डितेन्द्र हेमचन्द्राचार्यने अपने स्तुति-काव्यमें कहा है—

“सुनिश्चितं नः परतन्त्रयुक्तिषु स्फुरन्ति याः काश्चन सूक्तिसम्पदः ।

तत्रैव ताः पूर्वमहार्णवोत्थिता जगत्प्रमाणं जिनवाक्यविभुषः ॥

रागदेयको समूल नष्ट कर पूर्णज्ञानी ऐसे महापुरुषोंसे उक्त होनेके कारणसे आगम स्वयं प्रमाण है, इसकी प्रामाणिकतामें अन्य प्रमाणकी आवश्यकता नहीं है क्यों कि दीपककी तरह आगम स्वयंप्रकाशित है। यही मनुष्य जीवनकी सकल-ताकी कुञ्जी है।

शास्त्रोंमें विशेषतासे उपाङ्ग आदि संज्ञासे आगमोंका विभाग नहीं दिखता, हों श्रीनन्दीसूत्रमें श्रुतज्ञानका विचार करते हुए अङ्गप्रविष्ट और अनङ्गप्रविष्ट अर्थात् अङ्गबाह्य ये दो प्रकार मिलते हैं जिसमें आचाराङ्ग आदि द्वादश अङ्गोंको अङ्गप्रविष्ट कहा है, तथा अङ्गबाह्यमें आवश्यक और आवश्यक-व्यतिरिक्त ऐसे दो विभाग किए हैं फिर आवश्यक व्यतिरिक्तमें कालिक व उत्कालिक रूप दो भेद करके शास्त्रोंके नाम भी कह दिए हैं, किन्तु मूल आदि संज्ञाओंका निर्देश नहीं मिलता, इस लिये ये उपाङ्ग, मूल व छेद आदि संज्ञायें नवीन रखी गई मालुम होती है, तथापि ये संज्ञायें है सार्थक व प्रामाणिक।

वर्तमान समयमें पूर्ण माननीय आगम ३२ हैं, जो अङ्ग, उपाङ्ग, मूल, छेद तथा आवश्यक नामसे प्रसिद्ध हैं, उनका नामसे परिचय निम्नलिखित है—

आत्मसाधनका प्रधान अङ्ग होनेसे और इनमें तीर्थङ्करोंके कहे हुए भाव होनेसे आचाराङ्ग आदि ११ अङ्ग हैं, वैसेही अङ्गशास्त्रसे सम्बन्धित व अङ्गगत भावोंका विस्तार करनेवाले शास्त्र उपाङ्ग कहे जाते हैं—

११ अङ्गोंके नाम

- १ आचाराङ्ग
- २ सूत्रकृताङ्ग
- ३ स्थानाङ्ग
- ४ समवायाङ्ग
- ५ भगवती
- ६ ज्ञातार्थकथा
- ७ उपासकदशाङ्ग
- ८ अन्तकृद्दशाङ्ग
- ९ अनुत्तरोपपातिक
- १० प्रश्नव्याकरण
- ११ विपाक

१२ उपाङ्गोंके नाम

- १ उववाइ (औपपातिक)
- २ रायपसेणिअ
- ३ जीवाभिगम
- ४ पणवणा
- ५ जंबूदीवपण्णात्ति
- ६ चंदपण्णात्ति
- ७ सूरपण्णात्ति
- ८ कप्पिया
- ९ कप्पवढंसिया
- १० पुण्फिया
- ११ पुण्फचूलिया
- १२ वण्हिदसा

उपरोक्त ११ अङ्गसूत्रोंसे सम्बन्धित १२ उपाङ्ग तथा ४ मूल और ४ छेद व आवश्यक इस प्रकार कुल ३२ आगम होते हैं, जो कि मूर्तिपूजक तथा साधुमार्गीय इन दोनों सम्प्रदायोंको मूलरूपसे मान्य हैं, इनके सिवाय चतुश्शरण आदि दश प्रकीर्णक और मूल व छेदोंमें दो दो संख्या बढ़ाकर श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय ४५ आगम मानती है। किन्तु अमिधानराजेन्द्र-कोशके प्रथम भागकी प्रस्तावनामें 'वीरत्यव पइण्णा १, इसिभासियसुत्त २, सिद्धिपाहुडसुत्त ३, दीव-सागरपण्णात्ति ४, अंगविज्जा पइण्णा ५, ज्योतिष्करणडक ६, गच्छाचार पइण्णा ७, अंगचूलिया ८, इन आठोंके नाम प्रकीर्णकमें बढ़ाकर लिख दिये हैं, उपरोक्त मूल छेद और प्रकीर्णकमें की हुई संख्यावृद्धिसे ४५ संख्या नियत किस तरह रह सकेगी यह विचारणीय है, अस्तु।

साधुमार्गीय सम्प्रदायमें ३२ ही आगम शास्त्ररूपसे माननीय हैं, यद्यपि नन्दीसूत्रमें प्रकीर्णक आदिमें आए हुए कुछ नाम अधिक दिए गए हैं, तथापि उन नामवाले ग्रन्थोंमें पूर्वापरविरोधी और जिनवाणीके बाधक ऐसे वर्णनोंके होनेसे उनकी मौलिक स्थिति विशुद्ध नहीं रही इसलिये वे सम्पूर्ण माननीय नहीं हैं, अलवत्ता उनमें भी जो अंश आगमोंके पोषक या अबाधक हैं ऐसे अंश तो जैन व जैनेतर किसी भी ग्रन्थके मान्य हैं, उन अंशोंको छोड़कर अन्य अक्षरशः सम्पूर्ण वेही आगम मान्य हैं जो न्यायोंसे व युक्तियोंसे परिपूर्ण जिनवाणीरूप हैं।

जैनागमके विषयमें स्पष्टीकरण—

आगममें अङ्गादि भेदोंपर कुछ विचार करना यहाँ अवसरप्राप्त है, कालका आकलन कहें या पुद्गलोंका परावर्तन किन्तु यह हरएक वस्तुओंमें स्थूल-सूक्ष्मरूपसे जरूर होता है, इस परिवर्तनका आगममें भी कुछ प्रवेश हुआ यह दुःसंकेत साथ मानना पड़ता है, आगममें अङ्ग-उपाङ्ग-मूल-छेद-रूप विभाग हैं इस बातको हम पहले लिख चुके हैं। यहाँ पर पाठकोंको संक्षिप्त परिचय कराना उचित समझते हैं, यद्यपि श्रुतग्रन्थोंके विभाग करते हुए शास्त्रकारोंने अङ्ग-प्रविष्ट और अङ्गबाह्य इन दो संज्ञाओंसेही विभाग किये हैं और आचार्य श्री देवर्दिगाणिकक्षमाश्रमणके समय वीरनिर्वाण संवत् ९५० तक यही परम्परा चलती रही। नन्दीमें सूत्रोंकी संज्ञा और दिए हुए सूत्रोंके नामोंसे ऐसा निर्णय होता है, तथापि इन श्रुतोंकी सत्ता तो उस समयमें भी मान्य थी, इससे आगमग्रन्थोंकी प्राचीनतामें तो कोई शङ्का नहीं रहती, अब रही अङ्गादि संज्ञासे आगमोंके विभागोंकी बात, सो वीर नि० संवत् ९५० के बाद आचार्योंने श्रुतोंकी रचना स्थिर रखनेके लिये ११ अङ्गोंकी रचनासे सम्बन्धित तथा निकटवर्ती होनेसे उबवाइ आदि बारह शास्त्रोंकी उपाङ्ग संज्ञा रखी है, इससे सिद्ध होता है कि उपाङ्गोंमें अङ्गोंके आधारसे ही वर्णन होना चाहिए, किन्तु बाधित नहीं, यह परीक्षाका साधनभी भविष्यकालके श्रुताराधकोंके लिए रख छोड़ा, जो भी इन उपाङ्गोंमें कई जगह परिवर्तन होना पाया जाता है, फिरभी अङ्गशास्त्रोंसे अधिक विरोध दृष्टिगोचर नहीं होता है, आचार्योंने केवल उपाङ्गादि संज्ञासे विभागही नहीं किया बल्कि शास्त्रोंके श्लोकोंकी गणना और अक्षरोंकी गणना तकभी की है, जैनागमोंके सिवाय यह शैली प्रायः अन्यत्र नहीं दिख पड़ती है, मौलिकताको सुरक्षित रखने के लिये आचार्योंकी दूरदर्शितासे परिपूर्ण यह अन्तिम उपाय तो है ही, इसके साथही इससे

यहभी साबित होता है कि उस समयतक शास्त्रोंमें परिवर्तन प्रारम्भ हो गया था, अथवा भविष्यमें पाठ-प्रक्षेप होनेकी आशङ्का हो चुकी थी, इसीलिये श्लोकगणना व अक्षरगणनातक की गई, आगममें पाठ प्रक्षेपकी सूचना टीकाकारनेभी दी है। वे जहाँ तहाँ लिखते हैं कि “अत्र बहवो वाचनाभेदा दृश्यन्ते।”

श्री दशवैकालिक सूत्रका स्थान—

श्री दशवैकालिक सूत्रका स्थान ‘मूल’ संज्ञक आगममें आता है, वस्तुतः चतुर्दशपूर्वधारी श्री शय्यम्भवाचार्यने दश अध्ययनरूप इस सूत्रका उद्धरण कर नवदीक्षित साधुसाध्वीके लिये तो साधु मार्गका मूल निचोड़ ही रख दिया है, इसके उपदेशानुसार प्रवृत्ति करनेवाले साधु सहजमें आत्मकल्याण कर सकते हैं, इसी लिये आचाराङ्ग जैसे मुनिधर्मको दिखानेवाले अङ्गसूत्रके होते हुए भी सरलता व सुबोधकतासे इसका प्रचार बढ़ा हुआ मिलेगा। श्वे. समाजके हरएक संघमें इसके पठन पाठनका प्रेम मिलता है, अतएव इस सूत्रका प्रकाशन भी अन्य सूत्रोंकी अपेक्षा अधिक दिख पड़ता है इससे पाठक स्वयं समझ सकते हैं।

‘मूलसूत्र’ याने क्या ?—

ज्ञान, दर्शन, चारित्र, व तप ये चार आत्माके मूल गुण हैं, इनके नाम, स्वरूप व परिणाम बताकर जो मूल गुणोंका पोषण करते हैं वे शास्त्रभी मूल कहाते हैं। जैसे—नन्दीसूत्रमें ज्ञानके स्वरूप आदिका पूर्ण विवेचन है, इसलिये यह ज्ञानगुणका प्रकाशक है १।

अनुयोगद्वारसूत्रमें आनुपूर्वी नयनिक्षेपका वर्णन है और वस्तुके यथार्थ स्वरूपको समझने समझानेमें प्रधान कारण है, सापेक्ष वस्तुस्वरूपको समझना सम्यग्दर्शन होनेसे उपरोक्त सूत्र उसका पोषक बनता है २।

दशवैकालिक सूत्र सर्वविरतिरूप चारित्रधर्मका प्रारम्भिक पूर्ण वर्णन करनेवाला है, इसको सभी जानते हैं, अतः यह चारित्रधर्मका विकाशक है ३।

उत्तराध्ययन सूत्र विनयरूप आभ्यन्तर तपसे प्रारम्भ कर तपमार्ग इस नामसे ३० वे अध्ययनमें पूर्ण तपका वर्णन करते हुए अन्तिम अध्ययनमें भी संलक्षनारूप तपका वर्णन करता है। इस प्रकार तपके वर्णनकी प्रधानतासे यह तपोगुणका प्रबल प्रचारक है ४।

इससे इन चार सूत्रोंकी मूलसंज्ञा परंपरासे प्रचलित-और युक्तिसंगत दिखती है, श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदायने संख्यासे मूलसूत्र चार मानकर भी 'आवश्यक १ दशवैकालिक २ पिण्डनिर्युक्ति ३ ओषधनिर्युक्ति ४ उत्तराध्ययन ५ ऐसे पांच गिनाये हैं, पूर्वोक्त मूल संज्ञाका हेतु इनमें संगत नहीं होता है, उन्होंने नन्दी और अनुयोगद्वारको चूलिका-सूत्रमें माने हैं, देखो अभिधानराजेन्द्र कोश प्रथम भाग, इस गणनासे न्यूनाधिक साफ समझा जाता है।

श्री दशवैकालिक सूत्रके रचयिता व रचनाकाल —

श्री प्रभवस्वामीके पट्टधर आचार्य श्री शय्यम्भव स्वामी इस सूत्रके उद्धारक व कर्ता हैं। इनके सम्बन्धमें प्राचीन वृत्तिमें ऐसा उल्लेख मिलता है—प्रभवस्वामीको अपने उत्तराधिकारीके लिये अर्थात् भावी आचार्यके लिये उपयोग लगाना पड़ा। उन्होंने ज्ञानातिशयसे उपयोगमें देसा कि राजगृहीनिवासी प्रसिद्ध विद्वान् श्री शय्यम्भव भट्ट हमारा उत्तराधिकारी बनेगा। तदनुसार आपने अपने शिष्योंको शय्यम्भव भट्टके घर पर भेजा, और कहा कि यह शय्यम्भव भट्ट एक बड़ा यज्ञ कर रहा है, जिसमें कि वैदिक ब्राह्मणोंकाही प्रधानतासे सन्मान किया जाता है, तुम्हें चाहे वहां सन्मान नहीं मिलेगा, फिर भी तुम वहां जाकर शय्यम्भव भट्टको सुनाकर कहना कि “तत्त्वं तु न ज्ञातम्” ऐसा कहकर चला आना, साधुओंने आचार्यश्रीके सङ्केतानुसार जाकर सुनाया, शय्यम्भव भट्ट भी द्वारपर खड़ा था, उसने एक शान्तदान्त मुनिके मुखसे यह सुना कि ‘तत्त्वं न ज्ञातम्’। उसी वक्त सोचने लगा कि ये साधु असत्य नहीं बोलते हैं। तो क्या मैं तत्त्व नहीं समझता हूँ? मुझे चाहिए कि तत्त्वकी खोज करूं। इस तरह सोचता हुआ आचार्य श्री प्रभवस्वामीके पास पहुंचा। विनयपूर्वक प्रार्थना की कि महाराज! कृपा कर मुझे धर्म सुनाओ, आचार्यश्रीने योग्य श्रोताको उपस्थित देखकर श्रुत चारित्र्य भेदसे धर्मका स्वरूप फरमाया, हृदयस्पर्शी उपदेशको सुनकर श्री शय्यम्भवजीने यज्ञसामग्री याजक तथा पण्डितोंको देकर आचार्यश्रीके पास स्वयं मुनिदीक्षा ले ली। श्री प्रभवआचार्यके स्वर्गवासी होनेपर, वीर निर्वाण ७५ में यह श्री शय्यम्भवाचार्य बने, येही प्रस्तुत ग्रन्थके निर्माता है।

इस सूत्रकी रचनाका काल वी० नि० ७६ के बाद श्री यशोभद्रके समकालिकही होना चाहिए ।

रचना का कारण—

प्रस्तुत शास्त्रकी रचनामें जनहितकारी श्री मनकमुनिही कारणीभूत हैं । इस बातको निर्युक्तिकारने—“मणगं पटुच्च सिज्जंभवेण निज्जुहिया दसज्जयणा ” इस प्रकार कहा है । इस बातको स्पष्ट समझनेके लिये संक्षिप्त इतिहास ऐसा है । जिस समय शय्यम्भवभट्टने दीक्षा ली, उस समय उनकी धर्मपत्नी गर्भवती थी । ज्ञातिके लोगोंने उससे पूछा कि क्या तेरे गर्भमें कुछ है ? इस पर उसने कहा, ‘मणगं’ जिसका अर्थ हुआ मनाक् अर्थात् थोड़ा किंचित् । समय पाकर बालकका जन्म हुआ । कुटुम्बिओने माताके उत्तरके अनुसार उस बालकका नाम मनक ऐसाही रक्खा । कुछ बड़ा होनेपर बालकने अपनी मातासे पूछा कि मेरा पिता कौन है और वह कहाँ है ? माताने अपने पतिकी घटित घटना कह सुनाई, उसी वक्त वह मनक बालक अपने पिताकी खोजमें चल पड़ा । आचार्यश्री शय्यम्भव उस समय चम्पा नगरीमें विचरते थे । वह बालक भी किसी तरह वहाँ जा पहुँचा । स्थण्डिल जाते हुए शय्यम्भवस्वामीसे मनककी भेट हुई, जन्मजात धार्मिक संस्कारसे बालकने भक्तिसहित वन्दना की, उसकी भक्ति देख आचार्यने उसका परिचय पूछा । बालकके उत्तरसे ज्ञात हुआ कि यह बालक राजगृहीका बासी शय्यम्भवभट्टका पुत्र है और अपने पिताको खोजता हुआ यहाँतक आया है । और खुद भी दीक्षा लेना चाहता है । इस पर आचार्यने अपना परिचय दिया । बालकने भी शीघ्रही दीक्षा ली । इस आचिन्तित धार्मिक घटनासे आचार्यको सन्तोष हुआ । एक दिन प्रथम पुत्र फिर शिष्य ऐसे मनकमुनिकी आयुके विषयमें आचार्य-श्रीने उपयोग लगाया । सिर्फ छह मासकी उसकी आयु शत हुई । इतनी थोड़ी आयुमें मनकमुनि अपना आत्म-कल्याण कर सकें इस लिये साररूप शिक्षणकी आवश्यकता थी । ऐसा अनिवार्य कारण होने पर पूर्वधारी मुनि पूर्वोक्त सार उद्धृत कर सकते हैं तदनुसार मुझेभी वैसा करना आवश्यक है, ऐसा सोचकर ‘ननु करुणा मृदु मानसं मुनीनाम्’ इस वचनके अनुसार श्री शय्यम्भवआचार्यने पूर्वोक्त दश अध्ययनात्मक दशवैकालिक सूत्रका उद्धरण किया । इस प्रकार दशवैकालिककी रचनामें मनकमुनिकी आत्मसाधनाही प्रधान कारण है ।

दशवैकालिकनामकी सार्थकता—

श्री शय्यम्भवाचार्यने पूर्वोक्त अथवा द्वादशाङ्गीसे दश अध्ययनोंका उद्धरण विकालमें अर्थात् दिनके अन्तिम कुछही भाग शेष रहनेपर पूर्ण किया, इसलिये 'वैकालिक च तद् दशाध्ययननिर्माणश्चेति दशवैकालिकम्' अर्थात् विकालमें उद्धृत किये गए दश अध्ययनोंको दशवैकालिक कहते हैं।

दशवैकालिकका उत्पत्तिस्थान—

कर्मप्रवादपूर्वसे पाचवाँ पिण्डैषणा अध्ययन, आत्मप्रवादपूर्वसे छठा धर्मप्रज्ञप्ति अध्ययन, सत्यप्रवादपूर्वसे वाक्यशुद्धि नामका सातवाँ अध्ययन, वाकीके सात अध्ययन नवमपूर्वकी तृतीयवस्तुसे उद्धृत कर लिखे गये हैं। दूसरे पक्षमें द्वादशाङ्गीसे उद्धृत होना बताया गया है, तदनुसार अधिकांशमें तो कई प्रकरणोंका भाव व भाषा इन दोनों दृष्टिसे आचाराङ्ग आदि अङ्गशास्त्रोंसेही साम्य मिलता है, जैसे—आचाराङ्ग और दशवैकालिकका पिण्डैषणाध्ययन। इसीप्रकार वाक्यशुद्धि और भाषाध्ययनकी भी भावसे समता है। विशेष पंजाबी मुनि उपाध्यायजी श्री आत्मारामजी महाराजने अपनी दशवैकालिक सूत्रकी भूमिकामें विशद विचार किया है। जिज्ञासुओंके लिये पठनीय है, हम यहाँ सबका उल्लेख नहीं करके श्री आत्मारामजी महाराजलिखित दशवैकालिक सूत्रकी भूमिका देखनेके लिये सकेत करते हैं।

दशवैकालिककी रचनाशैली व पुनरुक्तिका आभास—

आगमोंमें अधिकतासे गुरु शिष्य सवाद रूपसे वर्णन मिलता है, जो कि साधारण पाठकोंको विशेष रुचिकर होता है। कई स्थानोंमें एकही बातको समझानेके लिये अनेक उदाहरण और पर्यायवाची शब्द देकर भी शिष्यको विशेष बोध करानेका व सरलतासे समझानेका प्रयत्न किया हुआ मिलता है, विषयको स्थिर करनेके लिये उपक्रम उपसंहारमें विषयका पुनरावर्तन होता है, इसी प्रकार दशवैकालिक सूत्रमें 'सुअ मे' आदि पदोंसे प्रश्नोत्तरकी पद्धति मिलती है। प्रथम अध्ययनमें जिस अहिंसा सयम तपको धर्म कहा है, उन्हीं अहिंसा सयम तपका नवम अध्ययनतकमें विशद वर्णन किया गया है। पुनरुक्तिका हेतु—“चतुर्थ अध्ययनमें अहिंसा आदिके निषेधपूर्वक पांच महाव्रतोंकी प्रतिज्ञा व उपदेश है, इन्हीं छह कार्योंकी हिंसा व मृपा, अदत्त, अब्रह्म, परिग्रह, रात्रिभोजनरूप पापसमूहको दोषरूपसे छोड़े अध्ययनमें लिये हैं, इस लिये सदोष होनेसे

ये त्याज्य हैं ” यह हेतु बताया, आठवेंमें आचार-प्रणिधिका वर्णन करते हुए जिस लिये छह काय जीवोंकी हिंसा और मैथुन आदि सदोष हैं अतएव त्याज्य हैं इस प्रकार उपनय किया गया है, दशम अध्ययनमें निगमनसे इन्ही बातोंको कहकर यह बताया है कि पूर्वोक्त अध्ययनोंके अनुसार प्रवृत्ति रखनेवालाही भिक्षु है। इस तरह एकही विषय ३१४ बार लिखा जाकर भी सहेतुक है, अतएव यह पुनरुक्ति सदोष नहीं कही जा सकती।

संशोधनके विषयमें हमारी शैली—

संशोधन कार्यमें हमने भांडारकर-प्राच्य-विद्या-संशोधन-मन्दिर पूनाकी अवचूरिसहित मूल पुस्तककी हस्तलिखित (संवत् १५१५ श्रावण सुदि ७ चन्द्रदिन) इतनी पुरानी प्रतिसे अवचूरि टीका उतारी और सिर्फ अवचूरिकी तीन प्रतियोंसे मिलाकर पाठसंशोधन किया, साथही मूल तथा टीका संशोधनमें हस्तलिखित तथा समितिमुद्रित तथा अन्य मुद्रित प्रतियोंसे सहायता ली। पहले जो मूल संशोधन किया उसमें जहाँ तहाँ प्रामाणिक पाठभेदोंको टिप्पणमें स्थान दिया। किन्तु बादमें उन पाठभेदोंसे विशेष लाभ न देखकर उन्हें छोड़ दिया, छायामें वृत्ति और मूलके भावोंको दृष्टिमें रखकर अधिकतर मूलानुगामिनी पद्धतिसेही काम लिया है, मूलमें एकदम अवशिष्ट या पाठान्तरको () ऐसे कोष्ठकमें रखता है, अवचूरिमें मौलिक अशुद्धिओंको रखकर उसके आगे कोष्ठकमें शुद्धरूप दिया है, उद्धरण या प्राकृत कथाको “ ” इस चिह्नके भीतर लिया है, व्याकरणके नियम आदिको [] इस चिह्नके भीतर लिया है, बहुतसे पाठभेदोंको न देकर केवल शुद्ध और वृत्ति आदिसे बहुमत पाठान्तरोंको ही रखता है, शिवाय इसके प्राकृत अर्द्धमागधीके वैकल्पिकरूपोंके पाठोंको जैसे-चार्थमें अ, य, सोगमल्ल-सोगुमल्ल, आविअइ-आवियइ, गच्छिज्जा, गच्छिज्ज, गच्छेज्ज, हुज्ज, होज्ज इत्यादि पाठान्तररूपसे नहीं दिया है, क्योंकि इस प्रकार पाठान्तरोंके बढ़जानेसे मूलका निर्णयही कठिन हो जाता। रही भाषाकी दृष्टिकी बात सो प्रायः आगमोंमें प्राकृत मागधी आदि भाषाओंके प्रयोग मिले हुए ही दिखते हैं इसलिये उनका पृथक्करण नहीं करके जो अधिक प्राचीन प्रतिमें पाठ मिला वही पाठ अधिकतासे रखता है। जो गाथायें वृत्तिमें व्याख्यात नहीं हैं, उन गाथाओंपर सूचना दे दी गई है।

संशोधनमें हमारी प्रवृत्तिका कारण—

अपनी स्वाभाविक व विशाल देवगुरुधर्मसम्बन्धी भक्तिसे प्रेरित होकर सातारानिवासी शैठ श्रीमान् चन्दनमलजी

मातृ मृग मं. १९९२ के चातुर्मासमें साधुदर्शनार्थ पाटी पधारे । वहाँ आगमोद्धार आदिके विषयमें चर्चा चली । पूज्यश्रीने फरमाया कि अन्य २ समाजोंमें सेवाभावी व धर्मके लिये तन, धन अर्पण करनेवाले व्यक्ति मिलते हैं । किन्तु इस साधुमागीय समाजमें रातदिन त्यागके उपदेशोंको सुनते हुए भी ऐसे व्यक्ति थोड़े मिलेंगे जो धर्मके लिये आत्मभोग देनेको तैयार हों, आपने योंमें मुनिओंके ज्ञानध्यानमें सहयोग दिया है और देते आरहे हैं, अब विशेषमें आपसे हमारा यह कहना है कि आप समाजके लिये कोई आदर्श कार्य कर जाइए, इसमें आपकी अरुण्डकीर्ति बनी रहेगी, और धर्म व समाजकी शोभा होगी । किसी भी कार्यको करनेके लिये आज साधनोंकी कमी नहीं है । केवल उनसे लाभ लेनेवालोंकी जरूरत है । मैं तो गानू हूँ और आपकी उदारतासे साक्षर समझा जाता हूँ । साधु नियमोंके अनुकूल यदि कुछ सेवाका लाभ मिलेगा, तो अपने जीवनमें आशु सफलता समझूंगा । श्रुत-सेवा जो परम पवित्र है, संघोंका उपकार जो पूर्ण उच्च व प्रथम कर्तव्य है, इन सब माध्यमोंकी निम्न एक ज्ञानप्रचारेमें हो सकती है । लेकिन जो सब कार्योंका निमित्त है उस वित्तकी इसमें भी आवश्यकता पड़ेगी । ऐसा फरमाकर पूज्यश्री चुप हो गए । शेटजीने भी उस समयमें कोई स्पष्ट उत्तर नहीं दिया, केवल उपदेशके बीचोंबीच हृदयमें सरसर बहसि प्रयाण किया । फिर अजमेर चातुर्मासमें दर्शनार्थ आकर शेटजीने सातारा फरसनेकी विनन्ती इन शब्दोंमें की—“हमारी शक्ति रही वहाँतक मैंने दर्शन किया । अब सातारा पधारकर दर्शन दिलावें तो फिर दर्शनका लाभ हमको भिन्न गहता है नहीं तो हमारा यह दर्शनका लाभ आखीरका है ।”

शेटजीकी बात सच्ची हुई, सं. १९९३ के ज्येष्ठ मासमें शेटजीका स्वर्गवास होगया । स्वर्गवासके समयमें आपने अपने पृष्ठमात्र उत्तराधिष्ठात्री विनीत उदार व आज्ञाधारी रायबहादुर शेट श्री० मोतीलालजी साहबको आगमोद्धारके वावत रु. पचासहजार मद्रिचाके अनुसार व्यय करनेको कहा । स्व० शेटसाहबकी आज्ञाका पालन करना अपना मुख्य फर्ज समझकर रा० ब० शेट मोतीलालजी साहबने उस शुभ आज्ञाको कार्यरूपमें शीघ्रही लाना चाहा । योगानुयोगसे इसी वर्षमें मैंने अर्धमागधी भाषा लेकर चान्सलर-पदके साथ एम. ए. परीक्षा पास की । रायबहादुर साहबने मुझे शास्त्रोद्धारके कार्यमें नियत किया । १९९५ कार्तिक मासमें आगमोद्धारकर इन्स्टिट्यूटमें जैनागमका पर्याप्त संग्रह है । प्रत्येक उसीको आधारस्तम्भ बनाकर शुद्ध व प्राचीन कुछ चुनी

हुई प्रतियाँ वहाँसे ली गई। पाठभेदोंकी तो कभी कमी नहीं थी। यदि केवल शुद्ध पाठ व उनके पाठान्तरोंकोही देते तो भी पुस्तकका बहुतसा कलेवर बढ जाता। इसलिये यह निश्चय हुआ कि वृत्ति व निर्युक्तिसे सिद्ध सिर्फ एकही पाठ रखना चाहिए। मूलका अर्थ संस्कृत भाषाके विद्वानोंके लिये संस्कृत टीकाके सहारेसे विशेष सुलभ तथा रोचक होगा। इस लिये टीकामें संक्षिप्त तथा सारगर्भित अर्थयुक्त होनेसे प्राचीन अवचुरि टीका पसन्द पड़ी। भाण्डारकर इन्स्टिट्यूटमें इस अवचुरिकी बहुत प्राचीन प्रति मिली। अतिसूक्ष्म अक्षरोंमें होनेसे यह प्रति कुछ अमात्मक और कुछ अशुद्धभी थी। इसलिये इस प्रतिकी प्रतिलिपि करनी अत्यन्त आवश्यक जची। इसमें श्रमभी अधिक पडा। अर्थके लिये मुख्यतया आगमोदय-समिति प्रकाशित प्रतिही सामनेमें रखी गई है। दुःखसे कहना पडता है कि समिति-सम्पादित प्रतिभी सर्वथा शुद्ध नहीं निकली।

किसीभी नवीन कार्यके प्रारम्भमें विचाराचारसे कालक्षेप होताही है। तदनुसार इस दशवैकालिकके संशोधन-प्रकाशनमें कार्यकी दृष्टिसे वर्षभरका काल लम्बाही कहा जायगा। इस अवधिमें इस सूत्रका मूलसंशोधन, छायालेखन, अवचुरिकी प्रतिलिपि, उसका श्रीहरिमद्रकी वृत्तिसे पुनः संशोधन, हिन्दी सौभाग्यचन्द्रिका-टीकालेखन इतने कामोंको साताराके चातुर्मासके समयको छोडकर बहुत कुछ शेषकालके विहारमेंही किया गया। सातारा चातुर्मासमें मूल, छाया, अवचुरि, हिन्दी-टीका आदिका पुनः पुनः संशोधन करना, प्रेस कॉपी बनाना, ३ अध्य० तककी कॉपी भेजकर सम्मति मंगवाना, मुद्रणके लिये प्रेसको खोजना इत्यादि ठीक करते कराते आखिर ता. २४/९/३९ में आर्यभूषण प्रेस पूनाको एक मासमें छापदनेके लिये यह मुद्रणकार्य दिया गया। प्रेसकी तरफसे यह पुस्तक छापकर अवाधिपर अवश्य मिलजाती किन्तु जिन मान्य मुनियोंकी सम्मतियाँ मंगवाई गई, उन्होंने लिखवाया कि अनुवादकी हिन्दी अच्छी नहीं है। इस सूचनाके अनुसार निश्चय हुआ कि पहला अनुवाद बदल दिया जाय। वैसाही किया गया। इस उलट फेरमें जो धांधली मची उसको सम्हालना काबुसे बाहर होगया। फिरभी अपनी प्रतिभा एवं परिश्रम सावधानीकी कसौटीपर कसनेमें कसर नहीं रक्ता गया है। तोभी जैनागमकी गम्भीरतासे व आधुनिक जनोंकी अल्पज्ञतासे और आगम-संशोधन-कार्यमें यही प्रथम प्रयत्न होनेसे त्रुटि रहजाना अधिक सम्भव है। इसलिये आगमसिद्ध विद्वानोंसे नम्र निवेदन है कि वे त्रुटियोंकी सूचना देकर हमें सावधान करेंगे तो हम आगे अधिक उत्साहसे आगमसेवा कर सकेंगे। इत्यलम्—

प्रार्थी-सम्पादक।

सम्पादक और प्रकाशककी ओरस दो शब्द



आज परम हर्षकी बात है कि हम आप लोगोंके समक्ष श्रीदशवैकालिकसूत्र छाया अचचूरि व हिन्दी अनुशास्त्रके साथ रख रहे हैं। प्रस्तुत संगोधनके विषयमें बहुत कुछ भूमिकामेंही लिखा जा चुका है। विशेष आगमोद्य-मामिति-प्रकाशित व रायधनपतिरिंह बहादुरकी ओरसे प्रकाशित दशवैकालिकसूत्रके चतुर्थ अध्ययनमें पञ्चमहायतके प्रतिपादकोंमें 'पाणे अद्याप्य' इत्यादि तीन पाठोंमें तीसरे पाठका 'समणुजाणामि' ऐसा वर्तमानकालमें प्रयोग किया है, किन्तु प्रस्तुत दशवैकालिककी प्रतिमें तीनों पाठोंका विधिमेंही प्रयोग किया गया है। इसका कारण यह कि इन तीनों पाठोंका अर्थ करते हुए टीकाकारने 'तिङ्गं तिङ्गे भवन्ति' इस व्याकरणके नियमसे वर्तमानके अर्थमें विधिप्रयोग माना है। इसलिये प्राचीन तथा छान्दसरूपका परिवर्तन नहीं किया गया है।

संगोधनमें 'शिपीव' जैसे असाधु शब्दोंका परिवर्तन अनुशासनकी दृष्टिसे कर दिया गया है, इसी प्रकार कई स्थलोंमें आत्मनेपद परस्मैपदका भी परिवर्तन किया गया है। कई स्थल दृष्टिदोषसे छूट भी गए हैं।

गमयकी कमी होनेसे ग्रन्थान्तरोंके उद्धृत प्रमाणोंका स्थलनिर्देश नहीं किया जा सका, तथा दशवैकालिकसूत्रमें प्रतिपादित विषयोंकी चर्चा आचाराद्वादि सूत्रोंमें किस प्रकार की गई है उसका तुलनात्मक विचार व सूत्रमें कहे गए ऐतिहासिक व्यक्ति व स्थानोंका परिचय आदि उपयोगी विषयोंपर परिशिष्ट नहीं दे सके हैं। ऐनेही शास्त्रकी मौलिकता समझनेमें प्रबल व प्रशस्त साधन श्लोकसंख्याके परिमाणको भी मिलानेकी आवश्यकता थी किन्तु समयाभावसे ये सब नहीं दे सके हैं।

सम्मतिदाताओंके प्रति कृतज्ञता—

प्रस्तुत सूत्रके मुद्रणसे पूर्व तीन अध्ययनतक संशोधित कॉपी भेजकर पांच स्थानोंसे सम्मति ली गई, उन सम्मतिदाताओंके नामोल्लेख करना भी हम नहीं भूल सकते हैं क्योंकि जिन मान्य मुनिओंने इस कार्यमें अपना उपयुक्त समय और सपरिश्रम मनोयोग लगाकर योग्य सूचनाएँ दिलवाई हैं, तथा हमारा उत्साह बढ़ाया है, हम उनके पूर्ण आभारी हैं।

सम्मतिदाता मान्य मुनिओंके शुभनाम—

(१) मनस्वि-शिरोमणि पूज्य श्री जवाहिरलालजी महाराज ।

(२) ज्ञान-वदान्य भारतभूषण शतायधानी मुनि श्री रत्नचन्द्रजी महाराज ।

(३) सद्दयशिरोमणि जैनागममर्मज्ञ उपाध्यायजी श्री आत्मारामजी महाराज ।

(४) उपाध्याय कविवर श्री अमरचन्द्रजी महाराज ।

(५) युवाचार्य पण्डितप्रवर श्री आनन्दकृपिजी महाराज ।

इनके सिवाय छह स्थानोंसे शास्त्रज्ञ श्रावकोंकी भी सम्मतियाँ मंगवाई गई थी, इन्होंने भी अपनी सहानुभूतिप्रदर्शक सम्मति व सूचनाओंसे हमें प्रोत्साहित किया, अतएव वे सब धन्यवादके पात्र हैं।

विशेषतया शारीरिक अस्वस्थताके रहते हुए भी जो पूज्य श्री जवाहिरलालजी महाराज व भारतभूषण श्री शतायधानीजी महाराज तथा उपाध्याय श्री अमरचन्द्रजी महाराजने भेजी हुई कॉपीका सूक्ष्म निरीक्षण करके योग्य सूचनाएँ प्रदान की, तथा उपाध्याय श्री आत्मारामजी महाराजने समक्षमें पण्डितजीकी मार्फत शास्त्रोद्धार विषयकी जो योग्य सूचनाएँ भेजी तथा इधर भी समय २ पर जो समुचित सम्मति देते रहे उन सब महात्माओंके हम विशेष आभारी हैं।

ऐसेही वाकानेरनिवासी श्रीयुक् 'शेठ अमरचन्दजी भैरोंदानजी सेठियाकी ओरसे काँपी-निरीक्षण-का भार प्रेमपूर्वक स्वीकार करके तथा सहानुभूतिदर्शक सम्मति व सूचनाएँ देकरके जो उत्साह व्यक्त किया गया इसके लिये हम विशेष सन्तोष प्रकट करते हैं, और आशा करते हैं कि समाजके अन्य श्रीमान् भी सेठियाजीकी तरह विद्यानुराग प्रकट कर लक्ष्मी व सरस्वतीके कृपापात्र बनेंगे। यह भी निश्चितसा है कि श्रीमानोंकी अधिकतासे ऐसी वैधानिक उदारता दिखानेपरही समाजका भविष्य गौरवशाली होगा।

विशेष क्षमायाचना

इसी प्रकार प्रस्तुत कार्यमें अन्तरङ्ग सहायक पं. दुःखमोचनजीको भी हम भूल नहीं सकते। पं. जीने जो छाया अवचूरि व अनुवादके लिखने लिखानेमें तथा अस्वस्थ दशामें भी कार्यको पार लगानेकी तत्परता दिखाई है उसके लिये हम पं. जीका हृदयसे अभिनन्दन करते हैं।

अपनी तरफसे सर्वोद्भूत संशोधन प्रकाशन कर चुकनेपर विशेष विमर्षक विद्वानोंकी अनुकूल प्रतिकूल समालोचनासे किसीभी संशोधन सम्पादनमें संशोधन और सम्पादककी सफलता या विफलता समझी जाती है, किन्तु हमें तो सत्य निर्णयसेही ज्ञान होरहा है कि संशोधनमें हम पूर्ण सफल नहीं हो सके, सो यहाँतक कि हम अपनी सञ्चितशक्तिका भी इसकार्यमें पूर्ण उपयोग नहीं ले सके। कारण यह हुआ कि इस प्रतिका मुद्रण, भूमिकालेखन, जहाँ तहाँ टिप्पण-प्रदान, भूफसंशोधन, और द्वितीयवार अनुवादलेखन ये सब कार्य एकसाथही करने पड़े, इसी बीचमें दीक्षामहोत्सवके चलते भी विक्षेप कम नहीं रहा, इसी अवसरपर अन्तरङ्ग सहकारी और हृदयके लिये हाथके समान कार्यकारी व्यक्ति श्री पं. जीभी दम्मासे बीमार होगए। इत्यादि कारणोंसे कोई १ चूक तो बुरी तरह खटकने जैसी होगई है, इन सब भूलोंका शक्य समाधान शुद्धिपत्रमें किया जायगा।

संकिम् विज्ञानोंसे यह बात छिपी नहीं रह सकती है कि इन अशुद्धिओंमें संशोधनकी अद्युत्पत्तिसे असा-
वधानोंमें या विपन्नतामें होनेवाली चूक कौनसी । तथा लेखक, कम्पोजीटर, और प्रूफरीडरकी गलतीस होने-
वासी चूक कौनसी । तोभी हम अपने सदा पाठकोंके सामने अपनी रही हुई अशुद्धिओंके लिये क्षमाप्रार्थी हैं ।

हमें पूर्ण आशा एवं विश्वास है कि पाठकगण इस नवीन प्रकाशित दशवर्षकालिक सूत्रसे लाभ उठाकर
हमारे धर्मको सफल करेंगे । शुभमधिकम् ।

प्रार्थी

मोतीलाल मुथा.

अमोलकचन्द सुरपुरिया.

श्री दशबैकालिक सूत्रकी गाथाक्रमसे संक्षिप्त अनुक्रमणिका.



गाथा

अध्ययन १.

- १ धर्मकी सच्ची व्याख्या और फल.
- २-३ भ्रमणवृत्तिमें भ्रमरकी उपमा और तुलना.
- ४-५ शिष्यका माधुर्य वृत्तिस्वीकार व उपसंहार.

अध्ययन २.

- १ क्या वासनाओंके आधीन मनुष्य साधुपनका पालन कर सकता है ?
- २-३ भोग नहीं भोगते हुए भी त्यागी नहीं होता; सच्चे त्यागीका स्वरूप.
- ४-५ वासनाके उदयसे चंचल बने हुए चित्तको स्थिर करनेके अन्तरंग व बहिरंग उपाय.
- ६-१० मुनि रथनेमिको महासती राजिमतीका मार्मिक उप-देश व मुनिश्रीकी धर्ममें स्थिरता.

गाथा

- ११ रथनेमिकी तरह भोगोंसे निवृत्त होनाही पंडित-पन है.

अध्ययन ३.

- १ संयममें स्थिरचित्तवाले मुनिओंके अनाचीर्ण.
- २-९ औद्देशिक आदि ५२ निषिद्ध कार्योंका निर्देश.
- १०-१५ उपरोक्त निषेधोंको त्यागनेवाले मुनिओंका स्वरूप और फलप्रदर्शन.

अध्ययन ४.

- गद्य गुरुशिष्यके प्रश्नोत्तरपूर्वक अध्ययनका प्रारम्भ. पट्टकायिक जीवोंका वर्णन व पंच महाव्रत और छट्ठा रात्रिभोजनपरिहारव्रत.
- पृथ्वी, अप, तेजः, वायु, वनस्पति और व्रस इन पट्टकायिक जीवोंकी यतनाका विधान.

गाथा

१-६ अयननामे चलने ठहरने व बैठने आदिकी क्रियासे पापकर्मका बन्ध.

७-९ क्रिया करते हुए भी पापकर्मके बन्ध नहीं होनेका उपाय.

१० क्रियासे ज्ञानही प्रधानता.

११-२५ ज्ञानसाधिका उपाय और क्रमशः मुक्तिरूप फलका वर्णन.

२६-२७ मुक्ति किसको दुर्लभ और किसको सुलभ होती है.

२८-२९ मुक्तिमार्गके गुण और अभ्यासका उपसंहार.

अध्ययन ५ उद्देश १.

१ भिक्षाके समय मुनि स्थिरचित्त होकर जात्रे और आगेकी विधिसे आहारपानीकी गवेषणा करे.

२-३ भिक्षाके समय चलनेकी विधि.

४-७ कुमार्गसे नहीं जाना. कुमार्ग-गमनसे हानि और जानेकी विधि.

८ वर्षा आदिमें भिक्षार्थ गमनका निषेध.

गाथा

९-११ वेश्याके निवास आदि अयोग्य स्थानोंकी ओर जानेका निषेध एवं कारण.

१२ कुत्ते आदि दुष्ट पशु और युद्धके स्थानको छोड़के चलना.

१३-१६ गोचरीमें चलनेकी विधि और शङ्कास्थानोंको देखनेका निषेध.

१७ कैसे कुलमें भिक्षार्थ नहीं जाना व कैसेमें जाना ?

१८ बिना इजाजत किवाड खोलकर गृहस्थके घरमें जानेका निषेध.

१९ गोचरीमें मलमूत्रकी शङ्का होजाय तो निवारण करनेकी विधि.

२०-२३ कैसे घरमें भिक्षाके लिये नहीं जाना ? नहीं मिलने-पर कैसे पीछे लौटना ?

२४-२६ गृहस्थके घरमें कहाँतक जाना और कैसे खड़े रहना ?

२७-६४ कैसे भिक्षा लेना और कैसे नहीं लेना ?

६५-६६ हिलते हुए पत्थर आदिसे या पोले मार्गसे जानेका निषेध.

६७-६९ ऊपरसे उतारके दी हुई भिक्षाका निषेध और कारण.

७०-७२ कच्चे व सजीव फल, पत्ते आदि तथा सचित्त रजसे भरे हुए साय पदार्थके लेनेका निषेध.

७३-७४ जिसमें सानेका भाग कम और फेंकने योग्य अधिक हो वैसे फल आदिके लेनेका निषेध.

७५-७९ अम्राह्य और माद्य पानीके प्रकार.

८०-८१ कदाचित् विना ध्यानके अम्राह्य उदक आजाय तो उसे ढालनेकी विधि.

८२-८६ आहार करनेकी विधि, स्थानपर आकर गुरुको आहार दिखाना.

८७-९१ आलोचना करना.

९२ निर्दोष भिक्षावृत्ति दिखानेवाले तीर्थङ्करोंकी स्तुति.

९३-९९ विश्रान्ति, चिन्तन व अन्य साधुओंको निमन्त्रण करना; भोजन करनेकी विधि.

१०० निःस्वार्थ दाता तथा ग्राहककी दुर्लभता और फल.

अध्ययन ५ उद्देश २.

१ भिक्षाके ग्रहण करनेपर मुनि जो कुछ भी मिला हो सभी खा लेवे.

२-३ एकवार ली हुई भिक्षासे यदि निर्वाह न हो तो फिरसे भिक्षा लेनेकी विधि.

४-५ कालकी योग्यायोग्यता; अकालमें भिक्षार्थ जानेसे होती हुई हानि.

६ कालोचित भिक्षालाभ न मिलनेपर तप समझकर चलना.

७ दूसरा कोई भिक्षाके लिये आया हो तो उसके सम्मुख नहीं जाना.

८ भिक्षार्थ जानेपर कहीं बैठना नहीं या कथा करना नहीं.

९ क्वाड आदिका अवलंघन करके खड़ा नहीं रहना.

१०-१३ भिक्षार्थ जानेपर वहांपर कोई अन्य ब्राह्मण, श्रमण या भिखारी आदि आजाय तो आचरनेकी विधि.

गाथा

१४-१७ फूल, कमलका डेंड आदि सचित्त वस्तुओंको कष्ट पहुंचाकर दी जानेवाली भिक्षाका निषेध.

१८-२४ कमलचन्द्र, ऊस आदि, बीजाङ्गूर आदि, विना भूनी हुई सींग आदि, कच्चे फल, तिलपापड़ी आदि, चोंचलका आटा, कांजी आदि, भोपला मूला वगैरह विना कटी हुई सचित्त वस्तुएँ, बोरीका चूर्ण, प्रियाल आदि सबका निषेध.

२५-२६ कैसे कुलमें और किस तरहसे भिक्षा लेना ?

२७-२८ पास होकर भी नहीं देनेवालेके प्रति क्रोध नहीं करना.

२९-३० वन्दना करते हुएको याचना नहीं करना और न वन्दनासे फूल जाना; कैसेही वन्दना न करनेवाले पर भी क्रोध नहीं करना.

३१-३२ आचार्य श्री स्वयं लेलेंगे इस ढरसे छिपानेवालेका धिक्कार और ऐसे कृत्यका फल.

गाथा

३३-३५ नीरस आहार देसनेपर मुझे बड़ा तपस्वी समझेंगे इस विचारसे आहारमेंसे अच्छा २ छिपाकर रखनेका परिणाम.

३६-४१ मद्यनिषेध, मद्यपी बननेके दुष्परिणाम.

४२-४५ सुबुद्धि साधुके लक्षण और उसको मिलनेवाला फल.

४६ ढोंगी साधुताका फल.

४७ देवपन प्राप्त होनेपर भी अपनी स्थितिके बारेमें अज्ञान.

४८ नीचयोनिका पाना और बोधिदुर्लभता.

४९-५० भगवानका उपदेश और उपसंहार.

अध्ययन ६.

१-४ उद्यानमें ठहरे हुए आचार्यश्रीको लोगोंका प्रश्न और आचार्यश्रीका उत्तर.

५-६ साधुका आचार जिसका कि वर्णन जैनधर्म जैसा किसी भी धर्ममें नहीं मिलता है उसको आचार्यश्री यथाक्रमसे सुनाते हैं.

गाथा

७-८ अठारह दोषस्थान और उनके नाम.

९-११ प्रथमस्थान अहिंसा और उसका स्वरूप.

१२-१३ झूठ बोलनेका निषेध और कारण.

१४-१५ अदत्तादान लेनेका निषेध.

१६-१७ अन्नह्नचर्य यह सप्त दोषोंका मूल है इसलिये उसका निषेध.

१८-२२ लोण, तेल आदि पदार्थोंका ग्रहणनिषेध, सच्चे साधुका स्वरूप याने निर्लोभता; परिग्रहकी शुद्ध व्याख्या.

२३-२६ रात्रिभोजनका निषेध और उसके दोष.

२७-२९ पृथ्वीकाय विराधनाका निषेध.

३०-३२ अपुण्य-विराधनाका निषेध.

३३-३६ अग्निकाय-विराधनाका निषेध.

३७-४० वायुकाय विराधनका निषेध.

४१-४३ वनस्पतिकायकी विराधनाका निषेध.

४४-४६ व्रसकायकी हिंसाका निषेध.

४७-४८ चार अभोज्य वस्तुओंको त्यागना.

गाथा

४९-५० क्रीतादि दोषयुक्त आहारोंको वर्जन करना.

५१-५३ गृहस्थके भाजनमें आहार करनेका निषेध एवं कारण; पश्चात्कर्म और पुरःकर्म इन दोषोंका विवेचन.

५४-५६ कुर्सी, पलंग आदि आसनोंका निषेध.

५७-६० निषया दोषका विवेचन; निषेधके कारण और इस दोषमें अपवाद.

६१-६३ स्नाननिषेध और निषेधके कारण.

६४-६७ शरीरविभूषाकी मुण्ड ऐसे साधुके लिये अनापश्य-कता अतः उसका निषेध.

६८-६९ सच्चे त्यागीका कर्तव्य-पहले किये हुए पापोंकी निर्जरा करना व नये पाप नहीं करना तथा योग्य मार्गसे सिद्धिप्राप्ति करलेना इत्यादि उपसंहार.

अध्ययन ७.

१ भाषाके चार प्रकार-दो आदरणीय और दो त्याज्य.

२ नही बोलनेलायक सत्य एवं सत्याभूषा भाषाका निषेध.

गाथा

- ३ साधुको कैसी भाषा बोलना चाहिए ?
- ४ शासनकी बाधा पहुंचानेवाली भाषाका निषेध.
- ५ दिखाऊ सत्यमें भी पापकी आशंका.
- ६ निश्चयात्मक भाषाका निषेध.
- ७ शङ्कास्पद भाषा भी वर्ज करना.
- ८-१० जिस बातके विषयमें बोलनेवाला अनजान है, या कुछ शङ्का है ऐसी भाषाका निषेध; साधुको हमेशा निश्शङ्कित भाषा बोलना चाहिए.
- ११ कठोर भाषाका वर्जन.
- १२-१४ दूसरेके दिलको दुःख हो ऐसी भाषाका निषेध.
- १५-१७ स्त्रीको संसारी सम्बन्धसे साधु नहीं पुकारे, तथा अन्य भी गालीके अंशवाले शब्दसे सम्बोधन नहीं करे; स्त्रीको बुलानेकी विधि.
- १८-२० पुरुषके सम्बोधनकी विधि.
- २१ पञ्चेन्द्रिय प्राणियोंका स्त्री पुरुष आदि भेद सबार न हो तो जातिसे उल्लेख करे.

गाथा

- २२-२३ पुष्ट ऐसे मनुष्य, पशु, पक्षी आदिको देखनेपर कैसी भाषा बोलना चाहिए ?
- २४-२५ गाय या बैल इनके व्यवहारमें क्या कहना ?
- २६-२९ उद्यानमें बड़े २ वृक्षोंको देखकर कैसी भाषा नहीं बोलना चाहिए ?
- ३०-३१ वृक्षोंको देखकर क्या बोलना चाहिए ?
- ३२-३५ वृक्षके फल एवं लता इनको उद्देश्यकर क्या कहना चाहिए ?
- ३६-३९ जिमणवार, चोर और नदीके विषयमें कैसी भाषा बोलना चाहिए ?
- ४०-४२ सावधभाषाका निषेध.
- ४३-४६ लरीदी या विकरीके घरमें कैसा बोलना ?
- ४७-४९ असंयतको आदरसे बुलाना आदिका निषेध; असाधुको साधु कहनेका निषेध.
- ५० लडाईमें अमुककी विजय हो ऐसा नहीं बोलना चाहिए.

गाथा

- ५१ सुभिक्ष सुभिक्षादिका अनुमान करनेका निषेध.
 ५२-५३ आकाशके बारेमें कैसा बोलना ?
 ५४ सामान्य भाषा भयसे या मङ्करीमें भी नहीं बोलना.
 ५५-५६ भाषाशुद्धिके तरफ सयाल करके साधुने कैसी
 भाषाका व्यवहार करना ?
 ५७ शुद्ध भाषाका उपयोग करनेसे फल और उपसंहार.

अध्ययन ८.

- १ आचारके नियमोंका ज्ञान होनेपर भिक्षुने क्या
 करना चाहिए ?
 २-३ जीवके सामान्य भेद और उनकी हिंसाका निषेध.
 ४-५ पृथ्वीकायकी हिंसाका निषेध.
 ६-७ अप्रकायकी हिंसाका निषेध.
 ८ अग्निकायकी हिंसाका निषेध.
 ९ वायुकायकी हिंसाका निषेध.
 १०-११ वनस्पतिकायकी हिंसाका निषेध.
 १२ व्रसजीवोंकी हिंसाका निषेध.

गाथा

- १३-१६ आठ सूक्ष्मोंका वर्णन और उनकी हिंसाका निषेध.
 १७ प्रतिलेखन करनेकी आवश्यकता.
 १८ उच्चारादि विसर्जन करनेकी विधि.
 १९-२१ गृहस्थोंके घरोंमें भिक्षार्थ जानेपर कैसा वर्तवि
 करना ?
 २२ लाभालाभके विषयमें चर्चा नहीं करना.
 २३-२४ भोजनमें गृद्धि नहीं करना तथा संनिधि भी नहीं
 रखना.
 २५ जिनशासनका सच्चा आदेश-छक्षवृत्ति एवं सन्तोष.
 २६-२७ परीपह सहन करना यही महाफल देता है.
 २८ रात्रिभोजन-निषेध.
 २९ दान्त होकर सब सहलेना.
 ३० आत्मोत्कर्षका निषेध और श्रुतलाभसे गर्व नहीं
 करनेका उपदेश.
 ३१-३२ अधार्मिक कार्य यदि हाथसे हो भी जाय तो भी
 इचारा उसको नहीं करे और न अनाचारको छिपावे.

गाथा

३३ आचार्यकी आज्ञाको विनयसे सुनकर उसका अनुपालन करना.

३४-३६ आयुष्यकी अल्पता और साधनोंका विचार करके आचारमें दक्षता.

३७-४० क्रोधादि चार कषायोंको छोड़ना क्यों कि वेही पुनर्भवके मूलका सिध्दन्त करते हैं.

४१ रत्नाधिकोंके प्रति विनयभावना.

४२-४४ सर्वसाधारण उपदेश.

४५-४६ गुरुके प्रति विनय दिखानेकी विधि.

४७ विना पूछे नहीं बोलना.

४८ अप्रीतिकर या क्रोधकारी भाषाका वर्जन.

४९ कैसी भाषा बोलना चाहिए ?

५० उपहास नहीं करना.

५१ नक्षत्र, भविष्यकथनादिका निषेध.

५२-५३ वरातीके बारेमें निर्वन्ध.

५४-५८ स्त्रीसे ब्रह्मचर्यको बड़ा भय है इसलिये स्त्रीकथा, स्त्रीसंसर्ग आदिका निषेध.

गाथा

५९-६० विषयसुख पुद्गलरूप होनेसे उसकी अनिश्चितता.

६१ श्रद्धासे साधुपनका पालन.

६२-६३ संयमयोगका फल.

६४ उपसंहार.

अध्ययन ९ उद्देश १.

१ क्रोध या मानके वश गुरुका विनय नहीं करनेसे होती हुई हानि.

२ गुरुकी आशातना कैसे होती है ?

३ आशातनाका परिणाम.

४ इसी विषयमें नागकी उपमा.

५ गुरुकी आशातना सर्पदंशसे भी भयङ्कर है.

६-९ गुरुकी आशातनाके विषयमें अन्य उपमाएँ; गुरुकी आशातनासे छुटकारा नहीं हो सकता.

१० इसलिये मोक्ष चाहनेवाले मुनिको क्या करना चाहिए ?

११-१३ अहिताग्निकी तरह गुरुके सेवामें तत्पर रहकर उसका विनय करे.

गाथा

१४ आचार्यको इन्द्रकी उपमा.

१५ गणीको चन्द्रमाकी उपमा.

१६-१७ आचार्यकी आराधना करके उनको सन्तोष उपजानेसे होता हुआ फल और उपसंहार.

अध्ययन ९ उद्देश २.

१-२ धर्मको वृक्षकी उपमा देकर धर्मवृक्षके मूलदिका दिग्दर्शन.

३ जो साधु कपटसे रहता है वह प्रवाहमें पड़े हुए काष्ठकी तरह बहजाता है.

४ विनयके तरफ सयाल नहीं करनेवाला साधु दिव्य श्रीको दूर हटाता है.

५ अविनयका परिणाम.

६ सुविनीत रहनेसे फल.

७-८ अविनीत लोगोंको शारीरिक एवं मानसिक दुःख भोगना पड़ता है.

९ सुविनीत लोक कृद्धि प्राप्त कर लेते हैं.

गाथा

१०-११ अविनीत देवोंको भी दुःख, और सुविनीतको सुख.

१२ आचार्यकी आज्ञा माननेसे शिक्षाकी वृद्धि.

१३ शिल्पादिका उपयोग ऐहिक वस्तुके लिये करनेका निषेध.

१४-१६ शिल्पादिका शिक्षण लेनेके लिये भी लोक कष्ट सहन करते हैं फिर आत्मसाधन की तो बातही क्या ?

१७ हरएक बाबतमें नम्रताका अंगिकार.

१८ अयतनासे पाँव आदि लगजाय तो क्षमायाचना.

१९ दुष्ट गजका दृष्टान्त.

२० बाह्य चिन्होंसे हेतुको समझकर उसीके अनुसार चलना.

२१ विनय यही संपत्ति और अविनय यही नाश है.

२२ अविनीतको मोक्ष नहीं मिल सकता है.

२३ विनयका फल मोक्ष और उपसंहार.

अध्ययन ९ उद्देश ३.

१ अहिताग्निकी तरह आचार्यके प्रति जाग्रत रहकर उनकी आज्ञाको माननेवालाही पूज्य है.

गाथा

२-३ गुरुकी आज्ञामें रहनेवाला, बड़ोंका विनय करने वाला नम्र साधु पूज्य है.

४ आहारमें गृद्धि नहीं रखकर भिक्षा लेनेवाला व नहीं मिलनेपर खेद नहीं करनेवाला पूज्य है.

५ सन्तोषप्रधान जो साधु वही पूज्य है.

६-८ किसी वस्तुकी आशासे तो लोहेके सीले भी लोग सहन करते हैं लेकिन बिना किसी आशाके दुरुद्धर ऐसे वाक्प्रहारोंको सहन करनेवाला जितेन्द्रियही पूज्य है.

९ निश्चयात्मक एवं अप्रियकारी भाषा वर्ज करनेवाला ही पूज्य है.

१० सामान्यतः माया लोभादि कपार्योंका त्याग करनेवाला पूज्य है.

११ गुणोंसे साधु बनता है वास्ते खुदको जानकर जो राग या द्वेषसे अलग रहता है वह पूज्य है.

गाथा

१२ किसीकी निन्दा एवं गर्व नहीं करनेवाला पूज्य है.

१३ माननीय शिष्यके विषयमें कन्याकी उपमा.

१४ पञ्चसमिति—त्रिगुस्तिका धारक और चार कपार्योंका त्यागी साधु पूज्य है.

१५ गुरुकी शुश्रूषारी होता हुआ फल दिखाने हुए उपसंहार.

अध्ययन ९ उद्देश ४.

गद्य भगवान श्री महावीरने फरमाये हुए चार विनय-समाधिस्थान.

१ इन्हींमें साधुको रत रहना चाहिए.

गद्य विनयसमाधिके चार प्रकार.

२ अपने हितकी शिक्षा देनेवाले गुरुकी शुश्रूषा करना और मान नहीं दिखाना.

गद्य चार प्रकारकी श्रुतसमाधि.

३ ज्ञानके विषयमें एकचित्त होकर दूसरोंको भी ज्ञान-लय लगाना और स्वाध्याय करना.

- गद्य तपःसमाधि भी चार प्रकारकी है.
 ४ निर्जराके हेतुसे विविध प्रकारका तप करना और पुराने पापको हटाना.
 गद्य चार प्रकारकी आचारसमाधि.
 ५ आचारसमाधिसे ही मोक्षप्राप्ति हो सकती है.
 ६ शास्त्रार्थमें कुशल और आचारसमाधिमें रत रहनेवाला ही अपना भला कर सकता है.
 ७ वह समाधिवान् साधु जातिमरणसे मुक्त होकर स्वर्गसुखको या मोक्षको पाता है इत्यादि उपसंहार.

अध्ययन १०.

- १ कामभोगोंके आधीन नहीं होनेवाला.
 २-४ पट्टकायिक जीवोंके आरंभका त्रिकरणसे त्यागी.
 ५ श्रद्धा समदर्शिता आदि भिक्षुगुण.
 ६ अन्तरंग बहिरंग त्यागिपन.
 ७-१३ भिक्षुके अन्तरंगगुण और आत्मसाधनाके आदर्श कार्य.

- २५-१७ संयमकी प्रधानता, मूर्च्छा और लोलुपताका त्याग.
 १८-१९ वाणीका संयम और मानका परिहार.
 २०-२१ जनहितार्थ धर्मोपदेश व परिणाममें सिद्धि.

चूलिका १.

- गद्य दुःखसे उद्दिग्ध होकर संयम छोड़नेकी इच्छावाले साधुको संयममें स्थिर करनेके लिये साधुजीवनके महत्त्वसूचक उपदेशप्रद १८ उपाय.
 १ भोगके लिये धर्म त्यागनेवाला अनार्य उससे होने-वाले परिणामको नहीं जानता.
 २-८ धर्मभ्रष्टका अनेक उपमाओंसे पश्चात्ताप.
 ९ अगर मैं चारित्र्यमें रहता तो आज क्या होता ?
 १०-११ संयमपर्यायमें रति रखनेसे स्वर्गीय सुख और अर-तिसे नारकीय दुःख समझकर पर्यायमें रमण करना.

“ श्रीदशवैकालिकसूत्रम् ”

(सावकूरि सच्छायम्)

॥ प्रथमाध्ययनम् ॥

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो ।

देवा वि तं नमंसंति जस्स धम्मे सया मणो ॥ १ ॥

छा० धर्मो मङ्गलमुत्कृष्टम्, अहिंसा संयमस्तपः ।

देवा अपि तं नमस्यन्ति यस्य धर्मे सदा मनः ॥ १ ॥

श्री सिद्धेभ्यो नमः । इहार्थतः श्रीमहावीर्यणीतस्य सूत्रतो गणधरोपनिबद्धपूर्वगतोद्धृतस्य शारीरमानसा-
नेककटुकदुःखसन्तापविनाशहेतोर्दशवैकालिकाऽभिधानशास्त्रस्यातिसूक्ष्ममहार्थगोचरस्य व्याख्या प्रस्तूयते । तत्र प्रस्तु-

गाथा

१२-१६ धर्मभ्रष्टकी इस लोकमें हीलना और परलोकमें दुर्गति.

१७-१८ ज्ञानपूर्वक संयममें कष्ट सहनेसे लाभ और उपदेश.

चूलिका २.

१ चूलिकाका प्रारंभ.

२-३ संसारप्रवाहके विपरीत चलनेका उपदेश.

गाथा

४-९ प्रतिस्रोतचारी भिक्षुकी चर्या, विहारचर्या और विशेषगुण.

१०-११ एक चर्या वर्षाकल्प व मासकल्प एकत्रवास.

१२-१४ जागरणामें आत्म-आलोचन और दोषनिवारण.

१५-१६ प्रतिबुद्धजीवी और उपदेश.



‘जहा दु’०—[असमस्तपदाभिधानम्, उपमेये गृहिद्विमाणां आहारादिपुष्पाण्यधिकृत्य विशिष्टसम्बन्ध-
प्रतीत्यर्थम्] तथा च न्यायोपात्तवित्तदानेऽपि ग्रहणं निषिद्धमेव । आपिब्रति मर्यादया पिबति रसं मकरन्दम्, न च
नेव पुष्पं क्लमयति पीडयति, स च भ्रमरः प्रीणात्यात्मानम् ॥ २ ॥

एमेए समणा मुक्ता जे लोए संति साहुणो ।
विहंगमा व पुप्फेसु दाणभत्तेसणे (जा) रया ॥ ३ ॥

छा० एवमेते श्रमणा मुक्ता ये लोके सन्ति साधवः ।
विहङ्गमा इव पुष्पेषु दानभक्तैषणे रताः ॥ ३ ॥

एवमेतेन प्रकारेण ‘ एते ए ’—अधिकृताः प्रत्यक्षेणैव परिभ्रमन्तो दृश्यन्ते, श्राम्यन्तीति श्रमणास्तपस्य-
न्तीत्यर्थः, ते च तापसादयोऽपि भवन्तीत्यत आह—‘ मुक्ताः सत्त्वाद्याभ्यन्तरेण ग्रन्थेन, ये लोके अर्द्धतृतीयद्वीप-
समुद्रपरिमाणे सन्ति विद्यन्ते, साधयन्तीति साधवः ’ किं साधयन्ति? ज्ञानादीनीति गम्यते । ननु ये मुक्तास्ते साधव
एतेत्यत इदमयुक्तम् ? उच्यते—व्यवहारेण निहन्वा अपि मुक्ता एव न च ते साधवः, अथ ते न नित्यं सन्तीत्यनेनैव
व्यवच्छिन्नाः ? उच्यते—वर्तमानतीर्थापेक्षया सूत्रमिदमिति न दोषः, अथवा शान्तिः सिद्धिः, तां साधयन्तीति साधवः ।
विहङ्गमा इव भ्रमरा इव पुष्पेषु दानभक्तैषणासु रताः, दानग्रहणाद् दत्तं गृह्णन्ति नादत्तम्, भक्तग्रहणात्तदपि प्रासुकं,
नाभारुमादि, एषणाग्रहणेन गवेपणादित्रयपरिग्रहः, तेषु स्थानेषु रता इति ॥ ३ ॥ ननु ‘ दाणभत्तेसणे रयात्ति ’ उक्तम्,

तार्थप्रतिपादनमेव धर्मस्य नमस्कारद्वारेणाऽशेषविघ्नविनायकोपशान्तये भगवान् शय्यम्भवाचार्यो भावमङ्गलमाह—
 'धम्मो'—दुर्गतौ प्रपतन्तमात्मानं धारयतीति धर्मः स उत्कृष्टं मङ्गलं-र्मग्यते हितमनेनेति मङ्गलम्, ऐकान्तिकत्वा-
 दात्यन्तिकत्वाच्च, न पूर्णकलशादि, तस्याऽनैकान्तिकत्वादनात्यन्तिकत्वाच्च । अहिंसा प्राणातिपातविरतिः, संयमः
 पापद्वारनिरोधः, नन्वहिंसैव तत्त्वतः संयम इति तद्देवेनास्याभिधानमयुक्तम् ? उच्यते—संयमस्य अहिंसाया एवोप-
 ग्रहकारित्वात् संयमिन एव भावतः खल्वहिंसकत्वादित्यनयोर्भेदः । तापयत्यनेकभवोपात्तमष्टविधं कर्मेति तपः, तच्च
 द्विविधं ब्राह्ममान्तरञ्च, बाह्यमनशनादि, आन्तरं प्रायश्चित्तादि । धम्मो मङ्गलेत्यत्र धर्मग्रहणे सति अहिंसासंयमतपो-
 ग्रहणमयुक्तम्, तस्य अहिंसासंयमतपोरूपत्वात् ? न, अहिंसादीनां धर्महेतुत्वात्, धर्मस्य च कार्यत्वात्, कार्य-
 कारणयोश्च कथञ्चिद्देदात्तद्भेदः, गम्यादिधर्मव्यवच्छेदेन तत्स्वरूपज्ञानार्थं वा । 'धम्मो मङ्गलं' इत्याज्ञासिद्धं युक्ति-
 सिद्धं वा ? उच्यते—उभयसिद्धं जिनवचनत्वात्, तस्य च विनेयजनाऽपेक्षयाऽऽज्ञासिद्धत्वात्, आह च निर्युक्तिकारः—
 "जिणवयणं सिद्धं चेव" ॥ १ ॥

अध्य० १

जहा दुमस्स पुप्फेसु भमरो आविअइ रसं ।

नय पुप्फं किलामेइ सो अ पीणेइ अप्पयं ॥ २ ॥

छा० यथा दुमस्य पुप्पेषु भ्रमर आपिबति रसम् ।

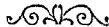
नच पुष्पं कुम्भयति स च प्रीणात्यात्मानम् ॥ २ ॥

॥ २ ॥

‘महामारसमा’०-मधुका (क) रसमा भ्रमरतुल्याः, बुध्यन्ते स्मेति बुद्ध्या अवगततत्त्वकलापाः के ?
ये भ्रमन्ति भ्रमन्ति अनिश्रिताः-कुलादिचमतिबद्धा नानाऽनेकविधाभिग्रहविशेषात्प्रतिगृहमल्पात्प्रग्रहणाच्च, पिण्ड
आहारापिण्डः, अन्तर्धानादिर्वा तत्र रता अनुदिमाः, दान्ता इन्द्रियनोऽन्द्रियदमेन, ईर्यादिसमितिसमिताश्च इति शेषः ।
अयमर्थः-‘यथा भ्रमरोपमया एषणायै यतन्ते तथा ईर्यादिष्वपि व्रतस्थावरजीवाहितं यतन्ते तेनोच्यन्ते साधवः’
इति समाप्ती, ब्रवीमीति न स्वधिया किन्तु तीर्थङ्कराद्युपदेशेन ॥ ५ ॥

॥ द्रुमपुष्पिअञ्जयणं पठमं ॥

॥ द्रुमपुष्पिकाध्ययनं प्रथमम् ॥



यत एवमतो लोको भक्त्याकृष्टमानसस्तेभ्यः प्रयच्छत्याधाकर्मादि, तद्ग्रहणे सत्त्वोपरोधः, अग्रहणे च स्ववृत्त्यलाभः ?
इत्यत्र उच्यते—

अध्य० १

वयं च वित्तिं लब्धामो न य कोऽ उवहम्मइ ।

अहागडेसु रीअंते पुप्फेसु भमरा जहा ॥ ४ ॥

छा० वयं च वृत्तिं लप्स्यामहे न च कश्चिदुपहन्यते ।

यथाकृतेषु रीयन्ते पुष्पेषु भ्रमरा यथा ॥ ४ ॥

‘वयं च’०—वयं च वृत्तिमाजीविकां लप्स्यामः (लप्स्यामहे) प्राप्स्यामस्तथा यथा न कश्चिदुपहन्यते,
[वर्तमानैष्यत्कालोपन्यासस्यैकालिकन्यायप्रदर्शनार्थः] तथा चैते साधवः सर्वकालं यथाकृतेषु (गृहस्थैः) स्वार्थं
कृतेष्वाहारादिषु रीयन्ते वर्तन्ते इति ॥ ४ ॥ यतश्चैवमतः—

महुगारसमा बुद्धा जे भवंति अणिसिआ ।

नाणापिंडरया दंता तेण वुच्चंति साहुणो ॥ ५ ॥ त्ति वेमि ।

॥ ४ ॥

छा० मधुकरसमा बुद्धा ये भवन्त्यनिश्रिताः । -

नानापिण्डरता दान्तास्तेनोच्यन्ते साधवः ॥ ५ ॥ इति ब्रवीमि ।

“ इंदियविसयकसाए परीसहे वेयणाउ संसग्गे (उवसग्गा) ।

एए अवराहपया जत्थ विसीअंति दुम्मेहा ” ॥ १ ॥

क्षुद्रकवत्, कृतिनस्तु एभिरेव करणभूतैः संसारकान्तारमुत्तरन्ति, कोऽसौ खुल्लज्जति कहाणयं—

“ कुंकणगो जहा एगो खंतो सपुत्तो पव्वइओ, सो अ चेळओ तस्स अईव इट्ठो, सीयमाणो भणइ—
खंता । ण सक्केमि अणुवाहणो हिंडिउं, अणुकंपाए खंतेण दिण्णाओ उवाहणाओ, ताहे भणइ—उवरितला सीएण
फुटंति, ग्वल्लिता (ओ) से कयाओ, पुणो भणइ—न सक्केमि भिक्खं हिंडिउं, तो सो पडिसए ठियस्स आणेइ, एवं न
तरामि खंत ! भूमिए सुविउं, ताहे संधारो से अणुण्णाओ, पुणो भणइ—ण तरामि खंत ! लोअं काउं, तो खुरेण
पफिचित्तं, ताहे भणति—अण्हाणयं न सक्केमि, तओ से फासुअपाणएणं कप्पो दिज्जति, आयरियपाउगं वत्थजुयलं
पिप्पति, एवं जं जं भणति तं तं सो खंतो णेहपडिबद्धो तस्साणुजाणति । एवं काले गच्छमाणे य भणिओ—न तरामि
अविरइआए विणा अच्छिउं खंतति । ताहे खंतो भणति—सट्ठो, अजोगोत्ति काउं (ऊण) पाडिसगाओ निक्के-
डिओ, फम्मं फाउं न जाणइ, अजाणंतो छणसंखडीए धाणिं काउं (ऊण) अजिण्णेण मओ, विसयविसट्ठो मरिउं
(ऊण) महिसो आयाओ, वाहिज्जइ अ । अह खंतो सामण्णपरियागं पालेऊण आउक्खए कालगओ, देवेषु उववण्णो,
ओहिं पउंजति, ओहिणा आभोएऊण तं चेळयं तेण पुव्वणेहेण तेसिं गोहाण हत्थओ किणइ, वेउव्वियभंडिए जोएइ,
वाहेति य गुरुगं, तं अतरंतो वेढुं तोचएण विंधिउं (ऊण) भणति—न तरामि खंता । भिक्खं हिंडिउं, एवं भूमिए

अध्य० २

॥ ७ ॥

॥ द्वितीयाध्ययनम् ॥



अध्य ०

व्याख्यातं द्रुमपुष्पिकाध्ययनम् । इदानीं श्रामण्यपूर्विकाख्यमारभ्यते—अस्यैवमभिसम्बन्धः—इहाऽनन्तरा-
ध्ययने धर्मप्रशंसोक्ता, सा चेद्देव जिनशासने इति, इहतु तदभ्युपगमे सति मा भूदभिनवप्रव्रजितस्याऽद्यूतेः संमोह
इत्यतो धृतिमता भवितव्यमिति—एतदुच्यते, अनेन सम्बन्धेनायातमिदमध्ययनम् ।

कहं नु कुज्जा सामण्यं जो कामे न निवारए ।

एए एए विसीअंतो संकप्पस्स वसं गओ ॥ १ ॥

छा० कथं नु कुर्याच्छ्रामण्यं यः कामान्न निवारयेत् ।

पदे पदे विपीदन् सङ्कल्पस्य वशं गतः ॥ १ ॥

‘कहं नु०’—कत्यहं कदाहं कथमहम् इत्याद्यदृश्यपाठान्तरत्यागेन दृश्यं व्याख्यायते—कथं नु कुर्याच्छ्राम-
ण्यं यः कामान्न निवारयति, कथं केन प्रकारेण ‘नु’ क्षेपे यथा—‘कथं नु स राजा यो न रक्षति’ एवं कथं नु
कुर्याच्छ्रामण्यं श्रमणभावं यः कामान्न निवारयति न प्रतिषेधते, किमिति न करोति ? [तत्र निमित्तकारणहेतुषु
सर्वासां विभक्तीनां प्रायो दर्शनिमिति वचनात् कारणमाह] पदे पदे विपीदन् सङ्कल्पस्य वशं गतः कामाऽनिवार-
णेनेन्द्रियाद्यपराधपदापेक्षया पदे पदे विपीदनात् (विपदनात्) सङ्कल्पस्य वशङ्गतत्वादप्रशस्तोऽध्यवसायः—

॥ ६५ ॥

“ इंदियविसयकसाए परीसहे वेयणाउ संसंगे (उवसग्गा) ।
एए अवराहपया जत्थ विसीअंति दुम्मेहा ” ॥ १ ॥

शुल्लकवत्, कृतिनस्तु एमिरेव करणभूतैः संसारकान्तारमुत्तरन्ति, कोऽसौ खुल्लउत्ति कहाणयं—

“ कुंकणगो जहा एगो खंतो सपुत्तो पव्वइओ, सो अ चेळओ तस्स अईव इट्ठो, सीयमाणो भणइ—
खंता ! ण सक्केमि अणुवाहणो हिंडिउं, अणुकंपाए खंतेण दिण्णाओ उवाहणाओ, ताहे भणइ—उवरितला सीएण
फुट्ठंति, खल्लिता (ओ) से कयाओ, पुणो भणइ—न सक्केमि भिक्खं हिंडिउं, तो सो पडिसए ठियस्स आणेइ, एवं न
तरामि खंत ! भूमिए सुविउं, ताहे संधारो से अणुण्णाओ, पुणो भणइ—ण तरामि खंत ! लोअं काउं, तो खुरेण
पफित्तितं, ताहे भणति—अण्हाणयं न सक्केमि, तओ से फासुअपाणएणं कप्पो दिज्जति, आयरियपाउगं वत्थजुयलं
विप्पति, एवं जं जं भणति तं तं सो खंतो जेहपडिबद्धो तस्साणुजाणति । एवं काले गच्छमाणे य भणिओ—न तरामि
अविरइआए विणा अच्छिउं खंतत्ति । ताहे खंतो भणति—सट्ठो, अजोगोत्ति काउं (ऊण) पडिसगाओ निप्फे-
डिओ, कम्मं काउं न जाणइ, अजाणंतो छणसंखडीए धाणिं काउं (ऊण) अजिण्णेण मओ, विसयविसट्ठो मरिउं
(ऊण) महिसो आयाओ, वाहिज्जइ अ । अह खंतो सामण्णपरियागं पालेऊण आउक्खए कालगओ, देवेसु उववण्णो,
ओहिं पउंजति, ओहिणा आभोएऊण तं चेळयं तेण पुव्वणेहेण तेसिं गोहाण हत्थओ फिणइ, वेउव्वियभंडिए जोएइ,
वाहेति य गुरुगं, तं अतरंतो वोढुं तोत्तएण विंधिउं (ऊण) भणति—न तरामि खंता ! भिक्खं हिंडिउं, एवं भूमिए

सयणं, लोअं काउं, एवं ताणि वयणाणि सन्वाणि उच्चारयेति जाव अविरतिआए विणा न तरामि खंतोत्ति । ताहे एवं भणंतस्स तस्स महिसस्स इमं चित्तं जायं—‘ कहं एरिसं वक्कं सुतंति ’, ताहे ईहापूहमग्गणगवेसणं करेइ, एवं चित्तयंतस्स तस्स जातिसरणं समुप्पण्णं, देवेण ओही पउत्तो, संबुद्धो । पच्छा भत्तं पच्चक्खाइत्ता देवलोअं गओ । एवं एए विसीअंतो संकप्पस्स वसं गच्छइ, जम्हा एस दोसो तम्हा अट्टारससहस्ससीलंगाणं सारणानिमित्तं एए अवराहपए वज्जेज्जा ” । तथा चाह निर्युक्तिकारः—

अध्य० २

“ अट्टारस उ सहस्सा, सीलंगाणं जिणेहिं पण्णत्ता ।

तेसिं पडिस्खण्णटा, अवराहपए उ वज्जेज्जा ” ॥ १ ॥

द्रव्यक्रियां कुर्वन्, न श्रमणः, एवं चैतदाह—

वत्थगधमलंकारं इत्थीओ सयणाणि अ ।

अच्छंदा जे न भुंजंति न से चाइत्ति वुच्चइ ॥ २ ॥

छा० वस्त्रगन्धाऽलङ्कारं स्त्रियः शयनानि च ।

अच्छन्दा ये न भुञ्जते न स त्यागीत्युच्यन्ते ॥ २ ॥

॥ ८ ॥

‘वत्थ’०—वस्त्राणि चीनांशुकादीनि, गन्धाः कोट्युटादयः, अलङ्काराः कटकादयः, [अनुस्वारोऽलाक्ष-
णिकः] सियोऽनेकप्रकाराः, शयनानि पर्यङ्कादीनि, ‘च’ शब्द आसनाद्यनुक्तसमुच्चयार्थः, एतानि वस्त्रादीनि
किम्? अच्छन्दा अस्ववशा ये केचन न भुञ्जते नासेवन्ते [किं बहुवचनोद्देशेऽप्येकवचननिर्देशः? विचित्रत्वात्सूत्रगतेर्वि-
पर्ययश्च भवत्येवेति कृत्वा] आह—नासौ त्यागीत्युच्यते, सुबन्धुवन्नासौ श्रमणः, कः पुनः सुबन्धुः? इत्यत्र कथानकम्—

“जदा णंदो चंदगुत्तेण निच्छूढो, तया तस्स दारेण निगच्छंतस्स दुहिआ चंदउत्ते दिट्ठिं बंधेइ, एअं
अक्खाणयं जहा आवत्सए, जाव बिंदुसारो राया जाओ । णंदसंतिओ अ सुबंधू णाम अमच्चो, सो चाणक्कस्स पदो-
समावण्णो, छिदाणि मग्गति, अण्णया राआणं विण्णवेइ—जतिवि तुम्हे अम्हं वित्तं न वेह तहावि अम्हेहिं तुम्ह हितं
वत्तच्चं, भणइ य—तुम्हं माया चाणक्केण मारिआ, रण्णा घाती पुच्छिया, आमंति, कारणं न पुच्छियं, केणवि कार-
णेणं रण्णो अ सगासं चाणक्को आगओ । जाहे दिट्ठिं न देति ताहे चाणक्को चिंतेति—‘रुढो एस राया, अहं गताउ’त्ति
काउं (ऊण) दब्बं पुत्तपउत्ताणं दाऊण, संगोवित्ता य, गंधा संजोइआ, पत्तयं च लिहिऊण सो वि जोगो समुग्गे
छूढो । समुग्गे अ चउसु मंजूरासु छूढो । तासु छुमिक्का पुणो गंधोवरए छूढो । तं बहुहिं कीलियाहिं सुघडियं करेत्ता-
दब्बजायं णातिवग्गं च धम्मे णियोइत्ता अडवीए गोकुलद्वारेण इंगिणीमरणं अब्भुवगओ । रण्णा य पुच्छियं—चाणक्को
किं करेइ? घाती य से सच्चं जहावत्तं परिकहेइ । गहिपपरमत्थेण य भणियं—अहो मया असमोक्खितं कतं । सव्वंते-
उर—जोह—बल—समग्गे खामेउं णिग्गओ । दिट्ठो य णेण करीसमज्झडिओ । खामियं सव्वहुमाणं, भणिओ अणेणं—णगरं
वच्चाओ, भणति—मए सव्वपरिच्चाओ कओत्ति, तओ सुबंधुणा राया विण्णविओ—अहं से पूअं करेमि, अणुजाणह,

दशवि०
॥ १० ॥

अणुण्णाए धूवं डहिऊण तंमि चेव एगप्पएसे करीसस्सोवरिं ते अंगारे परिडुवेइ । सो अ करीसो पलितो । दड्डो चाणक्को । ताहे सुबंधुणा राया विण्णविओ—चाणक्कस्स संतिअं घरं ममं अणुजाणह, अणुण्णाए गओ, घरं पच्चुविकखमाणेण दिट्ठो अपवरओ घट्ठिओ । सुबंधू चित्तेइ—किमवि इत्थत्थि, कवाडे भंजित्ता उग्घाडिओ, मंजूसं पासइ, सा वि उग्घा-
डिआ, जाव समुगं पासइ । मधमपंतगंधं सपत्तयं पेच्छइ, तं पत्तयं वाएइ, तस्स य पत्तयस्स एसत्थो—‘जो एअं चुण्णयं अग्घाइ, सो जइ ण्हाइ वा, समालभइ, अलंकारेइ, सीओदकं च पीअति, महतीए सिज्जाए सुवति, जाणेण गच्छति, गंधव्वं वा सुणेइ, एवमादि अन्ने वा इट्ठे विसए सेवेइ, जहा साहुणो अच्छंति तह सो जइ ण अच्छइ, तो मरइ’ । ताहे सुबंधुणा विण्णासणत्थं अन्नो पुरिसो अग्घाइत्ता सद्दाइणो विसए भुंजाविओ, मओ अ । तओ सुबंधू जीवियट्ठी अकामो साहू जहा अच्छंतो वि ण साहू ” ।

अध्य० २

एवमधिकृतसाधुरपि न साधुः, अतो न त्यागीत्युच्यते अभिधेयाऽर्थाऽभावात् ॥ २ ॥ यथा चोच्यते तपाभिधानुक्रम आह—

जे अ कंते पिए भोए लद्धे विप्पिट्ठिकुव्वइ ।

साहीणे चअइ भोए से हु चाइत्ति वुच्चइ ॥ ३ ॥

छा० यश्च कान्तान्प्रियान्भोगाँल्लब्धान् विपृष्टीकरोति ।

स्वाधीनस्त्यजति भोगान् स हि त्यागीत्युच्यते ॥ ३ ॥

॥ १० ॥

‘जे अ कते’ ०—‘च’ शब्दस्याऽवधारणार्थत्वात् य एव कान्तान् कमनीयानित्यर्थः, निजान् इष्टान्, इह कान्तमपि किञ्चित् कस्यचित् कुतश्चिन्निमित्ततरादपियं स्यात्, यथोक्तम्—“चउहिं ठाणेहिं सते गुणे नासेज्जा, तंजहां—रोसेणं, पडिनिवेसेणं, अकतण्णुताए, मिच्छत्तामिनिवेसेणं” । अतो विशेषणं—प्रियान् इष्टान् इति, भोगान् शब्दादीन्विषयान्, लब्धान् प्राप्तान्—उपनतान् इति यावत् । ‘विप्पिट्टिकुब्बइ’ ति विविधमनेकेः प्रकारैः शुभभावना-विभिः पृथतः करोति परित्यजतीत्यर्थः, न बन्धनबद्धः प्रोषितो वा किन्तु स्वार्थिनोऽपरायतः, स्वाधीनानेव त्यजति भोगान्, पुनस्त्यागग्रहणं प्रतिसमयं त्यागपरिणामवृद्धिसं सूचनार्थम्, भोगग्रहणन्तु सम्पूर्णभोगग्रहणार्थं त्यक्तोपनतभोग-संस्मरणार्थं वा । ततश्च य ईदृशो ‘हु’ शब्दस्याऽवधारणार्थत्वात्, स एव त्यागीत्युच्यते भरतादिवदिति । अत्राऽऽह—जदि भरहजंनुनामादिणो जे संपुण्णे संते भोगे परिच्चयंति ते परिच्चागिणो एवं ते भणंतस्स अयं दोसो भवति—“जे केइ अत्यसारहीणा दमगाइणो पव्वइऊण भावओ अहिंसादिगुणजुत्ते सामण्णे अच्भुज्जुआ ते कि अपरिच्चा-गिणो भवंति ?” आयरिओ आह—ते वि तिण्णि रयणकोडीओ परिच्चइऊण पव्वइआ—अग्नि, उदयं, महिलं, तिण्णि रयणाणि लोगसाराणि परिच्चइऊण पव्वइआ, दिट्ठंतो—“एगो पुरिसो सुहम्मसामिणो सगासे कट्ठहारओ पव्वइओ, सो भियंवं हिंउंतो लोएण भण्णति—एसो सो कट्ठहारओ पव्वइओ, सो सेहत्तेण आयरियं भणइ—मयं अण्णत्थ जेह, अहं ण सकेमि अहियासेत्तए, आयरिएहिं अभूओ आपुच्छिओ—वच्चाओत्ति, अभओ भणति—मासकप्पपाओगं खित्तं किं न एअं भवति, जेण अत्यक्के अण्णत्थ वच्चह ! आयरिएहिं भणितं, जहा—सेहाणिमित्तं, अभओ भणति—अच्छह वीसत्था, अहमेयं लोअं उवाएण निवारेमि, ठिओ आयरिओ । त्रितीए दिवसे तिण्णि रयणकोडीओ ठवियाओ,

उगधोत्ताविअं नयरे-जहा अभओ दाणं देति, लोगो आगतो, भणियं च णेण-तस्स अहं एआओ तिणिण कोडीओ देमि जो एआइं तिणिण परिहरइ-अग्गिं, पाणियं, महिलियं च, लोगो भणति-एतेहिं विणा किं सुवण्णकोडीहिं ? अभओ भणति-ता किं भणह दमउत्ति पव्वइओ, जो वि निरत्थओ पव्वइओ ? तेण वि तिणिण सुवण्णकोडीओ परिच्चत्ताओ, सच्चं सामि ! ठिओ लोगो पत्तिओ । तम्हा अत्थपरिहीणो वि संजमे ठिओ तिणिण लोगसाराणि अग्गिं, उदयं, महिलाओ य, परिच्चयंतो चाइत्ति लम्मइ ” ॥ ३ ॥ केनालम्बनेनेति ?-

संमाइ पेहाइ परिच्चयंतो
सिया मणो निस्सरइ बहिद्धा ॥
न सा महं नोवि अहं पि तीसे ।
इच्छेव ताओ विणइज्ज रागं ॥ ४ ॥

छा० समया प्रेक्षया परिव्रजतः ।
स्यान्मनो निस्सरति बहिः ॥

न सा मम नो अपि अहमपि तस्याः ।
इत्येवं तस्या विनयेद्रागम् ॥ ४ ॥

‘समाइ०’—तस्यैवं त्यागिनः समया आत्मपरतुल्यया प्रेक्षया—दृष्ट्या परिसमन्ताद्भ्रजतो गच्छतः परि-
भ्रजतो गुरूपदेशादिना संयमगेहेषु वर्तमानस्येत्यर्थः, स्यात्कदाचित् अचिन्त्यत्वात्कर्मगतेर्मनो निस्सरति—बहिर्धावति,
भुक्तभोगिनः पूर्वक्रीडितानुस्मरणादिना अभुक्तभोगिनश्च कुतूहलादिना मनोऽन्तःकरणं निस्सरति निर्गच्छति बहिर्द्धा
संयमगेहाद् बहिरित्यर्थः । एत्थ उदाहरणं, जहा—“ एगो रायपुत्तो बाहिरिआए उवढाणसालाए अभिरमंतो अच्छइ,
दासी अ तेण अतेण जलमरिअघडेण बोलेइ, तओ तेण तीए दासीए सो घडो गोलिआए भिण्णो, तं च अद्वितिं
करितिं दट्ठूण पुणरावत्ती जाया, वित्तिअं च—

जे चेव रक्खणा ते वि लोलगा, कत्थ कुविउं सक्का ? ।

उदगाओ समुज्जालिओ किह अणी विज्झवेअव्वो ॥ १ ॥

पुणो निक्खल्लगोलिआए तक्खणा एव लहुहत्थयाए तं घडच्छिडुं दक्कितं । एवं जइ संजयस्स संजमं
फरितस्स बहिआ मणो निग्गच्छति तत्थ पसत्थेण परिणामेण तं असुहसंरुप्पाछिडुं चरित्तजलरक्खणट्ठाए ढक्केअव्वं ” ।
फेनालम्बनेनेति ? यस्यां राग उत्पन्नः, तां प्रति चिन्तनीयम्—न सा मम नाऽप्यहं तस्याः, पृथक्कर्मफलभुजो हि
प्राणिनः, इत्येवं ततस्तस्याः सकाशाद्व्यपनयेद्रागम् । तत्त्वदर्शिनो हि सन्निवर्तन्त एव अतत्त्वदर्शिनो (शनि) निमि-
त्तत्वात्तस्येति तत्र—न सा महं नो वि अहं पि तीसेत्ति । एत्थ उदाहरणं—“ एगो वाणिअदारओ, सो जायं उज्झित्ता
पव्वइओ, सो अ ओहाणुप्पेहीभूओ, इमं च घोसेत्ति—ण सा महं णो वि अहं पि तीसे, सो चिंतेत्ति—सा वि मम अहं

वि तीसे, सा ममाणुरत्ता, कहमहं तं छडेहामिति काउं(ऊण)गहिआयारभंडगणेवत्थो चेव संपट्ठिओ । गओ अ
तं गामं जत्थ सा, निवाणतडं च संपतो, तत्थ य सा पुव्वजाया पाणियस्स आगता, सा अ साविआ जाया, पव्व-
इउकामा अ, ताए सो णाओ, इयरो तं न जाणति, तेण सा पुच्छिता-अमुगस्स धूआ, किं मया जीवइ वा ? सो
चित्ते-जइ सासधरा तो उप्पव्वयामि, इतरहा न, ताए णातं, जहा-एस पव्वज्जं पयहिउकामो तो दो वि संसारे
ममिस्सामोत्ति, भणियं च णाए-सा अण्णस्स दिण्णा, तओ सो चिंतिउमारद्धो-सच्चं भगवंतेहिं साहूहिं पाट्ठिओ, जहा-
ण सा महं णो वि अहं पि तीसे, परमसंवेगमावण्णो, भणियं च णेण-परिणिअत्तामि, तीए वेरगपट्ठिओत्ति णाऊण
अणुसासिओ-‘अणिच्चं जीविअं कामभोगा इत्तरिया,’ एवं तस्स केवल्लिण्णत्तं धम्मं परिकहेइ, अणुसिट्ठो जाणा-
विओ अ, पट्ठिओ आयरिअसगासं पव्वजाए थिरीभूओ । एवं अप्पा साहारेतव्वो जहा तेणांति ” ॥ ४ ॥ एवं ताव-
दान्तरो मनोनिग्रहविधिरुक्तः, न चायं बाह्यमन्तरेण कर्तुं शक्यते, अतस्तद्विधानार्थमाह--

आयावयाही चय सोगमल्लं ।
कामे कमाही कामिअं खु दुक्खं ॥
छिंदाहि दोसं विणइज्ज रागं ।
एवं सुही होहिति संपराए ॥ ५ ॥
उ० आतापय त्यज सौकुमार्यम् ।
कामान् काम कान्तं खलु दुःसम् ॥

छिन्धि द्वेषं विनयेद्वागम् ।

एवं सुखी भविष्यसि सम्पराये ॥ ५ ॥

‘आयाव०’-संयमोहान्मनसोऽनिर्गमार्थम् आतापय-आतापनां कुरु । [एकग्रहणे तज्जातीयग्रहण-
मिति न्यायात्] यथानुरूपम् ऊनोदरतादेरपि विधिः, अनेनात्मसमुत्थदोषपरिहारमाह, तथा त्यज सौकुमार्यम्,
अनेन तूभयसमुत्थदोषपरिहारम्, तथाहि सौकुमार्यात् कामेच्छा प्रवर्तते, योपितां च प्रार्थनीयो भवति । एवमुभयासे-
वनेन कामान्-प्राङ्निरूपितस्वरूपान् क्राम-उल्लंघय, यतस्तैः क्रान्तेः क्रान्तमेव दुःखं भवतीति शेषः । काम-
निबन्धनत्वादुःखस्य, ‘खु’ शब्दोऽवधारणे, अथाऽऽन्तरकामक्रमणमाह-छिन्धि द्वेषम् व्यपनय रागम् सम्यग्ज्ञानवलेन
विपाकालोचनादिना, क्व ? कामेष्विति गम्यते, शब्दादयो हि विषया एव कामा इति कृत्वा । एवं कृते फलमाह-
एवमनेन प्रकारेण प्रवर्तमानः, किम् ? सुखमस्यातीति सुखी भविष्यसि, क्व ? सम्पराये संसारे यावदपवर्गं न प्राप्स्यसि
तावत्सुखी भविष्यसि, सम्पराये-परीपहोपसर्गसङ्ग्रामे इत्यन्ये ॥ ५ ॥ किञ्च संयमोहान्मनस एवाऽनिर्गमार्थमिदं
विन्तयेत्, यदुत—

पक्खंदे जलिअं जोइं धूमकेउं दुरासयं ।

निच्छंति वंतयं भुत्तुं कुले जाया अगंधणे ॥ ६ ॥

छा० प्रस्कन्दन्ति ज्वलितं ज्योतिषं धूमकेतुं दुरा(सदं)श्रयम् ।

नेच्छन्ति वान्तं भोक्तुं कुले जाता अगन्धने ॥ ६ ॥

अध्य० २

॥ ६५ ॥

‘पक्खंदे०’-प्रस्कन्दन्ति-अध्यवस्यन्ति ज्वलितं ज्वालामालाकुलं न मुर्मुरादिरूपं, कम? ज्योतिषम्-अग्निं, धूमकेतुं-धूमध्वजं, नौल्कादिरूपं, दुरासदं-दुरभिमवमित्यर्थः, ‘च’ शब्दलोपान्नचेच्छन्ति वान्तं भोक्तुं विषमिति गम्यते, के? नागा इति गम्यत एव, किंविशिष्टा इत्याह-कुले समुत्पन्ना अगन्धने, नागानां हि भेदद्वयम्-गन्धनाः, अगन्धनाश्च “तस्य गंधणा णाम जे ढसिए मंतेहिं आगड्डिआ तं विसं वणमुहाओ आवियंति, अगंधणा उण ते अवि मरणमज्झवसंति ण य वंतमावियंति” । उदाहरणं-“एणेण परिहिंढंतेण नगरे रायपुत्तो सप्पेण खइओ, आहि-तुंडण्ण य विज्जाए सव्वे सप्पा आवाहिआ, मंडले पवेसिता, मणिआ य णेण-जेण पुण रायपुत्तो खइओ सो अच्छउ, सव्वे गता, एणो डिओ, सो भणितो-अहवा विसं आविअह अहवा एत्थ अग्निग्ग्मि णिवडाहि, सो अ अगंधणो, ताहे सो अग्निग्ग्मि पविट्ठो ण य तेण तं वंतयं पच्चाइअं” । उपसंहारस्तु एवं भावनीयः-“यदि तावत्तिर्यञ्चोऽप्यति-मानमात्रादपि जीवितं परित्यजन्ति न च वान्तं भुज्जते तत्कथमहं जिनवचनविज्ञोऽपि विपाकदारुणान् विषयान् वान्तान् भोक्ष्ये इति” । अस्मिन्नेवार्थे द्वितीयमुदाहरणं-“जदा किल अरिट्ठेमी पव्वइओ तथा रहनेमी तस्स जिहमाउओ रायमतिं उवयरइ, नदि णाम एसा ममं इच्छिज्जा । सा वि भगवती निब्बिण्णकामभोगा, णायं च तीए जहा एसो ममं अज्झोववण्णो । अण्णया अ तीए महुघयसंजुत्ता पिज्जा पीआ, रहणेमी आगओ, मदनफलं मुहे काऊण य तीए वंतं, मणियं च-एयं पिज्जं पिआहि, तेण भणिअं-कहं वंतं पिज्जइ? तीए भणिओ-जइ ण पिज्जइ वंतं ततो अहं पि अरिट्ठेमिसामिणा वंता कहं पिबिउमिच्छसि?” ॥ ६ ॥ तथाहि अधिकृतार्थसंवाद्येवाह-

धिरत्थु ते जसोकामी जो तं जीविअकारणा ।
वंतं इच्छसि आवेउं सेअं ते मरणं भवे ॥ ७ ॥

अध्य० २

छा० धिगस्तु ते यशस्कामिन् ! यस्त्वं जीवितकारणात् ।
वान्तमिच्छस्यापातुं श्रेयस्ते मरणं भवेत् ॥ ७ ॥

‘धिरत्थु०’—तत्र राजीमती किलेवमुक्तवती—‘धिगस्तु’ धिक् शब्दः कुत्सायाम्, अस्तु-भवतु ते-तव पौरुष-मिति गम्यते, हे यशस्कामिन् ! इति सासूयं क्षत्रियामन्त्रणम्, अथवा अकारप्रश्लेषादयशस्कामिन् ! धिगस्तु तव यस्त्वं जीवितकारणात्—असंयमजीवितहेतोर्वान्तमिच्छस्यापातुम्, परित्यक्तां भगवताऽभिलपसि भोक्तुम्, अत उत्क्रान्त-मर्यादस्य श्रेयस्ते मरणं भवेत्, शोभनतरं ते मरणम्, न पुनरिदमकार्याऽऽसेवनम् इति । “ ततो से धम्मो कहिओ, संबुद्धो, पब्बइओ य, रायमती वि तं बोहिऊण पब्बइआ । पच्छाअण्णया कयाइ सो रहनेमी बारवतीए भिक्खं हिंडिऊण सामिसणासमागच्छंनो वासवदलएण अच्चाहओ, एकं गुहं अणुप्पविट्ठो, रायमती वि सामिणो वंदणाए गता वंदित्ता पडिसमागच्छइ, अंतरे अ वरिसिउमाढत्तो, भिण्णा यं तमेव गुहमणुप्पविट्ठा जत्थ सो रहनेमी, वत्थाणि अ पविसारिआणि, ताहे तीए अंगपचंगं दिट्ठं, सो रहनेमी तीए अग्गोववण्णो, दिट्ठो अणाए इंगितामारकुसलाए, णाओ असोभगो भावो एअस्स ” ॥ ७ ॥ ततोऽसाविदमवोचत्—

॥ १७ ॥

अहं च भोगरायस्स तं च सि अंधगवण्हणो ।
मा कुले गंधणा होमो संजमं निहुओ चर ॥ ८ ॥
छा० अहं च भोगराजस्य त्वं चासि अन्धकवृष्णेः ।
मा कुले गन्धनौ भूव, संयमं निभृतश्चर ॥ ८ ॥

अध्य० २

‘अहं च०’ अहञ्च भोगराजः (भोगराजस्य) — उग्रसेनस्य दुहितेति गम्यते, त्वं च भवसि अन्ध-
कवृष्णेः समुद्रविजयस्य सुत इति गम्यते, अतो मा एकैरुपधाने कुले आवां गन्धनौ भूव, ‘जहण्ण सप्पतुल्ला होमुत्ति
मणियं होति,’ अतः संयमं निभृतश्चर — सर्वदुःखनिवारणं क्रियाकलापमव्याप्तिः कुर्विति ॥ ८ ॥

जइ तं काहिसि भावं जा जा दिच्छसि नारीओ ।
वायाविन्दुव हडो, अट्ठिअप्पा भविस्ससि ॥ ९ ॥
छा० यदि त्वं करिष्यसि भावं या या द्रक्ष्यसि नारीः ।
वाताविन्द्वो व हडः, अस्थितात्मा भविष्यसि ॥ ९ ॥

‘जइ तं०’ — यदि त्वं करिष्यसि भावमभिप्रायं, प्रार्थनामिति, क्व ? या या द्रक्ष्यसि नारीः — स्त्रियः,
तासु तासु एताः शोभना एताश्चाशोभनाः, अतः सेवे-कामयापीत्येवम्भूतं भावं यदि करिष्यसि, ततो वाताविद्ध इव

॥ १८ ॥

दृष्टः (दृष्टः) — गतमेवित इति वदन्मूलो वनस्पतिविशेषः, अस्थितात्मा भविष्यति — सकलदुःखक्षयनिबन्धनेषु संयमगुणे-
पवनदमूतत्वात् संसारमारे प्रमादपवनमेवित इति श्रेतश्च पर्यट्टिष्यति — इति ॥ ९ ॥

अध्य० २

तीसे सो वयणं सुचा संजयाइ सुभासिअं ।

अंकुसेण जहा नागो धम्मे संपडिवाइओ ॥ १० ॥

उ० तस्याः स वचनं श्रुत्वा संयतायाः सुमापितम् ।

अङ्कुशेन यथा नागः, धर्मे सम्प्रतिपादितः ॥ १० ॥

तीसे सो० — तस्या राज्ञीमत्याः, अश्वे-रथनेभिर्वचनमनन्तरोदितं श्रुत्वा, किंविशिष्टायाः ? संयत्याः (तायाः) —
प्रयजिताया इत्यर्थः, किंविशिष्टं वचनम् ? सुमापितं — संवेमनिबन्धनम्, अङ्कुशेन यथा नागो — हस्ती एवं धर्मे सम्प्रति-
पादितः — संस्थापित इत्यर्थः, केन ? अङ्कुशतुल्येन वचनाङ्कुशेन, 'जहा नागोति' एतत् उदाहरणं — "वसंतपुरं नयरं,
इत्थ एता इत्यन्तुआ नदीए ण्हाति, अण्णो अ तरुणो तं दट्ठण भणति —

॥ ११ ॥

सुण्हायं ते पुच्छइ — एता नदी पवरसोहिअतरंगा ।

एता अ नदीरुक्खा अहं च पाएसु ते पडिओ ॥ १ ॥

ताहे सा पडिभणइ—

सुहया होउ णवी ते, चिरं च जीवंतु जे नदीरुक्खा ।

सुण्हाय पुच्छयाणं घत्तीहामो पिअं काउं ॥ २ ॥

अध्य० २

सो अ तीसे घरं वा दारं वा ण जाणति, तीसे अ वित्तिजयाणि चेडरूवाणि रुक्खे पलोअंताणि अच्छंति, तेण ताणं पुण्णफलाणि सुबहूणि दिण्णाणि, पुच्छियाणि अ—रु एसा? ताणि भणंति—अमुगस्स सुण्हा, सो अ तीए विरहं न सहति, तओ परिव्वाइअं ओलगिउमादत्तो, भिक्खा दिण्णा, सा तुद्धा भणति—किं करेमि ओलग्गाए फलं? तेण भणिआ—अमुगस्स सुण्हं ममरुए भणाहि, तीए गंतूण भणिता—अमुगो ते एवंगुणजाइओ पुच्छइ, ताए रुद्धाए पउ-ल्लगाणि धोवंतीए मसिलित्तएण हत्थेण पिढीए आहया, पंचंगुलिअं उट्ठिअं, अवदारेण निच्छूदा, गता तस्स साहति—णामं पि सा तव ण सुणेति, तेण णायं कालपंचमीए अवदारेण अइगंतव्वं, अतिगतो अ, असोगवणिआए मिलिआणि, सुत्ताणि य, जाव पस्सवणागतेण ससुरेण दिट्ठाणि, तेण णायं—न एत मम पुत्तो, पारदारिओ कोइ, पच्छा पायाओ तेण नेउरं गहिअं, चेइअं च तीए, सो भणिओ—णास लहुं, आवतिकाले साहिज्जं करिज्जासि, इअरी गंतूण भत्तारं भणइ—एत्थ घम्मो, असोअवणिअं वच्चामो, गंतूण सुत्ताणि, खणमेत्तं सुविऊण भत्तारं उट्ठवेति, भणइ अ—एअं तुज्झ कुलाणुस्सवं, जेण मम पायाओ ससुरो नेउरं कट्ठेति? सो भणति—सुवसु, पभाए लब्धिहिति, पभाए थेरेण सिट्ठं, सो रुद्धो भणति—विदरीओ थेरोत्ति, थेरो भणति—मए दिट्ठो अण्णो पुरिसो, विवाए जाए सा भणइ—अहं अप्पाणं सोहयामि?

॥ २० ॥

तओ सरिरं जोइअं, जाव संकलापहारो दिट्ठो, तओ परुट्ठेण रण्णा देवी, मिठो, हत्थी य तिण्णिवि
छिण्णकडए, चडावितानि, मणिओ अ मिठो—एत्थं वाहेहि हत्थि, दोहि य पासेहिं वेलुग्गाहा ठविया जाव एगो पाओ
आगासे ठविओ, जणो भणति—किं एस तिरिओ जाणति ? एआणि मारियव्वाणि, तहावि राया रोसेणं ण मुंचति,
तओ तिण्णि पादा आगासे कता, एगेणट्ठिओ, लोएण आकंदो कतो—किमेयं हत्थिरयणं विणासिज्जति ? रण्णा
मिठो मणिओ—तरसि णिअत्तिउं ? भणति—जदि दुअमाणं वि अभयं देसि, दिण्णं, तओ तेण अंकुसेण णियट्ठिओ
हत्थि ॥ १० ॥

एवं करंति संबुद्धा पण्डिता पविअक्खणा ।

विणिअट्ठंति भोगेसु जहा से पुरिसोत्तमो ॥ ११ ॥ त्ति वेमि ।

अ० एवं कुर्वन्ति सम्बुद्धाः पण्डिताः प्रविचक्षणाः ।

विनिवर्तन्ते भोगेभ्यः, यथा स पुरुषोत्तमः ॥ ११ ॥ इति ब्रवीमि ।

‘ एवं करंति० ’—एवं कुर्वन्ति संबुद्धा बुद्धिमन्तो बुद्धाः सम्यग्दर्शनसाहचर्येण दर्शनैकीभावेन वा बुद्धाः
सम्बुद्धा विदितविषयस्वभावाः सम्यग्दृष्टय इत्यर्थः, त एव विशिष्यन्ते—‘ पण्डिताः प्रविचक्षणाः, तत्र पण्डिता
दर्शनपरिणामवन्तः प्रविचक्षणाश्रयणपरिणामवन्तः ’ । अन्ये तु व्याचक्षते—सम्बुद्धाः सामान्येन बुद्धिमन्तः पण्डिता
वान्तभोगाऽऽसेवनदोषज्ञाः प्रविचक्षणा अवयभीरव इति, किं कुर्वन्ति ? विनिवर्तन्ते भोगेभ्यो यथा, क इत्यत्र आह—

यथासी पुरुषोत्तमः—रथनेमिः, आह कथं तस्य पुरुषोत्तमत्वं यो हि प्रवर्जितोऽपि विषयाभिलाषीत्युच्यते ? तथाभि-
लाषेऽप्यप्रवृत्तेः, कापुरुषस्त्वभिलाषाऽनुरूपं चेष्टत एवेति । अपरस्त्वाह—दशवैकालिकं नियतश्रुतमेव यत उक्तम्—

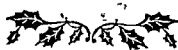
“ णायज्ज्ञयणा हरणा इसिभासिअ मो पइण्णय सुआ य ।

ते हुंति चाणियता णिअयं पुण सेसमुस्सण्णं ” ॥ १ ॥

तत्कथमभिनवोत्पन्नमिदमुदाहरणं युज्यते ? इत्युच्यते—एवम्भूतार्थस्यैव नियतसूत्रेऽपि भावात्, दुस्सहग्रह-
णाच्चादोषः, प्रायो नियतं न तु सर्वथा नियतमेवेत्यर्थः, ब्रवीमि इति न स्वमनीषिकया किन्तु तीर्थकरगणधरो-
पदेशेनेति ॥ ११ ॥ दशवैकालिकश्रुतस्कन्धे द्वितीयं श्रामण्यपूर्विकाध्ययनं व्याख्यातम् ।

॥ सामण्यपुब्बिअज्ज्ञयणं विईअं ॥

॥ श्रामण्यपूर्विकाध्ययनं द्वितीयम् ॥



अध्य० २

॥ २३ ॥

॥ तृतीयाध्ययनम् ॥

—०००—

दशवि०
॥ २४ ॥

व्याख्यातं आमण्यपूर्विकाध्ययनम्, इदानीं तु क्षुल्लिकाचारकथास्यमारभ्यते । अस्य चाद्यमभिसम्बन्धः—
इहानन्तराध्ययने धर्माभ्युपगमे सति सा भूदभिनवप्रवृजितस्याधृतेः संमोह इत्यतो धृतिमता भवितव्यमित्युक्तम्, इह तु
सा धृतिराचारे कार्या, न त्वनाचारे कार्या, अयमेवात्मसंयमोपाय इत्येतदुच्यते, उक्तं च—

“तस्यात्मा संयतो यो हि सदाचारे स्तः सदा ।

त एव धृतिमान् धर्मस्तस्यैव हि जिनोदितः” ॥ १ ॥

इत्यनेन सम्बन्धेनायातमिदमध्ययनमिति ।

संजमे सुद्विअप्पाणं विप्पमुक्काण त्ताइणं ।

तेसिमेयमणाइणं निग्गंथाणं महेसिणं ॥ १ ॥

छा० संयमे सुस्थितात्मनां विप्रमुक्तानां त्रायिणाम् ।

तेषामेतदनाचीर्णं निर्धन्थानां महर्षीणाम् ॥ १ ॥

‘संजमे०’—संयमे माङ्गिस्वपितस्वरूपे शोभनेन प्रकारेण आगमनीत्या स्थित आत्मा येषां ते तथा, तेषाम्,
त एव विशिष्यन्ते—विविधमनेकप्रकारैः प्रकर्षेण भावसारं मुक्ता बाह्याभ्यन्तरेण ग्रन्थेन इति विप्रमुक्तास्तेषां, त एव

अध्य० ३

॥ २४ ॥

वि०—त्रायन्ते आत्मानं परमुभयश्चेति ज्ञातारः, आत्मानं प्रत्येकबुद्धाः, परं तीर्थकराः, स्वतस्तीर्णत्वादुभयं स्थविरा इति । तेषामिदं वक्ष्यमाणलक्षणम्, अनाचरितम्—अकल्पम्, केषाम् ? इत्याह—निर्ग्रन्थानां—साधूनाम्, इत्यभिधानमेतत्, महान्तश्च ते ऋषयश्च महर्षयः, यतय इत्यर्थः । तेषामिह च पूर्वपूर्वभाव एवोत्तरोत्तरभावो नियतो हेतुहेतुमद्भावेन वेदितव्यः, यत एव संयमे सुस्थितात्मानः, अत एव विप्रमुक्ताः, संयमसुस्थिताऽत्मनिबन्धनत्वाद्विप्रमुक्तेः, एवं शेषेष्वपि भावनीयम्, अन्येतु पश्चानुपूर्व्यां हेतुहेतुमद्भावमित्थं वर्णयन्ति—यत एवं महर्षयः, अत एव निर्ग्रन्थाः, एवं शेषेष्वपि द्रष्टव्यम् इति ॥ १ ॥ साम्प्रतं यदनाचरितं तदाह—

उद्देशिअं कीअगळं निआगमभिहडाणि अ ।

राइभक्ते सिणाणे अ गंधमल्ले अ वीअणे ॥ २ ॥

छा० औद्देशिकं क्रीतकृतं, नियोगिकमभ्याहृतानि च ।

रात्रिभक्तं स्नानं च, गन्धमालये च वीजनम् ॥ २ ॥

‘उद्देशिअं०’—साध्वाद्याश्रित्य—दानारम्भस्येत्युद्देशः, तत्रभवमौद्देशिकम् । क्रयणं क्रीतं [भावे क्तः प्र०, साध्वादिनिमित्तमिति गम्यते] तेन कृतं क्रीतकृतम्, ‘निआग’मिति—आमन्त्रितस्य पिण्डस्य ग्रहणं नित्यं नत्वनामन्त्रितस्य, ‘अभिहडाणि’ति स्वग्रामादेः साधुनिमित्तमभिमुखमानीतमभ्याहृतम् [बहुवचनं स्वपरग्रामनिशीथादिभेद-ल्यापनार्थम्] तथा रात्रिभोजनं दिवसगृहीतदिवसभक्तादिचतुर्भङ्गिलक्षणम्, देशस्नानम्—अभिष्ठानशौचातिरेकेण अक्षि-

एस्मप्रक्षालनं, सर्वस्नानं प्रकीर्तम्, तथा गन्धपात्ये बीजनं च गन्धग्रहणात्कोष्ठपुटाविपरिग्रहः, माल्यग्रहणाच्च ग्रथित-
वेष्टिमादेर्मात्यस्य, बीजनं तालवृन्तादिना घर्मे, इदमनाचरितम्, दोषाश्चौद्देशिकादिषु आरम्भाप्रवर्तनादयः स्वधिया
वाच्याः ॥ २ ॥

अध्य० ३

संनिही गिहिमत्ते अ रायपिंडे किमिच्छए ।

संवाहणा दंतपहोअणा य संपुच्छणा देहपलोअणा य ॥ ३ ॥

सन्निधिर्गृहिमात्रं च राजपिण्डः किमिच्छकः ।

सम्वाधनं दन्तप्रधावनं च सम्प्रश्नः (सम्प्रच्छना) देहप्रलोकनं च ॥ ३ ॥

‘संनिही०’—सन्निधीयतेऽनया दुर्गतावात्येति सन्निधिः—घृतगुडादीनां सञ्चप्रक्रिया, गृहिमात्रं च गृहस्थभाजनं
च, तथा च राजपिण्डो नृपाऽऽहारः, कः किमिच्छतीत्येवं यो दीयते स किमिच्छकः, तथा सम्वाधनम्—अस्थिमांसत्व-
ग्रोमसुखतया चतुर्विधमर्दनम्, दन्तप्रधावनं च अङ्गुल्यादिना क्षालनम्, तथा सम्प्रश्नः—सावद्यो गृहस्थविषयः, रादार्थं
कीदृशो वाऽहमित्यादिरूपः, देहप्रलोकनं च आदर्शादौ, दोषाश्च सन्निधिप्रभृतिषु परिग्रहमाणातिपातादयः स्वधिया
वाच्याः ॥ ३ ॥

॥ २६ ॥

अद्यावए अ नालीए छत्तस्स य धारणद्वाए ।

तेगिच्छं पाणहा पाए समारंभं च जोइणो ॥ ४ ॥

छा० अष्टापदं च नालिका, छत्रस्य च धारणमनर्थाय ।

चैकित्स्यमुपानहौ पादयोः, समारम्भश्च ज्योतिषः ॥ ४ ॥

अध्य० ३

वरादि०
॥ २७ ॥

‘अष्टापदं’—अष्टापदं च इति अष्टापदं द्यूतम्, अर्थपदं वा गृहस्थमधिकृत्य नीत्यादिविषयम्, तथा नालिका चेति द्यूतविशेषलक्षणा यत्र मा भूत् कलयाऽन्यथा पाशापातनमिति नालिकया पात्यते इति, अष्टापदेन सामान्यतो द्यूतग्रहणे सत्यपि अभिनिवेशनिबन्धनत्वेन नालिकायाः प्राधान्यख्यापनार्थम् भेदेनोपादानम्, अर्थपदमेवोक्तं तदित्यन्येऽभिदधाति, अस्मिन्पक्षे सकलद्यूतोपलक्षणार्थं नालिकाग्रहणम् अष्टापदद्यूतविशेषपक्षे चोभयोरिति, तथा छत्रस्य च लोकप्रसिद्धस्य धारणम्, आत्मानं परञ्च प्रत्यनर्थाय इति, आगाढगलानाद्यालम्बनं मुक्त्वा अनाचरितम् [प्राकृत-शैल्यात्र अनुस्वारलोपः, अकारनकारलोपौ च द्रष्टव्यौ, तथा च श्रुतिप्रामाण्यादिति] तथा नेच्छन्ति चिकित्साया भावश्चैकित्स्यम्, उपानहौ पादयोरिति सामिप्रायकं न त्वापत्कल्पपरिहारार्थमुपग्रहधारणेन, तथा समारम्भणं च ज्योतिषोऽग्नेः, दोषा अष्टापदादीनां क्षुण्णा एवेति ॥ ४ ॥

सिज्जायरपिंडं च आसंदी पलिअंकए ।

गिहंतरनिसिज्जा य गायस्सुच्चट्टणाणि अ ॥ ५ ॥

छा० शय्यातरपिण्डश्च आसन्दीपर्यङ्कौ ।

गृहान्तरनिपट्या च गात्रस्योद्वर्तनानि च ॥ ५ ॥

॥ २७ ॥

‘सिञ्जायर०’-शय्यातरपिण्डः-शय्या-वसतिः, तथा तरति संसारमिति शय्यातरः-साधुवसतिदाता तत्पिण्डः, तथा आसन्दकपर्यङ्कौ-आसन्दको मञ्चकः, पर्यङ्कः पल्यङ्कः, तथा गृहान्तरनिषद्या च-गृहमेव गृहान्तरम् गृहयोर्वाऽपान्तरालं तत्रोपवेशनं, ‘च’ शब्दात् पाठकादिग्रहः, तथा गात्रस्य-कायस्योद्धर्तनानि च, उद्धर्तनानि-पङ्का-पनयनलक्षणानि, ‘च’ शब्दादन्यसंस्कारपरिग्रहः ॥ ५ ॥

गिहिणो वेआवडिअं जा य आजीववत्तिता ।

तत्तानिब्वुडभोइत्तं आउरस्सरणाणि अ ॥ ६ ॥

छा० गृहिणो वैयावृत्यं, या च आजीववृत्तिता ।

तप्ताऽनिर्वृतभोजित्वम्, आतुरस्मरणानि च ॥ ६ ॥

‘गिहिणो०’-गृहिणो-गृहस्थस्य वैयावृत्यमिति व्यावृत(स्य)भावो वैयावृत्यं गृहस्थं प्रति अन्नादिसम्पादनमित्यर्थः, तथा या चाऽऽजीववृत्तिता-जातिकुलगणकर्मशिल्पानामाजीवनमाजीवः, तेन वृत्तिस्तद्भाव आजीववृत्तिता, जात्याद्याजीवनेन आत्मपालनेत्यर्थः, इयञ्च अनाचरिता, तथा तप्ताऽनिर्वृतभोजित्वं तप्तञ्च तदनिर्वृतञ्च अत्रिदण्डोद्धृतं चेति विग्रहः, उदकमिति विशेषणान्यथानुपपत्त्या गम्यते, तद्भोजित्वं मिश्रसचित्तोदकभोजित्वम् इत्यर्थः, तथा आतुरस्मरणानि च क्षुधाद्यातुराणां पूर्वोपभुक्तस्मरणानि च, आतुरशरणानि च दोषातुराश्रयदानानीति ॥ ६ ॥

मूलए सिंगवेरे अ इ(उ) च्छुखंडे अनिबुडे ।

कंदे मूले अ सचित्ते फले बीए अ आमए ॥ ७ ॥

छा० मूलकः शृङ्गवेरं च इक्षुखण्डमनिर्वृतम् ।

कन्दो मूलं च सचित्तं फलं बीजं चामकम् ॥ ७ ॥

‘मूलए०’—मूलको लोकप्रतीतः, शृङ्गवेरं चार्द्रकञ्च, तथेक्षुखण्डं च लोकप्रतीतम्, अनिर्वृतग्रहणं सर्वत्राभिसं-
बध्यते। अनिर्वृतम् अपरिणतम्, इक्षुखण्डं वाऽपरिणतं द्विपर्वान्तं यद्वर्तते, तथा कन्दः—वज्रकन्दादि, मूलञ्च सट्टामूलादि,
सचित्तं, तथा फलं च त्रपुपादि, बीजञ्च तिलादि, आमकं—सचित्तम् ॥ ७ ॥

सोवच्चले सिंधवे लोणे रु(रो)मालोणे अ आमए ।

सामुदे पंसुखारे अ कालालोणे अ आमए ॥ ८ ॥

छा० सौवर्चलं सैन्धवं लवणं रुमालवणं चामकम् ।

सामुद्रं पांशुक्षारश्च कृष्णलवणं चामकम् ॥ ८ ॥

‘सोवच्चले०’—सौवर्चलम्, सैन्धवम्, लवणञ्च—साम्भरिलवणं, रुमालवणं च, आमकमिति सचित्तम्, सामुद्रं
समुद्रलवणमेव, पांशुक्षारश्चोपरलवणं, कृष्णलवणञ्च, सैन्धवलवणं पर्वतैकदेशजम् ॥ ८ ॥

धूवाणित्ति वमणे अ वत्थीकम्म विरेयणे ।

अंजणे दंतवणे अ गायढ्मंगविभूषणे ॥ ९ ॥

छा० धूपनमिति वमनं च वस्तिकर्म विरेचनम् ।

अञ्जनं दन्तवनं(काष्ठं) च गात्राभ्यङ्गाविभूषणे ॥ ९ ॥

अध्या० ३

‘धूवाणित्ति०’-धूपनमित्यात्मवस्त्रादेः, अनागतव्याधिनिवृत्तये, धूम्रपानमित्यन्ये व्याचक्षते, वमनं-मदनफलादिना, वस्तिकर्म-पुटकेनापिष्ठाने स्नेहदानम्, विरेचनं दन्त्यादिना, तथाञ्जनं रसाञ्जनादिना, वन्तकाष्ठं च प्रतीतम्, तथा गात्राभ्यङ्गस्तेलादिना, विभूषणं गात्राणामेवेति ॥ ९ ॥ क्रियासूत्रमाह—

सव्वमेअमणाइण्णं निग्गंथाण महेसिणं ।

संजमंमि अ जुत्ताणं लहुभूअविहारिणं ॥ १० ॥

छा० सर्वमेतदनाचीर्णं निर्यन्थानां महर्षीणाम् ।

संयमे च युक्तानां लघुभूतविहारिणाम् ॥ १० ॥

‘सव्वमेअं०’-सर्वमेतदीदेशिकादि यवनन्तरमुक्तम् तदनाचरितम्, केपाम्? इत्याह-निर्यन्थानां महर्षीणां साधूनामित्यर्थः, त एव विशेष्यन्ते-संयमे ‘च’ शब्दात्तपसि युक्तानां लघुभूतविहारिणां-लघुभूतो वायुः,

॥ ३० ॥

ततश्च पापुभूतोऽप्रतिबद्धतया विहारो येषां ते लघुभूतविहारिणः, तेषां, किमित्यनाचरितम् ॥ १० ॥ यतस्त एवम्भूता भवन्ति, इत्यत आह—

पञ्चासवपरिणया तिगुत्ता छसु संजया ।

पञ्चनिग्गहणा धीरा निग्गन्था उज्जुदंसिणो ॥ ११ ॥

छा० पञ्चासवपरिज्ञातास्त्रिगुप्ताः पट्सु संयताः ।

पञ्चनिग्रहणा धीरा निर्ग्रन्था ऋजुदर्शिनः ॥ ११ ॥

‘पञ्चासव०’—पञ्चासवा—हिसादयः, परिज्ञाता द्विविधया परिज्ञया स्मरिज्ञया प्रत्याख्यान—परिज्ञया च परिसमन्ताद् ज्ञाता यैस्ते पञ्चासवपरिज्ञाताः [आहिताग्न्यादेराकृतिगणत्वात् न कतस्य पूर्वनिपातः, प्रादिसमासो युक्त एव] परिज्ञातपञ्चासवा इति वा, यत एव च एवम्भूता अत एव त्रिगुप्तिभिः—मनोवाक्कायगुप्तिभिः (गुप्ताः), पट्संयताः, ‘पञ्चनिग्गहणा’ इति पञ्चानां निग्रहणाः पञ्चनिग्रहणाः पञ्चानामिन्द्रियाणाम्, धीरा—बुद्धिमन्तः स्थिरा वा, निर्ग्रन्थाः—साधवः, ऋजुदर्शिन इति ऋजुर्मोक्षं प्रति ऋजुत्वात्संयमः, तं पश्यन्ति उपादेयतया इति ऋजुदर्शिनः संयमप्रतिबद्धा इति ॥ ११ ॥

आयापयन्ति गिम्हेसु हेमन्तेसु अवाउडा ।

वासासु पडिसंलीणा संजया सुसमाहिआ ॥ १२ ॥

१ लघुभूतविहार इति भाव्यं, तथापि प्राच्यत्वान्मूलं न परिवर्तितम् ।

अध्य० ३

॥ ३१ ॥

छा० आतापयन्ति ग्रीष्मेषु हेमन्तेष्वप्रावृताः ।

- वर्षासु प्रतिसंलीनाः संयताः सुसमाहिताः ॥ १२ ॥

अध्या० ३

‘आयावयंति०’—आतापयन्त्यूर्ध्वस्थानादिना उष्णकाले, तथा हेमन्तेषु अप्रावृताः प्रावरणरहितास्तिष्ठन्ति, वर्षासु प्रतिसंलीना इति एकाश्रयस्था भवन्ति, संयताः सुसमाहिता ज्ञानादिषु यत्नपराः [ग्रीष्मादिषु बहुवचनं प्रतिवर्षकरणज्ञापनार्थम्] ॥ १२ ॥

परीसहरिऊदन्ता धुतमोहा जिह्दिआ ।

सर्वदुःखप्रहाणां पक्कमंति महेसिणो ॥ १३ ॥

छा० परीपहरिपुदान्ता धुतमोहा जितेन्द्रियाः ।

सर्वदुःखप्रहाणार्थं प्रक्राम्यन्ति महर्षयः ॥ १३ ॥

‘परीसह०’—मार्गाऽच्यवनेन निर्जरार्थं परिपोढव्याः परीसहाः क्षुत्पिपासादयस्त एव रिपवस्तत्तुल्यधर्मत्वात्, परीपहरिपवस्ते दान्ता—उपशमं नीता यैस्ते परीपहरिपुदान्ताः, [समासः पूर्ववत्] तथा धुतमोहाः क्षिप्तमोहा इत्यर्थः, मोहोऽज्ञानम्, तथा जितेन्द्रियाः शब्दादिषु द्वेषरहिताः, त एवम्भूताः सर्वदुःखप्रक्षयार्थं शारीरमानसाऽरोपदुःखप्रक्षयार्थं प्रक्रामन्ति—प्रवर्तन्ते महर्षयः—साधवः ॥ १३ ॥

॥ ३० ॥

दुष्करादं करिष्ठाणं दुस्सहादं सहि(हे)तु य ।

के इत्थ देवलोएषु केइ सिज्झंति नीरया ॥ १४ ॥

छा० दुष्कराणि कृत्वा दुःसहानि सहित्वा च ।

केचनात्र देवलोकेषु केचन सिध्यन्ति नीरजस्काः ॥ १४ ॥

‘दुष्करादं’-एवं दुष्कराणि कृत्वा औद्देशिकत्यागादीनि, तथा दुस्सहानि सहित्वाऽऽतापनादीनि, केचन तत्र देवलोकेषु सौधर्मादिषु गच्छन्तीति वाक्यशेषः, तथा केचन सिध्यन्ति तेनैव भवेन सिद्धिं प्राप्नुवन्ति [वर्तमाननिर्देशः सूत्रस्य निकालविषयत्वज्ञापनार्थः] नीरजस्का अष्टविधकर्मविश्रमुक्ता न त्वेकेन्द्रिया इव कर्मयुक्ता एवेति ॥ १४ ॥

सवित्ता पुव्वकम्मादं संजमेण तवेण य ।

सिद्धिमग्गमणुप्पत्ता ताइणो परिनिव्वुड्ढा ॥ १५ ॥ त्ति वेमि ।

छा०- क्षपयित्वा पूर्वकर्माणि संयमेन तपसा च ।

सिद्धिमार्गमनुप्राप्ताः, त्रायिणः परिनिर्वृताः ॥ १५ ॥ इति ब्रवीमि ।

‘खवित्ता०’—ते देवलोकाच्च्युताः क्षपयित्वा पूर्वकर्माणि सावशेषाणि, केनेत्याह—संयमेन उक्तलक्षणेन तपसा च एवं प्रवाहेण सिद्धिमार्गं सम्यग्दर्शनादिलक्षणमनुप्राप्ताः सन्तत्रातार आत्मादीनां परिनिर्वान्ति सर्वथा सिद्धिं याम्नुवन्ति ॥ १५ ॥—इति क्षुल्लिकाचारकभाष्ययनाऽवचूरिः ।

॥ खुडिआयारज्जयणं तईअं ॥

॥ खुल्लिकाचाराध्ययनं तृतीयम् ॥



अध्य० ३

॥ ३४ ॥

॥ चतुर्थाध्ययनम् ॥



क्षुष्टिकाचारकथायामाचारे धृतिः कार्या इत्युक्तम्, सचाऽऽचारः प्रायः षड्जीवनिकायगोचर इत्येतदुच्यते,

उक्तम्—

“ छसु जीवनिकायेसु, जे नुहे संजए सया ।

से चेव होइ विण्णेए, परमत्थेण संजए ” ॥ १ ॥ इति ।

“ जीवाऽजीवाहिगमो १, चरित्तधम्मो २ तहेव जयणा य ३ ।

उवएसो ४ धम्मफलं ५, छज्जीवणिआइ अहिगारा ” ॥ २ ॥

जीवाऽजीवाऽभिगमः १, प्राणातिपातादिनिवृत्तिरूपः २, पृथिव्यादिष्वारम्भ—परिहार—यत्नः ३, उपदेशः ४, अनुत्तरज्ञानादि ५ । “ पूर्वोक्ताधिकारसम्पन्नस्य षड्जीवनिकाध्ययनस्येदमादिसूत्रम् ”—

सुअं मे आउसं तेणं भगवया एवमक्खायं । इह खलु छज्जीवणिआ नामज्झयणं समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइआ सुअक्खाया सुपण्णत्ता । सेअं मे अहिज्जिउं अज्झयणं धम्मपण्णत्ती । कयरा सलु सा छज्जीवणिआ नामज्झयणं समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइआ सुअक्खाया सुपण्णत्ता सेअं मे अहिज्जिउं अज्झयणं धम्मपण्णत्ती ? इमा खलु सा छज्जीवणिआ नामज्झयणं

अध्य० ४

॥ ३५ ॥

समणेणं भगवया महावीरेणं काश्यपेणं पवेइआ सुअक्खाया सुपण्णत्ता सेअं मे अहिज्जिउं, अज्झयणं धम्मपण्णत्ती । तेजहा—पुढवीकाइआ १, आउकाइआ २, तेउकाइआ ३, वाउकाइआ ४, वणस्सइकाइआ ५, तसकाइआ ६-।

अध्य० ४

छा० श्रुतं मया आयुष्मन् ! तेन भगवता एवमाख्यातम्—इह खलु पट्टजीवनिका नामाध्ययनं (एषा पट्टजीवनिका) श्रमणेन भगवता महावीरेण काश्यपेन प्रवेदिता स्वाख्याता सुप्रज्ञता । श्रेयो मेऽध्येतुमध्ययनं धर्मप्रज्ञतिः । कतरा खलु सा पट्टजीवनिका नामाध्ययनं श्रमणेन भगवता महावीरेण काश्यपेन प्रवेदिता स्वाख्याता सुप्रज्ञता श्रेयो मेऽध्येतुमध्ययनं धर्मप्रज्ञतिः ? इमा खलु सा पट्टजीवनिका नामाध्ययनं श्रमणेन भगवता महावीरेण काश्यपेन प्रवेदिता स्वाख्याता सुप्रज्ञता श्रेयो मेऽध्येतुमध्ययनं धर्मप्रज्ञतिः । तद्यथा—पृथ्वीकायिकाः, अष्कायिकाः, तेजस्कायिकाः, वायुकायिकाः, वनस्पतिकायिकाः, त्रसकायिकाः ।

‘ सुअं मे० ’—श्रूयते तदिति श्रुतम्, प्रतिविशिष्टार्थप्रतिपादनफलं वाग्योगमात्रं भगवता निसृष्टमात्मीय-
श्रवणकोटरप्रविष्टम्, क्षायोपशमिकभावपरिणामाऽऽविर्भावकारणं श्रुतमित्युच्यते, ‘ मया ’ इत्यात्मपरामर्शः, आयुरस्याऽ-
स्तीत्यायुष्मान्, तस्याऽऽप्पन्नणं हे आयुष्मन् ! कः कमेवमाह—सुधर्मा जम्बूस्वामिनमिति, ‘ तेनेति भुवनभर्तुः परा-
मर्शः, भगः समग्रैश्वर्यादिलक्षणः, सोऽस्याऽस्तीति भगवान्, तेन भगवता श्रीवर्धमानस्वामिनेत्यर्थः, एवमिति प्रकार-
वचनः शब्दः, आख्यातमिति केवलज्ञानेनोपलभ्याऽऽवेदितम्, किम् ? अत आह—‘ इह खलु पट्टजीवनिका नामाऽ-

प्ययनमस्तीति नाक्यशेषः, 'इहेति लोके प्रवचने वा, 'खलु' शब्दादन्यतीर्थकृत्वप्रवचनेषु, षड्जीवनिकायिकेति पूर्ववत्, नामेत्यभिधानम्, अप्ययनं श्रुतविशेषः, इह च 'श्रुतं मयेत्यनेनाऽऽत्मपरामर्शेनैकान्तक्षणभङ्गाऽपोहमाह', तत्रैतन्मभूता-
ऽर्थाऽनुपपत्तेरिति, उक्तञ्च—

“ एगंतरखणिअपक्खे, गहणं पिअ सञ्चहा ण अत्थाणं ।

अणुसरणसासणाइं, कुओ उ तेलुकसिद्धाइं ” ॥ १ ॥

तथा—आयुष्मन्निति च प्रधानगुणनिष्पन्नेनाऽऽमन्त्रणवचसा गुणवते शिष्यायाऽऽगमरहस्यं देयं नाऽगुणवते, इत्याह, तदनुकम्पाप्रवृत्तेरिति, उक्तञ्च—

“ आमे घडे निहत्तं, जहा जलं तं घडं विणासेइ ।

इअ सिद्धंत-रहस्सं, अम्पाहारं विणासेइ ” ॥ १ ॥

आयुश्च-प्रधानो गुणः सति तस्मिन्नव्यवच्छिन्निभावात्, तथा तेन भगवतैवमाख्यातमित्यनेन स्वमनीषिका-
निरासाच्छास्त्रपारतन्त्र्यप्रदर्शनेन नह्यसर्वज्ञेनाऽनात्मवताऽन्यतस्तथाभूतात् सम्यङ्(ग)निश्चित्य परलोकवेशना कार्या, इत्येतदाह, विपर्ययसम्भवात्, उक्तञ्च—

“ किं एत्तो पावयरं, सम्मं अणाहिगतधम्मसञ्भावो ।

अण्णं कुदेसणाए, कट्टयरागंमि पाडेति ” ॥ १ ॥

अथवाऽन्यथा व्याख्यायते 'सूत्रैकदेशः'—'आउसं तेणं' ति भगवत एव विशेषणम्, आयुष्मता भगवता धिरजीविनेत्यर्थः, मङ्गलवचनं चैतत्, अथवा जीवता साक्षादेव, अनेन गणधरस्य परम्पराऽऽगमस्य जीवनविमुक्ताऽनादिशुद्धवस्तुश्चाऽपोहमाह, देहाऽऽद्यभावेन तथाविधप्रयत्नाऽभावात्, उक्तञ्च—

अध्य० ४

“ वयणं न कायजोगा,—भावेण य सो अणादिसुद्धस्स ।

गहणंमि अ णो हेऊ, सत्थं अत्तागमो कहणु ” ॥ १ ॥

अथवा 'आवसतेणं' ति गुरु(पाद)मूलभावसता, अनेन च शिष्येण गुरुचरणसेविना सदा भाज्यमित्येतदाह, ज्ञानादिवृद्धिसद्भावात्, उक्तञ्च—

“ णाणस्स होइ भागी, धिरत्तरओ दंसणे चरित्ते अ ।

धण्णा आवक्कहाए, गुरुकुलवासं ण मुंचंति ” ॥ १ ॥

अथवा 'आमुसंतेणं' ति आमृशता भगवत्पादाराविन्दयुगलमुत्तमाङ्गेन, अनेन च विनयप्रतिपत्तेर्गरीयस्त्वमाह, विनयस्य मोक्षमूलत्वात्, उक्तञ्च—

“ मूलं संसारस्स उ, होति कसाया अणंतपत्तस्स ।

विणओ ठाणपउत्तो, दुक्खविमोक्खस्स मोक्खस्स ” ॥ १ ॥

॥ ३८ ॥

इह खलु पङ्जीवनिकायिका नामाऽध्ययनमस्तीत्युक्तम्, सा च तेन भगवता श्रमणेन महावीरेण, कषाय-
शानुजयान्महावीरः, उक्तम्—

“ विदारयति यत्कर्म, तपसा च विराजते ।

तपोवीरेण युक्तश्च, तस्माद्वीर इति स्मृतः ” ॥ १ ॥

अध्य० ४

महांश्रासो वीरश्चेति महावीरः, तेन महावीरेण, ‘ कासवेण ’ ति काश्यपगोत्रेण प्रवेदिता, नाऽन्यतः
कुतश्चिदाकर्ण्य ज्ञाता किन्तर्हि ? स्वयमेव केवलाऽऽलोकेन प्रकर्षेण वेदिता प्रवेदिता विज्ञाता इत्यर्थः, तथा स्वाख्या-
तेति सदेवमनुष्याऽसुरायां पर्यदि सुष्ठु आख्याता, तथा सुप्रज्ञमेति सुष्ठु प्रज्ञप्ता तथैव सुष्ठु सूक्ष्मं परिहाराऽऽसेवनेन
प्रकर्षेण सम्पगासेवितेत्यर्थः, [अनेकार्थत्वाद्वातूनां ज्ञपिरासेवनार्थः] तां चैवम्भूतां पङ्जीवनिकायिकां श्रेयो
मेऽप्येतुम्, श्रेयः पथ्यं—हितम्, ममेत्यात्मनिर्देशः, छान्दसत्वात् सामान्येन ममेत्यात्मनिर्देश इत्यन्ये । ततश्च श्रेय
आत्मनोऽप्येतुं पठितुम्, कुतः ? इत्याह—‘ अध्ययनं धर्मप्रज्ञप्तिः ’ [निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां विभक्तीनां प्रायो दर्श-
नम्—इति वचनात्—हेतोः प्रथमा] अध्ययनत्वात्—अध्यात्माऽऽनयनात्—चेतसो विशुद्ध्यापादनादित्यर्थः । एतदेव
कुतः ? इत्याह—धर्मप्रज्ञप्तेः, प्रज्ञपनं—प्रज्ञप्तिः, धर्मस्य प्रज्ञप्तिर्धर्मप्रज्ञप्तिः, ततो धर्मप्रज्ञप्तेः कारणात्, चेतसो विशुद्ध्यापा-
दनाच्च श्रेय आत्मनोऽप्येतुमिति । अन्येतुं न्यायक्षते—‘ अध्ययनं धर्मप्रज्ञप्तिरिति, पूर्वोपन्यस्ताऽध्ययनस्यैवोपादेयत-
याऽनुवादमानमेतदिति ’ ।

॥ ३९ ॥

शिष्यः पृच्छति—‘कतरा खल्वित्यादि’ सूत्रमुक्तार्थमेव, अनेनैतद्दर्शयति—‘विहायाऽभिमानं संविप्रेन शिष्येण सर्वकार्येष्वेव गुरुः प्रष्टव्य इति,’ आचार्य आह—‘इमा खलु’—इत्यादि सूत्रमुक्तार्थमेव, अनेनाऽप्येतद्दर्शयति—‘गुणयते शिष्याय गुरुणाऽप्युपदेशो दातव्य एवेति,’ ‘त जहा—पुढवीकाइआ’ इत्यादि, अत्र ‘तद्यथे’त्युदाहरणोपन्यासार्थः, पृथ्वी—काठिन्यादिलक्षणा, सैव कायः शरीरं येषां ते पृथ्वीकायाः, एत एव पृथ्वीकायिकाः, [स्वार्थिकष्ठकृ] एवं सर्वत्र ज्ञेयम् । आपो—द्रवाः प्रतीता एव । तेज—उष्णलक्षणम् । वायुश्चलनधर्मा । वनस्पतिर्लतादिरूपः । व्रसन—शीलास्त्रसाः । इह च सर्वभूताऽऽधारत्वात्पृथिव्याः प्रथमं पृथ्वीकायिकानामभिधानम्, तदनन्तरं तत्प्रतिष्ठितत्वादपृकायिकानाम्, तदनन्तरं तत्प्रतिपक्षत्वाच्चेजस्कायिकानाम्, तदनन्तरं तेजस उपटम्भकत्वाद्वायुकायिकानाम्, तदनन्तरं वायोः शाखाप्रचलनादिगम्यत्वाद्वनस्पतिकायिकानाम्, तदनन्तरं वनस्पतेस्त्रसोपग्राहकत्वात् व्रसकायिकानामिति । विप्रतिपत्तिनिरासाऽर्थं पुनराह—

पुढवी चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अण्णत्थ सत्थपरिणएणं । आऊ चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अण्णत्थ सत्थपरिणएणं । तेउ चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अण्णत्थ सत्थपरिणएणं । वाऊ चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अण्णत्थ सत्थपरिणएणं । वणस्सई चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अण्णत्थ सत्थपरिणएणं, तंजहा—अग्गवीआ, मूलवीआ, पोखीआ, खंधवीआ, बीअरुहा, सम्मुच्छिमा, तणलया, वणस्सइकाइआ सवीआ चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अण्णत्थ सत्थपरिणएणं ।

छा० पृथ्वी चित्तवत्याख्याता अनेकजीवा पृथक्सत्त्वा, अन्यत्र शस्त्रपरिणतायाः । आप-
श्चित्तवत्य आख्याता अनेकजीवाः पृथक्सत्त्वाः, अन्यत्र शस्त्रपरिणताभ्यः । तेजश्चित्तवदाख्यातमनेक-
जीवं पृथक्सत्त्वम्, अन्यत्र शस्त्रपरिणतात् । वायुश्चित्तवानाख्यातोऽनेकजीवः पृथक्सत्त्वः, अन्यत्र
शस्त्रपरिणतात् । वनस्पतिश्चित्तवानाख्यातोऽनेकजीवः पृथक्सत्त्वः, अन्यत्र शस्त्रपरिणतात् । तद् (स)
यथा-अग्रवीजाः, मूलवीजाः, पर्ववीजाः, स्कन्धवीजाः, बीजरुहाः, संमूर्च्छिमाः, तृणलताः, वनस्पति-
कापिकाः सर्वाजाश्चित्तवन्त आख्याता अनेकजीवाः पृथक्सत्त्वाः, अन्यत्र शस्त्रपरिणतेभ्यः ।

‘पृथ्वी चित्तमंतमक्खाया०’-‘पृथ्वी चित्तवती-सचैतन्या-सजीवेत्यर्थः, पाठान्तरं वा-‘पृथ्वी चित्त-
मक्खाया०’-अत्र ‘मात्र’ शब्दः स्तोत्रवाची, यथा सर्पस्य त्रिभागमात्रं वटस्य बीजं रसातले न्यस्तं भवति
महत्तर(तरु)हेतुः, तद्वत् पात्रेऽल्पमपि दानमिति । ततश्च चित्तमात्रा स्तोत्रचित्ता इत्यर्थः, तथा च प्रबलमोहो-
दयात्सर्वजघन्यं चैतन्यमेकेन्द्रियाणाम्, तदभ्यधिकं द्वीन्द्रियादीनामित्याख्यातं सर्वज्ञेन, इयच्च अनेके जीवा यस्यां
साऽनेकजीवा, न पुनरेकजीवा, यथा वैदिकानां ‘पृथ्वी देवता’ इत्येवमादि वचनप्रामाण्यादिति । अनेकजीवाऽपि
केभिर्देकभूताऽऽत्माऽप्येकयेष्यत एव, यथाऽऽहुरेके-

“एक एव हि भूताऽऽत्मा, भूते भूते व्यवस्थितः ।

एकधा बहुधा चैव, दृश्यते जलचन्द्रवत्” ॥ १ ॥

अत आह—पृथक् सत्त्वा(नि) आत्मानो यस्यां सा पृथक्-सत्त्वा, अङ्गुलासंख्येयभागमात्रावगाहनया पारमार्थिक्याऽनेकजीवसमाश्रिता-इति भावः । आह—‘यद्येवं जीवपिण्डरूपा पृथ्वी ततस्तस्यामुच्चारादिकरणे नियम-तत्तदतिपातादहिंसकत्वाऽनुपपत्तिः, इत्यसम्भवी साधुधर्मः,’ इत्यत्राऽऽह—‘अन्यत्र शस्त्रपरिणतायाः,’ शस्त्रपरिणता पृथ्वी विहाय—परित्यज्य अन्या चित्तवत्याख्यातेत्यर्थः, स्वकायशस्त्रं कृष्णादिमृत्नीलादिमृदः शस्त्रम्, एवं गन्धरस-स्पर्शभिदेऽपि शस्त्रयोजना कार्या, परकायशस्त्रं-पृथ्वी-अप्-तेजः-प्रभृतीनाम्, ते वा पृथिव्याः, उभयशस्त्रम्—यथा कृष्णा मृद उदकस्य स्पर्शरसगन्धादिभिः पाण्डुरमृदश्च, यदा कृष्णमृदा कलुषितमुदकं भवति, तदाऽसौ कृष्णमृद उदकस्य पाण्डुमृदश्च शस्त्रं भवति, एष तावदागमः । अनुमानमप्यत्र विद्यते—‘साऽऽत्मका विद्रुमलवणोपलादयः पृथ्वीविकाराः समानजातीयाऽङ्कुरोत्पत्त्युपलम्भात्,’ देवदत्तमांसाङ्कुरवत् । एवमागमोपपत्तिभ्यां व्यवस्थितं पृथ्वीकाग्रि-कानां जीवत्वम्, उक्तञ्च—

“आगमश्रोतृपत्तिश्च, सम्पूर्णं दृष्टिलक्षणम् ।

‘अतीन्द्रियाणामर्थानां, सद्भावप्रतिपादने’ ॥ १ ॥

“आगमोह्याप्तवचनम्, आप्तं दोषक्षयाद्विदुः ।

वीतरागोऽनृतं वाक्यं, न ब्रूयाद्धेतुसम्भवात्” ॥ २ ॥

आपश्चित्तवत्य आख्याताः, साऽऽत्मकं जलम्, भूमिखातस्वभावसम्भवात्, दडुरवत्, चित्तवत् । साऽऽत्मको-ऽग्निः—आहारेण वृद्धिदर्शनाद्बालकवत् । चित्तवान् साऽऽत्मकः पवनः—अपरमोस्तितिर्यगानियामितादिगमनात्, गोवत् ।

सचेतनास्तरवः, सर्वत्वगपहरणे मरणात्, गर्दभवत् । वनस्पतिजीवविशेषप्रतिपादनायाऽऽह—‘तंजहा अग्गवीआ’, इत्यादि, तद्यथेत्युपन्यासार्थः, अग्रं बीजं येषां तेऽग्रबीजाः—कोरुण्टकादयः, मूलं बीजं येषां ते मूलबीजाः—उत्पलकन्दादयः, पर्व-बीजं येषां ते पर्वबीजाः—इक्ष्वादयः, स्कन्धो बीजं येषां ते स्कन्धबीजाः—सल्लक्यादयः, बीजाद्रोहन्तीति बीजरुहाः—शाल्यादयः, संमूर्च्छन्तीति संमूर्च्छिमाः—प्रसिद्धबीजाभावेन पृथ्वीवर्षादिसमुद्भववारतथाविध-नृणादयः, न चैते न सम्भवन्ति, दग्धभूमावपि सम्भवात्, तृणलतादिग्रहणं स्वगताऽनेकभेदसंस्पर्शनार्थम्, वनस्पतिका-यिकग्रहणं सूक्ष्मवादरायशेषवनस्पतिसंग्रहार्थम् । एतेन पृथिव्यादीनामपि स्वगताः पृथ्वीशर्करादयः, तथाऽवश्याय-मिहिकादयः, तथाऽङ्गारज्वालादयः, तथा श्लेष्मामण्डलकाऽऽदयो भेदाः सूचिता इति, सबीजाश्चित्तवन्त आख्याता इति । एतेह्यनन्तरोदिता वनस्पतिविशेषाः सबीजाः स्वस्वनिबन्धनाश्चित्तवन्तः—आत्मवन्त आख्याताः । एते चाऽनेक-जीवा इत्यादि ध्रुवगण्डिका पूर्ववत् । इदानीन्वन्ताऽधिकारे—एतदाह—

से जे पुण इमे अणेगे बहवे तसा पाणा । तंजहा—अंड्या, पोअया, जराउआ, रसया, संसे-इमा, संमुच्छिमा, उब्भिआ, उववाइआ, जेसिं केसिंचि पाणाणं अभिक्कंतं, पडिक्कंतं, संकुचितं, पसारिअं, रुअं, भंतं, तसिअं, पलाइअं, आगइगइविण्णाया जे अ कीडपयंगा जा य कुंथुपिवी(पी)-लिआ, सव्वे वेइंदिआ, सव्वे तेइंदिआ, सव्वे चउरिंदिआ, सव्वे पंचिंदिआ, सव्वे तिरिक्खजोणिआ, सव्वे नेरइआ, सव्वे मणुआ, सव्वे देवा, सव्वे पाणा परमाहम्मिआ । एसो खलु छट्ठो जीवनिआओ तसकाउत्ति पवुच्चइ ।

छा० अथ ये पुनरिमेऽनेके बहवस्त्रसाः प्राणाः, ते यथा-अण्डजाः, पोतजाः, जरायुजाः, रसजाः, संस्वेदिमाः, संमूर्च्छिमाः, उद्भिज्जाः, औपपातिकाः, येषां केषाञ्चित्प्राणिनामभिक्रान्तं, प्रतिक्रान्तं, सङ्कुचितं, प्रसारितं, रुतं, भ्रान्तं, त्रसितं, पलायितम्, आगतिगती विज्ञातारः, ये च कीटपतङ्गाः, याश्च कुन्थुपिपीलिकाः, सर्वे द्वीन्द्रियाः, सर्वे त्रीन्द्रियाः, सर्वे चतुरिन्द्रियाः, सर्वे पञ्चेन्द्रियाः, सर्वे तिर्यग्योनयः, सर्वे नैरयिकाः, सर्वे मनुजाः, सर्वे देवाः, सर्वे प्राणिनः परमधर्माणः । एष खलु पष्ठो जीवनिकायस्त्रसकाय इति प्रोच्यते ।

‘से जे पुण इमे०’-‘से’ शब्दोऽथशब्दार्थः, अथ ये पुनरमी बालादीनामपि प्रसिद्धा अनेके द्वीन्द्रियादिभेदेन बहव एकस्यां जातौ त्रसाः प्राणिनः- ‘त्रस्यन्तीति त्रसाः’ प्राणा उच्छ्वासादय एषां विद्यन्त इति प्राणिनः, तद्यथा- ‘अण्डजा’ इत्यादि, एष खलु पष्ठो जीवनिकायस्त्रसकायः प्रोच्यत इति योगः, तत्र अण्डाज्जाता अण्डजाः-वक्षिगृहकोकिलादयः, पोतादिव जायन्ते पोतजाः, ते च हस्तिवल्गुली-चर्मजलीकाप्रभृतयः, जरायुवेष्टिता जायन्ते जरायुजाः-गोमहिष्यजावृकमनुष्यादयः, रसाज्जाता रसजाः-आरनालदधितेमनादिषु पायुकृम्याकृतयोऽतिसूक्ष्मा भवन्ति, संस्वेदाज्जाताः संस्वेदजाः-मत्कुणयूकादयः, संमूर्च्छनाज्जाताः संमूर्च्छनजाः-शालम-पिपीलिका-माक्षिका-शालूकादयः, उद्भेदजाः-तद्ग-खड्गरीट-पारिप्लवादयः, उपपातजाः-देवा नारकाश्च, एतेषामेव लक्षणमाह-‘येषां केषाञ्चित् सामान्येनैव प्राणिनां जीवानामभिक्रान्तं-प्रज्ञापकं

प्रत्यभिमुख क्रमणमित्यर्थः, एवं प्रतिक्रमणं—प्रतिक्रान्तं—प्रज्ञापकात् क्रमणमिति भावः, सङ्कुचनं—सङ्कुचितं गात्र-
सङ्कोचकरणम्, प्रसारणं—प्रसारितं गात्रविततीकरणम्, रवणं—रुत शब्दकरणम्, भ्रान्तमितश्चेतश्च गमनम्, वसनं—
वस्तं दुःखोद्वेजनम्, पलायनं—पलायितं कुतश्चिन्नाशनम्, तथा—आगतेः कुतश्चित् क्वाचित्, गतेश्च कुतश्चित् क्वचि-
देव, “ विष्णाया ” इति विज्ञातारः । आह—‘ अभिक्रान्तप्रतिक्रान्ताभ्यां नाऽऽगतिगत्योः क्वचिद्भेदः, ’ इति किमर्थं
भेदेनाऽभिधानम् ? उच्यते—विज्ञानविशेषख्यापनार्थम्, एतदुक्तं भवति—य एव विजानन्ति यथा वयमभिक्रामामः
प्रतिक्रामामो वा त एव व्रसाः, ननु वृत्तिं प्रत्यभिक्रमणप्रतिक्रमणवन्तोऽपि बल्ल्यादय इति ? आह—एवमपि द्वीन्द्रिया-
दीनामत्रसत्त्वप्रसङ्गः, अभिक्रमणप्रतिक्रमणभावेऽप्येवं विज्ञानाभावात्, नैतदेवम्, हेतुसंज्ञाया अवगतेः, बुद्धिपूर्वकमिव
छायात उष्णम्, उष्णाद्वा छायां प्रति तेषामभिक्रमणादिभावात्, न चैवं बल्ल्यादीनामभिक्रमणादि, ओघसंज्ञायाः
प्रवृत्तेरिति । व्रसभेदानाह—‘ जे अ कीड ’ इत्यादि, ये च कीटपतङ्गा इत्यत्र कीटाः कृमयः [एकग्रहणेन तज्जा-
तीयग्रहणमिति], द्वीन्द्रियाः—शङ्खादयोऽपि, पतङ्गाः—शालभाः, अत्राऽपि पूर्ववत्, चतुरिन्द्रिया भ्रमरादयो गृह्यन्ते ।
तथा याश्च कुन्थुपिपीलिका इत्यनेन त्रीन्द्रियाः सर्व एव गृह्यन्ते, अतएवाह—सर्वे द्वीन्द्रियाः—कृम्यादयः, सर्वे
त्रीन्द्रियाः—कुन्थादयः, सर्वे चतुरिन्द्रियाः—पतङ्गादयः । आह—‘ ये च कीटपतङ्गा इत्यादौ—उद्देशव्यत्ययः किमर्थः ?
उच्यते—विचित्रा सूत्रगतिः, अतन्त्रः क्रम इति ज्ञापनार्थम्, सर्वे पञ्चेन्द्रियाः सामान्यतः, विशेषतस्तिर्यग्योनयो—
गवादयः, सर्वे नारकाः—रत्नप्रमानारकादिभेदाभिन्नाः, सर्वे मनुजाः—कर्मभूमिजादयः, सर्वे देवाः—भवनवास्यादयः ।
सर्वशब्दश्चाऽत्र अपरिशेषभेदानां व्रसत्त्वख्यापनार्थः, सर्व एवैते व्रसाः, न त्वेकेन्द्रिया इव व्रसाः स्थावराश्चेति, ‘ सर्वे

प्राणिनः परमधर्माण इति' सर्वे प्राणिनो द्वीन्द्रियादयः पृथ्व्यादयश्च, परमं—सुखं तद्धर्माणः सुखामिलापिण इत्यर्थः ।

एष सत्त्वनन्तरोदितः कीटादिः पक्षो जीवनिर्णायः, पृथिव्यादिपञ्चकाऽपेक्षया पष्ठत्वमस्य, त्रसकाय इति 'प्रोच्यते' प्रकृषेणोच्यते सर्वैरेव तीर्थङ्करगणधरैरिति प्रयोगार्थः, प्रयोगश्च—विद्यमानकर्तृकमिदं शरीरम् आदिमत् प्रतिनियताऽऽकारत्वात्, घटवत् । आह—इदं त्रसकायनिगमनमनभिधायीऽस्थाने सर्वे प्राणिनः परमधर्माण इत्यनन्तर-सूत्रसम्बन्धि सूत्राऽभिधानं किमर्थम् ? उच्यते—निगमनसूत्रव्यवधानवत्, अर्थान्तरेण व्यवधानख्यापनार्थम्, तथाहि—त्रसकायनिगमनसूत्राऽवसानो जीवाऽभिगमः, अत्राऽन्तरे—अजीवाभिगमाधिकारः, तदर्थमभिधाय चारित्रधर्मो वक्तव्यः, तथा च बृहस्पत्याख्या—“एसो० तत्त० पवुच्चइ० एस जीवाभिगमो भणितो, इआणीं अजीवाभिगमो भण्णति, अजीवा वुविहा, तंजहा—पोग्गला य, णो पोग्गला य, पोग्गला उव्विहा, तंजहा—सुहुमसुहुमा १, सुहुमा २, सुहुमबायरा ३, बायरसुहुमा ४, बायरा ५, बायरबायरा ६ । सुहुमसुहुमा परमाणुपोग्गला १, सुहुमा दुपएसिआओ आढत्तो जाव सुहुमपरिणओ अणंतपदेसिओ खंधो २, सुहुमबायरा गंधपोग्गला ३, बायरसुहुमा वाउकायसरीरा ४, बायरा आउकायसरीरा उस्सादीणं ५, बायरबायरा तेउवणप्फदिपुढवीतससरीराणि ६ । अहवा चउव्विहा पोग्गला, तंजहा—खंधा १, खंधदेसा २, खंधपदेसा ३, परमाणुपोग्गला ४, एस पोग्गलत्थिकाओ गहणलक्खणो । णो पोग्गलात्थिकाओ तिविहो, तंजहा—धम्मत्थिकाओ १, अधम्मत्थिकाओ २, आगासत्थिकाओ ३, तत्थ धम्मत्थिकाओ गतिलक्खणो,

१ 'एसो सत्तु छट्ठो जीवनिर्णायो तसकाउत्ति पवुच्चइ' इति पूर्णः पाठः ।

अधम्मत्थिकाओ वितिलक्खणो, आगासत्थिकाओ अवगाहलक्खणो ” उक्तोऽजीवाभिगमः । अथ चारित्रधर्मः,
तत्रोक्तसम्बन्धमेवेदं सूत्रम्—

“ इच्छेसिं छण्हं जीवनिकायाणं नेव सयं दण्डं समारंभिज्जा नेवण्णेहिं दण्डं समारंभाविज्जा दण्डं
समारंभंते वि अण्णे न समणुजाणिज्जा, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि
न कारवेमि करंतं पि अण्णं न समणुजाणामि । तस्स भंते ! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं
वोसिरामि ।

छा० इत्येतेषां पण्णां जीवनिकायानां नैव स्वयं दण्डं समारभेत, नैवान्यैर्दण्डं समारम्भयेत्,
दण्डं समारभमाणानप्यन्यान्न समनुजानीयात् । यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन मनसा वचसा कयेन
(उक्तस्वरूपेण दण्डं) न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि । तस्य भदन्त ! प्रति-
क्रामामि, निन्दामि, गर्हं, आत्मानं व्युत्सृजामि ।

‘ इच्छेसिं० ’— एतेषां पण्णां जीवनिकायानां नैव स्वयं दण्डं समारभेत, इति योगः । ‘ सर्वे
प्राणिनः परमधर्माणिः ’ इत्यनेन हेतुना एतेषां पण्णां जीवनिकायानामिति [सुषां सुषो भवन्तीति सप्तम्यर्थे
पठि] एतेषु पट्सु जीवनिकायेषु नैव स्वयं दण्डं संपट्टनपरितापनादिलक्षणं समारभेत—प्रवर्तयेत्, नैवाऽन्यैः
प्रेष्यादिभिः समारम्भयेत् कारयेदित्यर्थः,— ‘ अण्णे न समणुजाणिज्जात्ति ’ पाठः शुद्धः, दण्डं समारभणा-

नप्यन्यान् प्राणिनो न समनुजानीयात्—नानुमोदयेदिति विवायकं भगवद्वचनम् । यतश्चैवमतो 'यावज्जीवमित्यादि यावद् व्युत्सृजामि' इत्येवमिदं सम्यक् प्रतिपद्येत, इत्येदम्पर्यं, पदार्थस्तु—'जीवनं जीवो यावज्जीवाद् यावज्जीवम्'—आप्राणोपरमादित्यर्थः । किमित्याह—'त्रिविधं त्रिविधेनेति' तिस्रो (विधाः) विधानानि कृतादिरूपा अस्येति त्रिविधो दण्ड इति गम्यते, तं त्रिविधेन करणेन, एतदेवोपन्यस्यति—'मनसा, वाचा, कायेन' अस्य च करणस्य कर्म उक्तलक्षणो दण्डः, तं वस्तुतो निराकार्यतया सूत्रेणैवोपन्यस्यन्नाह—'न करोमि स्वयं, न कारयाम्यन्यैः, कुर्वन्त-मप्यन्यं न समनुजानामीति', तस्य भदन्त ! प्रतिक्रामामि, इति । तस्येत्यधिकृतो दण्डः सम्बध्यते, [सम्बन्ध-लक्षणा—अवयवलक्षणा पठ्यते] योऽसौ त्रिकालविषयो दण्डस्तस्य सम्बन्धिनमतीतमवयवं प्रतिक्रामामि, न वर्तमानमनागतं वा, अतीतस्यैव प्रतिक्रमणात्, प्रत्युत्पन्नस्य संवरणात्, अनागतस्य प्रत्याख्यानात्, इति । भदन्त ! इति गुरोरामन्त्रणम्, एतच्च गुरुसाक्षिक्येव व्रत-प्रातिपत्तिः साध्वीति ज्ञापनार्थम्, प्रतिक्रामामीति भूतदण्डान्निवर्तेऽह-मित्युक्तं स्यात्, तस्माच्च निवृत्तिर्यत्तदनुमतेर्विरमणमिति । तथा निन्दामि गर्हामि(गर्हे)—इत्यत्रात्मसाक्षिकी निन्दा, परसाक्षिकी गर्हा—जुगुप्सोच्यते, आत्मानमतीतदण्डकारिणम्—अश्लाघ्यं व्युत्सृजामि—'वि' शब्द उच्छब्दो भृशार्थः, सृजामीति त्यजामि, ततश्च भृशं त्यजामि व्युत्सृजामीति । आह—यद्येवमतीतदण्डप्रतिक्रमणमात्रमस्य ऐदम्पर्यम्, न प्रत्युत्पन्नसंवरणम्, अनागतप्रत्याख्यानञ्चेति, नैतदेवम्, करोमीत्यादिना तदुभयसिद्धेरिति ।

अयञ्चाऽऽत्मप्रतिपत्त्यर्हो दण्डनिक्षेपः सामान्यविशेषरूप इति, सामान्येनोक्तलक्षण एव, स एव विशेषतः पञ्चमहाव्रतरूपतयाऽङ्गीकर्तव्य इति महाव्रतान्याह—

पढमे भंते ! महव्वए पाणाइवायाओ वेरमणं । सव्वं भंते ! पाणाइवायं पच्चक्खामि से सुहुमं वा वायरं वा तसं वा थावरं वा, नेव सयं पाणे अइवाइजा नेवण्णेहिं पाणे अइवायाविज्जा पाणे अइवायंते वि अण्णे न समणुजाणिज्जा, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारखेमि करंतं पि अण्णं न समणुजाणामि । तस्स भंते ! पडिक्कमामि, निंदामि, गारिहामि, अप्पाणं वोसिरामि । पढमे भंते ! महव्वए उवाट्ठिओस्मि सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं ॥ १ ॥

छा० प्रथमे भदन्त ! महाव्रते प्राणातिपाताद्विरमणम् । सर्वं भदन्त ! प्राणातिपातं प्रत्याख्यामि, अथ सूक्ष्मं वा वादरं वा त्रसं वा स्थावरं वा, नैव स्वयं प्राणानतिपातयेत्, नैवान्यैः प्राणानतिपातयेत्, प्राणानतिपातयतोऽप्यन्यान्न समनुजानीयात् । (उक्तस्वरूपं) यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन मनसा वचसा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि । तस्य भदन्त ! प्रतिक्रामामि, निन्दामि, गर्हे, आत्मानं व्युत्सृजामि । प्रथमे भदन्त ! महाव्रते उपस्थितोऽस्मि, सर्वस्मात् प्राणातिपाताद्विरमणम् ॥ १ ॥

१ यहांपर वृत्तिकारने ' तिडां तिडो भवन्तीति न्यायात् ' इस तरह समाधान करके ' वर्तमान ' में ' विधि ' का प्रयोग माना है, मैनेभी छाया में और अनुवाद में मूलकाही अनुसरण किया है ।

‘पट्टमे भंते०’—इत्याह, ‘प्रथमे भदन्त ! महाव्रते प्राणातिपाताद्विरमणमिति’ प्राणा इन्द्रियादयः, तेषां मतिपातः, तस्माद्विरमणं निवर्तनं भगवतोक्तमिति शेषः, यतश्चैवमतः सर्वं भदन्त ! प्राणातिपातं प्रत्याख्यामि, ‘प्रति’ शब्दः प्रतिषेधे, आह् आभिमुख्ये, ख्या प्रकथने, प्रतीपमभिमुखं ख्यापनं प्राणातिपातस्य करोमि, प्रत्याख्यामि इति, अथवा प्रत्याचक्षे—संवृताऽऽत्मा, साम्प्रतमनागतप्रतिषेधस्याऽऽदरेणाऽभिधानं करोमीत्यर्थः । ‘से’ शब्दो मागधदेशी प्रसिद्धोऽप्यशब्दार्थः, स चोपन्यासे, सूक्ष्मोऽल्पः परिगृह्यते, न तु सूक्ष्मनामकर्मोदयात्सूक्ष्मः, तस्य कायेन व्यापादनाऽसम्भवात्, तदेतद्विशेषतोऽभिधित्सुराह—“बादरोऽपि स्थूरः, बादर इति स्थूरो गृह्यते, न तु बादरनामकर्मोदयाद्बादरः, अपि शब्दाद् यथा सूक्ष्मोऽल्पस्तथा बादरः स्थूर इति”, सचैकेको द्विधा—व्रतः स्थावरश्च, सूक्ष्मव्रतः कुन्धादिः, स्थावरो वनस्पत्यादिः, बादरव्रतो गवादिः, स्थावरः पृथिव्यादिः, एतान् ‘नेव सयं पाणे अइवाएज्जाति’ [प्राकृतशैल्या छान्दसत्वात् तिङां तिङो भवन्तीति न्यायात्] नैव स्वयं प्राणिनोऽतिपातयामि, नैवाऽन्यैः प्राणिनोऽतिपातयामि, प्राणिनोऽतिपातयतोऽप्यन्यान् समनुजानामि, यावज्जीवमित्यादि पूर्ववत् । व्रतप्रतिपत्तिं निगमयन्नाह—‘प्रथमे भदन्त ! महाव्रते उपस्थितोऽस्मि’, उपसामीप्येन तत्परिणामाऽऽपत्त्या स्थितः, इत आरभ्य मम सर्वस्मात् प्राणातिपाताद्विरमणमिति । भदन्त ! इत्यनेन च आदिमध्यावसानेषु गुरुमनापृच्छय न किञ्चित्कर्तव्यम्, कृतञ्च तस्मै निवेदनीयम्, एवन्तदाराधितं भवति ॥ १ ॥

अहावरे दुच्चे भंते ! महव्वए मुसावायाओ वेरमणं । सव्वं भंते ! मुसावायं पच्चक्खामि, से कोहा वा लोहा वा भया वा हासा वा, नेव सयं मुसं वड्ज्जा नेवण्णेहिं मुसं वायाविज्जा मुसं वयंते वि

अण्णे न समणुजाणिज्जा, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करोमि न कारवेमि
करंतं पि अण्णं न समणुजाणामि । तस्स भंते ! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि ।
दुच्चे भंते ! महव्वए उवट्ठिओमि सच्चाओ मुसावायाओ वेरमणं ॥ २ ॥

अध्या ४

छा० अथापरस्मिन्द्रितये भदन्त ! महाव्रते मृषावादाद्विरमणम् । सर्वं भदन्त ! मृषावादं प्रत्या-
ख्यामि, अथ क्रोधाद्वा लोभाद्वा भयाद्वा हासाद्वा, नैव स्वयं मृषां वदेत्, नैवाऽन्यैर्मृषां वादयेत्, मृषां
वदतोऽप्यन्यान् समनुजानीयात्, यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन मनसा वचसा कायेन न करोमि न
कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि । तस्य भदन्त ! प्रतिक्रामामि, निन्दामि, गर्हे, आत्मानं
व्युत्सृजामि । द्वितीये भदन्त ! महाव्रते उपस्थितोऽस्मि, सर्वस्मान्मृषावादाद्विरमणम् ॥ २ ॥

‘ से कोहा वा० ’—क्रोधाद्वा लोभाद्वा इत्यनेन आद्यन्तग्रहणान्मानमायापरिग्रहः, भयाद्वा हास्याद्वा
इत्यनेन तु भेदपक्षकलहाऽभ्याख्यानादिपरिग्रहः, नैव स्वयं मृषां वदामि, नैवाऽन्यैर्मृषां वादयामि, मृषां वदतोऽप्यन्यान्
समनुजानामीति ॥ २ ॥

अहावरे तच्चे भंते ! महव्वए अदिण्णादाणाओ वेरमणं । सच्चं भंते ! अदिण्णादाणं पच्चक्खामि,
से गामे वा नगरे वा रण्णे वा अप्पे वा बहुं वा अणुं वा थूलं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा, नेव सयं
अदिण्णं गिण्हिज्जा नेवण्णेहिं अदिण्णं गिण्हविज्जा अदिण्णं गिण्हंते वि अण्णे न समणुजाणिज्जा,

॥ ५२ ॥

जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करोमि न कारवेमि करंतं पि अण्णं न समणुजाणामि । तस्स भंते ! पडिद्धमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि । तच्चे भंते ! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ अदिण्णादाणाओ वेरमणं ॥ ३ ॥

छा० अथापरस्मिन्तृतीये भदन्त ! महाव्रतेऽदत्तादानाद्विरमणम् । सर्वं भदन्त ! अदत्तादानं प्रत्याख्यामि, अथ ग्रामे वा नगरे वाऽरण्ये वाऽल्पं वा बहु वाऽणु वा स्थूलं वा चित्तवद्वाऽचित्तवद्वा, नैव स्वयमदत्तं गृह्णीयात्, नैवाऽन्यैरदत्तं ग्राहयेत्, अदत्तं गृह्णतोऽप्यन्यान्न समनुजानीयात्, यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन मनसा वचसा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि । तस्य भदन्त ! प्रतिक्रामामि, निन्दामि, गर्हे, आत्मानं व्युत्सृजामि । तृतीये भदन्त ! महाव्रते उपस्थितोऽस्मि, सर्वस्माद्दत्तादानाद्विरमणम् ॥ ३ ॥

‘क्षे गावे वा०’—ग्रामे वा, नगरे वा, अरण्ये वा, इत्यनेन क्षेत्रपरिग्रहः, तत्र ग्रसति बुद्ध्यादीन् गुणानिति ग्रामः, नाऽस्मिन् करो विद्यते इति नकरम्, अरण्यं काननादि, तथाऽल्पं वा, बहु वा, अणु वा, स्थूलं वा, चित्तवद्वा, अचित्तवद्वा, इत्यनेन द्रव्यपरिग्रहः, तत्राऽल्पं मूल्यत एरण्डकादि, बहु वज्रादि, अणु प्रमाणतो वज्रादि, स्थूलमेरण्डकादि, एतच्च चित्तवद्वा अचित्तवद्देति चेतनाऽचेतनमित्यर्थः । ‘णेव सयं अदिण्णं गिण्हिज्जात्ति’—नैव स्वयमदत्तं गृह्णामि, नैवाऽन्यैरदत्तं ग्राहयामि, अदत्तं गृह्णतोऽप्यन्यान् न समनुजानामि, इत्येतद् यावज्जीवमित्यादि ॥ ३ ॥

अहावरे चउत्थे भंते ! महव्वए मेहुणाओ वेरमणं । सव्वं भंते ! मेहुणं पच्चक्खामि, से दिव्वं वा माणुसं वा तिरिक्खजोणिअं वा, नेव सयं मेहुणं सेविज्जा, नेवण्णेहिं मेहुणं सेवाविज्जा, मेहुणं सेवन्ते वि अण्णे न समणुजाणिज्जा, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करोमि न कारवेमि करंतं पि अण्णं न समणुजाणामि । तस्स भंते ! पडिक्कामामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि । चउत्थे भंते ! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं ॥ ४ ॥

छा० अथापरस्मिंश्चतुर्थे ! भदन्त महाव्रते मैथुनाद्विरमणम् । सर्वं भदन्त ! मैथुनं प्रत्याख्यामि, अथ दिव्यं वा मानुष्यं वा तैर्यग्योनं वा, नैव स्वयं मैथुनं सेवेत, नैवान्यैर्मैथुनं सेवयेत, मैथुनं सेवमानानप्यन्यान् समनुजानीयात्, यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन मनसा वचसा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि । तस्य भदन्त ! प्रतिकामामि, निन्दामि, गर्हे, आत्मानं व्युत्सृजामि । चतुर्थे भदन्त ! महाव्रते उपस्थितोऽस्मि, सर्वस्मान्मैथुनाद्विरमणम् ॥ ४ ॥

‘ से दिव्वं० ’— दैवं वा मानुषं वा तैर्यग्योनं वा, ‘ नेव सयं मेहुणं सेविज्जात्ति ’— नैव स्वयं मैथुनं सेवे, नैवान्यैर्मैथुनं सेवयामि, मैथुनं सेवमानानप्यन्यान् न समनुजानामीत्येतद् यावज्जीवमित्यादि ॥ ४ ॥

अहावरे पंचमे भंते ! महव्वए परिग्गहाओ वेरमणं । सव्वं भंते ! परिग्गहं पच्चक्खामि, से अप्पं वा बह्वं वा अणुं वा थूलं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा, नेव सयं परिग्गहं परिगिण्हिज्जा, नेव-

ण्णेहिं परिग्गहं परिगिण्हाविज्जा, परिग्गहं परिगिण्हंते वि अण्णे न समणुजाणिज्जा, यावज्जीवाए तिविहं
तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करोमि न कारवेमि करंतं पि अण्णं न समणुजाणामि । तस्स भंते !
पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसरामि । पंचमे भंते ! महव्वए उवाट्ठिओमि सव्वाओ
परिग्गहाओ वेरमणं ॥ ५ ॥

छा० अथापरस्मिन् पञ्चमे भदन्त ! महाव्रते परिग्रहाद्विरमणम् । सर्वं भदन्त ! परिग्रहं प्रत्या-
ख्यामि, अथाऽल्पं वा बहुं वाऽणुं वा स्थूलं वा चित्तवन्तं वाऽचित्तवन्तं वा, नैव स्वयं परिग्रहं परिगृह्णी-
यात्, नैवाऽन्यैः परिग्रहं परिग्राहयेत्, परिग्रहं परिगृह्णतोऽप्यन्यान् समनुजानीयात्, यावज्जीवं त्रिविधं
त्रिविधेन मनसा वचसा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि । तस्य भदन्त !
प्रतिक्रामामि, निन्दामि, गर्हे, आत्मानं व्युत्सृजामि । पञ्चमे भदन्त ! महाव्रते उपस्थितोऽस्मि, सर्व-
स्मात्परिग्रहाद्विरमणम् ॥ ५ ॥

‘से अणं वा०’—अल्पं वेत्यादि, व्याख्या पूर्ववज्ज्ञेया, ‘नैव सयं परिग्रहं परिगिह्णिज्जात्ति’—नैव स्वयं
परिग्रहं परिगृह्णामि, नैवाऽन्यैः परिग्रहं परिग्राहयामि, परिग्रहं परिगृह्णतोऽप्यन्यान् न समनुजानामि, इत्येतद् यावज्जी-
वमित्यादि ॥ ५ ॥

अहावरे छट्ठे भंते ! वए राइभोअणाओ वेरमणं । सव्वं भंते ! राइभोअणं पच्चक्खामि, से
असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा, नैव सयं राइं भुंजिज्जा, नेवण्णेहिं राइं भुंजाविज्जा, राइं

भुंजंते वि अण्णे न समणुजाणिज्जा, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करोमि न कारवेमि करंतं पि अण्णं न समणुजाणामि । तस्स भंते ! पडिक्कमामि, निंदामि, गारिहामि, अप्पाणं वोसिरामि । छट्ठे भंते ! वए उवट्ठिओमि सत्त्वाओ राइभोअणाओ वेरमणं ॥ ६ ॥

छा० अथापरस्मिन् पठे भदन्त ! व्रते रात्रिभोजनाद्विरमणम् । सर्वं भदन्त ! रात्रिभोजनं प्रत्याख्यामि, अथाशनं वा पानं वा खाद्यं वा स्वाद्यं वा, नैव स्वयं रात्रौ भुञ्जीत, नैवाऽन्यान् रात्रौ भोजयेत्, रात्रौ भुञ्जानानप्यन्यान् समनुजानीयात्, यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन मनसा वचसा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि । तस्य भदन्त ! प्रतिक्रियामामि, निन्दामि, गर्हे, आत्मानं व्युत्सृजामि । पठे भदन्त ! व्रते उपस्थितोऽस्मि, सर्वस्माद्रात्रिभोजनाद्विरमणम् ॥ ६ ॥

‘से असणं०’—अशनं वा पानं वा खाद्यं वा स्वाद्यं वा, अशयत इत्यशनम्—ओदनादि, पीयत इति पानं—मृद्धीकापानादि, खाद्यत इति खाद्यं—खर्जूरादि, स्वाद्यत इति स्वाद्यं—ताम्बूलादि, ‘नेव सयं राइं भुंजिज्जा’—नैव स्वयं रात्रौ भुञ्जे, नैवाऽन्यान् रात्रौ भोजयामि, रात्रौ भुञ्जानानप्यन्यान् न समनुजानामि, इत्येतद् यावज्जीवमित्यादि पूर्ववत्, सर्वत्र शेषम् ॥ ६ ॥ समस्तप्रज्ञाऽभ्युपगमख्यापनायाऽऽह—

इच्चेआइं पंचमहज्जयाइं राइभोअणवेरमणछट्ठाइं अत्तहिअट्ठाए उवसंपज्जित्ताणं विहरामि ।
छा० इत्येतानि पञ्च महाव्रतानि रात्रिभोजनविरमणपष्ठानि-आत्माहितार्थायोपसम्पद्य विहरामि ।

‘इत्थेआहं०’-इत्येतानि पञ्चमहाव्रतानि रात्रिभोजनाविरमणषष्ठानि, किमित्याह-आत्माहिताय-आत्म-
हितो मोक्षः, तदर्थम्, अनेन अन्याऽर्थं तत्त्वतो व्रताऽभावमाह, तदभिलाषाऽनुमत्या हिंसादावनुमत्यादिभावात्,
उपसम्पद्य-सामीप्येनाऽङ्गीकृत्य व्रतानि विहरामि-मुसाधुविहारेण, तदभावेऽङ्गीकृतानामपि व्रतानामभावात् । उक्तश्चा-
रिधर्मः, साम्प्रतं यतनाया अवसरः, तथा चाऽऽह-

से भिक्षु वा, भिक्षुणी वा, संजय-विरय-पडिहय-पञ्चक्खाय-पावकम्मे, दिआ वा, राओ
वा, एगओ वा, परिसागओ वा, सुत्ते वा, जागरमाणे वा, से पुढवीं वा, भित्तिं वा, सिलं वा, लेलुं वा,
ससरक्खं वा कायं, ससरक्खं वा वत्थं, हत्थेण वा, पाएण वा, कट्ठेण वा, कलिं चेण वा, अंगुलिआए
वा, सिलागाए वा, सिलागहत्थेण वा, न आलिहिज्जा, न विलिहिज्जा, न घट्टिज्जा, न भिंदिज्जा, अण्णं
न आलिहाविज्जा, न विलिहाविज्जा, न घट्टाविज्जा, न भिंदाविज्जा, अण्णं आलिहंतं वा विलिहंतं वा
घट्टंतं वा भिंदंतं वा न समणुजाणिज्जा, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि
न कारवेमि करंतं पि अण्णं न समणुजाणामि । तस्स भंते ! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि,
अप्पाणं वोसिरामि ॥ १ ॥

छा० स भिक्षुर्वा, भिक्षुकी वा, संयत-विरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मा, दिवा वा,
रात्रौ वा, एकाको वा, परिपद्गतो वा, सुप्तो वा, जाग्रद्वा, स पृथ्वीं वा, भित्तिं वा, शिलां वा, लेलुं

पा, सरजस्कं वा कायं, सरजस्कं वा वस्त्रं, हस्तेन वा, पादेन वा, काष्ठेन वा, कलिजेन
(कलिङ्गेन) वा, अङ्गुल्या वा, शलाकया वा, शलाकाहस्तेन वा, नालिखेत्, न विलिखेत्,
न घट्टयेत्, न भिन्द्यात्, अन्येन नालेखयेत्, न विलेखयेत्, न घट्टयेत्, न भेदयेत्, अन्यमालिखन्तं
वा, विलिखन्तं वा, घट्टयन्तं वा, भिन्दन्तं वा, न समनुजानीयात्, यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन
मनसा वचसा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि । तस्य भदन्त ! प्रति-
क्षामामि, निन्दामि, गंर्हं, आत्मानं व्युत्सृजामि ॥ १ ॥

‘ से भिक्षू वा० ’-स इति निर्देशो, स योऽसौ महाव्रतयुक्तः, ‘ भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा ’-आरम्भत्यागाद्
धर्मताय-शतनाय भिक्षणशीलो भिक्षुः, एवं भिक्षुक्यरि, पुरुषोत्तमो धर्म इति स विशि(शे)ष्यते, तद्विशेषणानि
च भिक्षुस्या अपि द्रष्टव्यानि, इत्याह- ‘ संयत-विरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मा, ’-तत्र सामस्त्येन यतः
संयतः-सर्वदशप्रकारसंयमोपेतः, विविधमनेकधा द्वादशविधे तपसि रतो विरतः, प्रतिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मति-
प्रनिर्दत्तं रिधिनिहासतो ग्रन्थिभेदेन, प्रत्याख्यानं-हेत्वभायतः पुनर्बुद्ध्यभावेन पापं कर्म-ज्ञानावरणीयादि येन स
तथाविधः, ‘ दिवा वा रात्रौ वा एको वा परिपद्गतो वा सुप्तो वा जाग्रद्वा, ’ रात्रौ सुप्तो दिवा जाग्रत्, कारणिक
एकः शेषकालं परिपद्गतः, इदं वक्ष्यमाणं न कुर्यात्, ‘ से पुढ० ’-तदर्थः ‘ से ’ शब्दः, ‘ पृथ्वी वा, भित्ति वा,
शिला वा, लोटं वा ’-तत्र पृथ्वी-लोटाविरहिता, भित्तिर्नदीतटी, शिन्ना-विशालः पाषाणः, लोटः प्रसिद्धः, तथा
सद्व्रजता-भरणपाशुलशनेन वर्तत इति सरजस्कः, तं सरजस्कं वा कायं, तथा सरजस्कं वा वस्त्रं-चोलपट्टकादि,

अध्या० ४

॥ ५७ ॥

एतत्किमित्याह—हस्तेन वा, पादेन वा, काष्ठेन वा, कलिञ्चेन वा—क्षुद्रकाष्ठरूपेण, अङ्गुल्या वा, शलाकया वा—अयः—
शलाकादिरूपया, शलाकाहस्तेन वा शलाकासङ्घातरूपेण । ‘ नालिहिज्जति ’—‘ नाऽऽलिखेत्, न विलिखेत्, न
घट्टयेत्, न भिन्द्यात् ’—तत्रेषत्सकृद्वाऽऽलेखनम्, नितरामनेकशो वा विलेखनम्, घट्टनं—चालनम्, भेदो विदारणम्,
एतत्स्वयं न कुर्यात् (अन्यमन्येन वा नालेखयेत्), न विलेखयेत्, न घट्टयेत्, न भेदयेत्, तथाऽन्यं स्वत एवाऽऽ-
लिखन्तं वा विलिखन्तं वा घट्टयन्तं वा भिन्दन्तं वा न समनुजानीयात्, इत्यादि पूर्ववत् ॥ १ ॥

से भिक्खु वा, भिक्खुणी वा, संजय—विरय—पडिहय—पच्चक्खाय—पावक्कमे, दिआ वा,
राओ वा, एगओ वा, परिसागओ वा, सुत्ते वा, जागरमाणे वा, से उदगं वा, ओसं वा, हिमं वा, महिअं
वा, करगं वा, हरतणुगं वा, सुद्धोदगं वा, उदउल्लं वा कायं, उदउल्लं वा वत्थं, ससिणिद्धं वा कायं,
ससिणिद्धं वा वत्थं, न आमुसिज्जा, न संफुसिज्जा, न आवीलिज्जा, न पवीलिज्जा, न अक्खोडिज्जा, न
पक्खोडिज्जा, न आयाविज्जा, न पयाविज्जा, अण्णं न आमुसाविज्जा, न संफुसाविज्जा, न आवीला-
विज्जा, न पवीलाविज्जा, न अक्खोडाविज्जा, न पक्खोडाविज्जा, न आयाविज्जा, न पयाविज्जा,
अण्णं आमुसंतं वा संफुसंतं वा आवीलंतं वा पवीलंतं वा अक्खोडंतं वा पक्खोडंतं वा आयावंतं वा
पयावंतं वा न समणुजाणिज्जा, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कार-
वेमि करंतं पि अण्णं न समणुजाणामि । तस्स भंते ! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं
वोसिरामि ॥ २ ॥

छा० स भिक्षुर्वा, भिक्षुकी वा, संयत-विरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मा, दिवा वा, रात्रौ वा, एरुको वा, परिपट्गतो वा, सुप्तो वा, जाग्रद्वा, स उदकं वा, अवश्यायं वा, हिमं वा, मिहिकां वा, करकं वा, हरतनुं वा, शुद्धोदकं वा, उदकाद्रं वा कायं, उदकाद्रं वा वस्त्रं, सस्निग्धं वा कायं, सस्निग्धं वा वस्त्रं, नामृषेत्, न संस्पृशेत्, नाऽऽपीडयेत्, न प्रपीडयेत्, नाऽऽस्फोटयेत्, न प्रस्फोटयेत्, नाऽऽतापयेत्, न प्रतापयेत्, अन्येन नाऽऽमर्षयेत्, न संस्पर्शयेत्, नाऽऽपीडयेत्, न प्रपीडयेत्, नाऽऽस्फोटयेत्, न प्रस्फोटयेत्, नाऽऽतापयेत्, न प्रतापयेत्, अन्यमामृषन्तं वा, संस्पृशन्तं वा, आपीडयन्तं वा, प्रपीडयन्तं वा, आस्फोटयन्तं वा, प्रस्फोटयन्तं वा, आतापयन्तं वा, प्रतापयन्तं वा, न समनुजानीयात्, यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन मनसा वचसा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि । तस्य भदन्त ! प्रतिक्रामामि, निन्दामि, गर्हे, आत्मानं व्युत्सृजामि ॥ २ ॥

‘से भिक्षु वा०’—इत्यादि यावत् ‘जागरमाणे वाचि’ पूर्ववदेव । ‘से उदकं वा०’—तद्यथा—‘उदकं वा, अवश्यायं वा, हिमं वा, मिहिकां वा, करकं वा, हरतनुं वा, शुद्धोदकं वा,’ तत्रोदकं—सिरापानीयम्, अवश्यायः—स्नेहः, हिमं—स्त्यानोदकम्, मिहिका—धूमिका, करकः—रुठिनोदकम्, हरतनुर्भुवमुद्भिद्य तृणाद्यादिषु भवति, शुद्धोदकम्—अन्तरिक्षोदकम्, तथा ‘उदकाद्रं वा कायम्, उदकाद्रं वा वस्त्रम्,’ उदकाद्रता चेह गलद्विन्दुतुपाराधनन्तरोदितोदकमेदसमिश्रता । तथा ‘सस्निग्धं वा कायं, सस्निग्धं वा वस्त्रम्’ [अत्र स्नेहनं स्निग्धमिति भावे क्त-प्रत्ययः] सह स्निग्धेन वर्तत इति सस्निग्धः सस्निग्धं वा, सस्निग्धता चेह बिंदुरहिताऽनन्तरोदितोदकमेदसमिश्रता ।

एतत्किमित्याह—‘नामुसिज्जात्ति’—‘नामृषेत्, न संस्पृशेत्, नाऽऽसीडेत्, न प्रपीडेत्, नाऽऽस्फोटयेत्, न प्रस्फोटयेत्, नाऽऽतापयेत्, न प्रतापयेत्,’ तत्रेपत्सकृद्वा स्पर्शनमामर्षणम्, अतोऽन्यत्संस्पर्शनम्, एवमीषत्सकृद्वा (पीडनमा)ऽऽपीडनम्, विपरीतं प्रपीडनम्, एवमीषत्सकृद्वा (स्फोटनमा)ऽऽस्फोटनम्, अतोऽन्यत्प्रस्फोटनम्, एवमीषत्सकृद्वा (तापनमा)ऽऽतापनम्, विपरीतं प्रतापनम्, एतत्स्वयं न कुर्यात्, तथाऽन्यमन्येन वा नाऽऽमर्षयेत्, न संस्पर्शयेत्, नाऽऽपीडेत्, न प्रपीडेत्, नाऽऽस्फोटयेत्, न प्रस्फोटयेत्, नाऽऽतापयेत्, न प्रतापयेत्, तथाऽऽन्यं स्वत एवाऽऽमृषन्तं वा, संस्पृशन्तं वा, आपीडयन्तं वा, प्रपीडयन्तं वा, आस्फोटयन्तं वा, प्रस्फोटयन्तं वा, आतापयन्तं वा, प्रतापयन्तं वा, न समनुजानीयात्, इत्यादि पूर्ववत् ॥ २ ॥

से भिक्खू वा, भिक्खुणी वा, संजय-विरय-पडिहय-पच्चक्खाय-पावकम्मे, दिआ वा, राओ वा, एगओ वा, परिसागओ वा, सुत्ते वा, जागरमाणे वा, से अगणिं वा, इंगालं वा, मुम्मुरं वा, अर्च्चि वा, जालं वा, अलायं वा, सुद्धागणिं वा, उक्कं वा, न उंजिज्जा, न घट्टिज्जा, न उज्जालिज्जा, न निव्वाविज्जा, अण्णं न उंजाविज्जा, न घट्टाविज्जा, न उज्जालाविज्जा, न निव्वाविज्जा, अण्णं उंजंतं वा घट्टंतं वा उज्जालंतं वा निव्वावंतं वा न समणुजाणिज्जा, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं भेणेणं वायाए काएणं न करोमि न कारवेमि करंतं पि अण्णं न समणुजाणामि । तस्सं भंते ! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामिः॥ ३ ॥

१ ‘न उंजिज्जा, न घट्टिज्जा, न भिदिज्जा, न उज्जालिज्जा, न पुज्जालिज्जा, न निव्वाविज्जा’ इति पाठान्तरम् ।

छा० स भिक्षुर्वा, भिक्षुकी वा, संयत-विरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मा, दिवा वा, रात्रौ वा, एकाको वा, परिपूगतो वा, सुप्तो वा, जाग्रद्वा, सोऽग्निं वा, अङ्गारं वा, मुर्मुरं वा, अर्चिर्वा, ज्वालां वा, अलातं वा, शुद्धाग्निं वा, उल्कां वा, नोत्तिश्चेत्, न घट्टयेत्, नोज्ज्वालेत्, न निर्वापयेत्, अन्येन नोत्सेचयेत्, न घट्टयेत्, नोज्ज्वालेत्, न निर्वापयेत्, अन्यमुत्तिश्चन्तं वा, घट्टयन्तं वा, उज्ज्वालयन्तं वा, निर्वापयन्तं वा, न समनुजानीयात्, यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन मनसा वचसा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्यन्तमप्यन्यं न समनुजानामि । तस्य भदन्त ! प्रतिक्रामामि, निन्दामि, गर्हे, आत्मानं व्युत्सृजामि ॥ ३ ॥

‘से भिक्षु०’-इत्यादि यावत् ‘जाग्रमाणे वात्ति’ पूर्ववदेव । ‘से अग्निं वा०’-तद्यथा-‘अग्निं’वा, अङ्गारं वा, मुर्मुरं वा, अर्चिर्वा, ज्वालां वा, अलातं वा, शुद्धाग्निं वा, उल्कां वा, इहायःपिण्डानुगतोऽग्निः, ज्वाला-रहितोऽङ्गारः, विरलामिकणं मरु-मुर्मुरः, मूलाग्निविच्छिन्ना ज्वाला-अर्चिः, प्रतिबद्धा-ज्वाला, अलातम्-उल्मुकम्, निरिन्धनः-शुद्धोऽग्निः, उल्का-गगनाऽग्निः, एतत्किमित्याह-‘न उज्जेज्जा०’-‘नोत्तिश्चेत्, न घट्टयेत्, नोज्ज्वालेत्, न निर्वापयेत्’ तत्रोज्जनमुत्सेचनम्, घट्टनं-सजातीयादिना चालनम्, उज्ज्वालनं-व्यञ्जनादिभिर्वृद्ध्यापादनम्, निर्वापणं-विध्यापनम्, एतत्स्वयं न कुर्यात्, तथाऽन्यमन्येन वा नोत्सेचयेत्, न घट्टयेत्, नोज्ज्वालेत्, न निर्वापयेत्, तथाऽन्यं स्वत एवोत्सेचयन्तं वा, घट्टयन्तं वा, उज्ज्वालयन्तं वा, निर्वापयन्तं वा, न समनुजानीयात्, इत्यादि पूर्ववत् ॥ ३ ॥

से भिक्षू वा, भिक्षुणी वा, संजय-विरय-पडिहय-पञ्चक्खाय-पावकस्मे, दिआ वा, राओ वा, एगओ वा, परिसागओ वा, सुत्ते वा, जागरमाणे वा, से सिएण वा, विहुअणेण वा, तालिअंटेण वा, पत्तेण वा, पत्तभंगेण वा, साहाए वा, साहाभंगेण वा, पिहुणेण वा, पिहुणहत्थेण वा, चेलेण वा, चेलकण्णेण वा, हत्थेण वा, मुहेण वा, अप्पणो वा कायं, बाहिरं वा वि पुग्गलं, न फुमिज्जा, न वीइज्जा, अण्णं न फुमाविज्जा, न वीआविज्जा, अण्णं फुमंतं वा वीअंतं वा न समणु-जाणिज्जा, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं न करोमि न कारवेमि करंतं पि अण्णं न समणुजाणामि ! तस्स भंते ! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि ॥ ४ ॥

छा० स भिक्षुर्वा, भिक्षुकी वा, संयत-विरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मा, दिवा वा, रात्रौ वा, एकको वा, परिपद्गतो वा, सुप्तो वा, जाग्रद्वा, स सिचयेन (सितेन) वा, विधवनेन वा, तालवृन्तेन वा, पत्रेण वा, पत्रभङ्गेन वा, शाखया वा, शाखाभङ्गेन वा, पेहुणेन वा, पेहुणहस्तेन वा, चेलेन वा, चेलकर्णेन वा, हस्तेन वा, मुखेन वा, आत्मनो वा कायं, बाह्यं वाऽपि पुद्गलं न फूत्कुर्यात्, न व्यजेत, अन्येन न फूत्कारयेत्, न वीजयेत् (व्याजयेत्), अन्यं फूत्कुर्वन्तं वा, व्यजन्तं वा, न समनु-जानीयात्, यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन मनसा वचसा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि । तस्य भदन्त ! प्रतिक्रामामि, निन्दामि, गर्हे, आत्मानं व्युत्सृजामि ॥ ४ ॥

‘से भिक्खू०’-इत्यादि यावत् ‘जागरमाणे वत्ति’ पूर्ववदेव । ‘से सिएण वा०’-तद्यथा-‘सितेन वा, विधवनेन वा, तालवृन्तेन वा, पत्रेण वा, पत्रभङ्गेन वा, शाखया वा, शाखामङ्गेन वा, पेहुणेन वा, पेहुणहस्तेन वा, चेलेन वा, चेलकृर्णेन वा, हस्तेन वा, मुखेन वा,’ इह सितं-चामरम्, विधवनं-व्यञ्जनं, तालवृन्तं तदेव, मध्यग्रहणच्छिद्रं द्विषुटम्, पत्रं-पत्रिणीपत्रादि, शाखा-वृक्षडालम्, शाखामङ्गस्तदेकदेशः, पेहुणं-मयूरपिच्छादि, पेहुणहस्तकस्तत्समूहः, चेल-वस्त्रम्, चेलकृर्णस्तदेकदेशः, हस्तमुखे प्रतीते (हस्तमुखं प्रतीतम्), एभिः किमित्याह-‘आत्मनो वा कायं’ स्व-देहमित्यर्थः, ‘बाह्वं वा पुद्गलम्’ उष्णोदनादि, एतत्किमित्याह-‘न कुमेज्जा०’-‘न फूत्कुर्यात्, न व्यञ्जयेत् (व्यजेत्)’ तत्र फूत्करणं-मुखेन धमनम्, व्यञ्जनं (बीजनं)-चामरादिना वायुकरणम्, एतत्स्वयं न कुर्यात्, तथाऽन्यमन्येन वा न फूत्कारयेत्, न बीजयेत्, अन्य स्वत एव फूत्कुर्वन्तं वा, बीजयन्तं वा, न समनुजानीयात्, इत्यादि पूर्ववदेव ॥४॥

‘से भिक्खू वा, भिक्खुणी वा, संजय-विरय-पडिहय-पञ्चकसाय-पावकम्मे, दिआ वा, रांओ वा, एगओ वा, परिसागओ वा, सुत्ते वा, जागरमाणे वा, से बीएसु वा, बीअपइट्ठेसु वा, खट्ठेसु वा, खट्ठपइट्ठेसु वा, जाएसु वा, जायपइट्ठेसु वा, हरिएसु वा, हरिअपइट्ठेसु वा, छिण्णेसु वा, छिण्णपइट्ठेसु वा, सच्चित्तेसु वा, सच्चित्तकोलपडिनिस्सिएसु वा, न गच्छिज्जा, न चिट्ठिज्जा, न निसीइज्जा, न तुअट्ठिज्जा, अण्णं न गच्छाविज्जा, न चिट्ठाविज्जा, न निसीआविज्जा, न तुअट्ठाविज्जा, अण्णं गच्छंतं वा चिट्ठंतं वा निसीअंतं वा तुअट्ठंतं वा न समणुजाणिज्जा, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए

काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि -अण्णं न समणुजाणामि । तस्स भंते ! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पणं वोसिरामि ॥ ५ ॥

छा० स भिक्षुर्वा, भिक्षुकी वा, संयत-विरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मा, दिवा वा, रात्रौ वा, एकको वा, परिषद्गतो वा, सुप्तो वा, जाग्रद्वा, स बीजेषु वा, बीजप्रतिष्ठेषु वा, रुद्धेषु वा, रुद्धप्रतिष्ठेषु वा, जातेषु वा, जातप्रतिष्ठेषु वा, हरितेषु वा, हरितप्रतिष्ठेषु वा, छिन्नेषु वा, छिन्नप्रतिष्ठेषु वा, सचित्तेषु वा, सचित्तकोलप्रतिनिश्चितेषु वा, न गच्छेत्, न तिष्ठेत्, न निपीदेत्, न त्वग्वर्तेत (स्वप्यात्), अन्यं न गमयेत्, न स्थापयेत्, न निपादयेत्, न त्वग्वर्तयेत् (स्वापयेत्), अन्यं गच्छन्तं वा, तिष्ठन्तं वा, निपीदन्तं वा, त्वग्वर्तमानं (स्वपन्तं) वा, न समनुजानीयात्, यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन मनसा वचसा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि । तस्य भदन्त ! प्रतिक्रामामि, निन्दामि, गर्हे, आत्मानं व्युत्सुजामि ॥ ५ ॥

‘से भिक्षू वा०’-इत्यादि यावत् ‘जागरमाणे वत्ति’ पूर्ववदेव । ‘से बीएसु वा०’-तद्यथा-‘बीजेषु वा, बीजप्रतिष्ठितेषु वा, रुद्धेषु वा, रुद्धप्रतिष्ठितेषु वा, जातेषु वा, जातप्रतिष्ठितेषु वा, हरितेषु वा, हरितप्रतिष्ठितेषु वा, छिन्नेषु वा, छिन्नप्रतिष्ठितेषु वा, सचित्तेषु वा, सचित्तकोलप्रतिष्ठितेषु वा’, इह बीज-शाल्यादि, तत्प्रतिष्ठितम्-आसनशयनादि गृह्यते, एव सर्वत्र वेदितव्यम्, रुढानि-स्फुटितबीजानि, जातानि-स्तम्बीभूतानि, हरितानि-

१ ‘सचित्तकोलप्रतिनिश्चितेषु वा’-इति च पाठः ।

षड्विंश
॥ ६५ ॥

दूर्वादीनि, छिन्नानि—परश्वादिभिर्वृक्षात्पृथक्स्थापितानि, आर्द्राणि—अपरिणतानि तदङ्गानि गृह्यन्ते । सचित्तान्यण्ड-
कादीनि, कोलो—घुणः, तत्प्रतिनिश्चितानि—तदुपरिवर्तीनि दूर्वादीनि गृह्यन्ते, एतेषु किमित्याह—‘न गच्छिज्जात्ति—’
‘न गच्छेत्, न तिष्ठेत्, न निषीदेत्, न त्वग्वर्तेत’—तत्र गमनमन्यतोऽऽन्यत्र स्थानमेकत्रैव, निषी(प)दनमुपवेशनम्,
त्वग्वर्तनं—स्वपनम्, एतत्स्वयं न कुर्यात्, तथाऽन्यमेतेषु न गर्भयेत्, न स्थापयेत्, न निषादयेत्, न स्वापयेत्,
तथाऽन्यं स्वत एव गच्छन्तं वा, तिष्ठन्तं वा, निषीदन्तं वा, स्वपन्तं वा, न समनुजानीयात्, यावज्जीवमित्यादि
पूर्ववदेव ॥ ५ ॥

से भिक्षू वा, भिक्षुणी वा, संजय—विरय—पडिहय—पञ्चक्खाय—पावकम्मे, दिआ वा, राओ
वा, एगओ वा, परिसागओ वा, सुत्ते वा, जागरमाणे वा, से कीडं वा, पयंगं वा, कुन्थुं वा, पिवी
(पी)लिअं वा, हत्थंसि वा, पायंसि वा, बाहुंसि वा, उरुंसि वा, उदरंसि वा, सीसंसि वा, वत्थंसि
वा, पडिग्गहंसि वा, कंचलंसि वा, पायपुंछणंसि वा, रयहरणंसि वा, गुच्छगंसि वा, उंडगंसि वा,
दंडगंसि वा, पीढगंसि वा, फलगंसि वा, सिज्जंसि वा, संथारगंसि वा, अण्णयरंसि वा तहप्पगारे
(रंसि) उवगरण्जाए (यंसि), तओ संजयामेव पडिलेहिअ पडिलेहिअ पमज्जिअ पमज्जिअ एगंतम-
घणिज्जा, नो णं संघायमावज्जिज्जा ॥ ६ ॥

छा० स भिक्षुर्वा, भिक्षुकी वा, संयत—विरत—प्रतिहत—प्रत्याख्यात—पापकर्मा, दिवा वा, रात्रौ
वा, एकको वा, परिपद्गतो वा, सुप्तो वा, जाग्रद्वा, स कीटं वा, पतङ्गं वा, कुन्थुं वा, पिपीलिकां वा,

अध्या० ४

॥ ६५ ॥

हस्ते वा, पादे वा, बाहौ वा, ऊरौ वा, उदरे वा, शीर्षे वा, वस्त्रे वा, पतद्ग्रहे वा, कम्बले वा, पादप्रोच्छने वा, रजोहरणे वा, गुच्छके वा, उन्दुके वा, दण्डके वा, पीठके वा, फलके वा, शय्यायां वा, संस्तारके वा, अन्यतरस्मिन्वा तथाप्रकारे उपकरणजाते, ततः संयतमेव प्रतिलिख्य प्रतिलिख्य प्रमृज्य प्रमृज्य एकान्तमपनयेत्, नैनं सङ्घातमापादयेत् ॥ ६ ॥

‘से भिक्षू वा०’—इत्यादि यावत् ‘जागरमाणे वत्ति’ पूर्ववदेव । ‘से कीटं वा०’—‘स कीटं वा, पतङ्गं वा, कुन्थुं वा, पिपीलिकां वा,’ किमित्याह—‘हस्ते वा, पादे वा, बाहौ वा, ऊरुणि (ऊरौ) वा, उदरे वा, वस्त्रे वा, रजोहरणे वा, गुच्छे वा, उन्दुके वा, दण्डके वा, पीठे वा, फलके वा, शय्यायां वा, संस्तारके वा, अन्यतरस्मिन्वा तथाप्रकारे साधुक्रियोपयोगिनि उपकरणजाते’ कीटादिरूपं असं कथञ्चिदापतितं सन्तं संयत एव सत्प्रयत्नेन प्रत्युपेक्ष्य प्रत्युपेक्ष्य पौनःपुन्येन, सम्यक्, प्रमृज्य प्रमृज्य पौनःपुन्येनैव, सम्यक्, किमित्याह—एकान्ते तस्याऽनुपघातके स्थाने, अपनयेत्—परित्यजेत्, नैनं सङ्घातमापादयेत्, नैनं असं सङ्घातं—परस्परगात्रसंस्पर्शपीडारूपम्, आपादयेत्—प्रापयेत् । अनेन परितापनादिप्रतिषेध उक्तो वेदितव्यः [एकग्रहणे तज्जातीयग्रहणात्], अन्याऽनुकारणाऽनुमतिप्रतिषेधश्च, शेषमत्र प्रकटार्थमेव, नवरम्—‘उडुङ्गं’—स्थण्डिलम्, शय्या—संस्तारकी वसतिर्वा ॥ ६ ॥

इत्युक्ता यतना, गतश्रुतुर्थोऽधिकारः । साम्प्रतमुपदेशाख्यः पञ्चम उच्यते—

अजयं चरमाणो उ पाणिभूयाइं हिंसइ ।

बंधइ पावयं कम्मं तं से होइ कडुअं फलं ॥ १ ॥

छा० अयतं चरंस्तु, प्राणिभूतानि हिनस्ति ।

बध्नाति पापकं कर्म, तत्तस्य भवति कटुक-फलम् ॥ १ ॥

अध्य० ४

‘अयतं चरन्०’-अयतमनुपदेशेन-असूत्राऽऽज्ञयेति ‘क्रियाविशेषणमेतत्,’ चरन्-गच्छन्, तुरेवकाराऽर्थः, अयतमेव चरन्-गच्छन्-ईर्यासमितिमुल्लङ्घ्य, न त्वन्यथा, किमित्याह-‘प्राणिभूतानि हिनस्ति’ प्राणिनो-द्वीन्द्रियादयः, भूतानि-एकेन्द्रियाः, तानि हिनस्ति प्रमादाऽनाभोगाभ्यां व्यापादयतीति भावः, तानि च हिंसन् बध्नाति पापं कर्म-अकुशलपरिणामादादत्ते क्लिष्टं ज्ञानाऽऽवरणीयादि, ‘तत् से भवति कटुकं फलम्’-तत् पापं कर्म से-तस्य अग्रतचारिणो भवति कटुकफलम् [इत्यनुस्वारोऽलाक्षणिकः]-अशुभफलं भवति मोहादिहेतुतया विपाकदारुणमित्यर्थः ॥ १ ॥

अजयं चिदुमाणो उ पाणिभूयाइं हिंसइ ।

बंधइ पावयं कम्मं तं से होइ कटुअं फलं ॥ २ ॥

छा० अयतं तिष्ठंस्तु, प्राणिभूतानि हिनस्ति ।

बध्नाति पापकं कर्म, तत्तस्य भवति कटुक-फलम् ॥ २ ॥

॥ ६७ ॥

‘अजयं चिदुमाणो०’-एवमयतं तिष्ठन्-ऊर्ध्वस्थानेन असमाहितो हस्तपादादि विक्षिपन्, शेषं सर्वत्र पूर्ववत् ॥ २ ॥

अजयं आसमाणो उ पाणिभूयाइं हिंसइ ।

बंधइ पावयं कम्मं तं से होइ कहुअं फलं ॥ ३ ॥

छा० अयतमासीनस्तु, प्राणिभूतानि हिनस्ति ।

बध्नाति पापकं कर्म, तत्तस्य भवति कटुक-फलम् ॥ ३ ॥

‘अजयं आसमाणो०’—एवमयतमासीनो निषण्णतया अनुपयुक्त आकुञ्चनादिभावेन ॥ ३ ॥

अजयं सयमाणो उ पाणिभूयाइं हिंसइ ।

बंधइ पावयं कम्मं तं से होइ कहुअं फलं ॥ ४ ॥

छा० अयतं शयानस्तु, प्राणिभूतानि हिनस्ति ।

बध्नाति पापकं कर्म, तत्तस्य भवति कटुक-फलम् ॥ ४ ॥

‘अजयं सयमाणो०’—एवमयतं स्वप्न-असमाहितो, दिवा प्रकामशय्यादिना वा ॥ ४ ॥

अजयं भुंजमाणो उ पाणिभूयाइं हिंसइ ।

बंधइ पावयं कम्मं तं से होइ कहुअं फलं ॥ ५ ॥

छा० अयतं भुञ्जानस्तु, प्राणिभूतानि हिनस्ति ।

बध्नाति पापकं कर्म, तत्तस्य भवति कटुक-फलम् ॥ ५ ॥

‘अजयं भुंजमाणो०’—अयतं भुञ्जानो निष्प्रयोजनं प्रणीतं फाकशृगालभक्षितादिना वा ॥ ५ ॥

अजयं भासमाणो उ पाणिभूयाइं हिंसइ ।

बंधइ पावयं कम्मं तं से होइ कडुअं फलं ॥ ६ ॥

छा० अयतं भापमाणस्तु, प्राणिभूतानि हिनस्ति ।

बध्नाति पापकं कर्म, तत्तस्य भवति कटुक-फलम् ॥ ६ ॥

‘अजयं भासमाणो०’—अयतं भापमाणो गृहस्थभाषया निष्ठुरमन्तरभाषादिना वा ॥ ६ ॥

कहं चरे कहं चिट्ठे कहमासे कहं सए ।

कहं भुंजंतो भासंतो पावं कम्मं न बंधइ ? ॥ ७ ॥

छा० कथं चरेत्कथं तिष्ठेत्, कथमासीत् कथं स्वपेत् ।

कथं भुञ्जानो भापमाणः, पापं कर्म न बध्नाति ? ॥ ७ ॥

जयं चरे जयं चिट्ठे जयमासे जयं सए ।

जयं भुंजंतो भासंतो पावं कम्मं न बंधइ ॥ ८ ॥

छा० यतं चरेद्यतं तिष्ठेत्, यतमासीत् यतं स्वपेत् ।

यतं भुञ्जानो भापमाणः, पापं कर्म न बध्नाति ॥ ८ ॥

‘कहं चरे०’-अत्राह-यद्येवं पापकर्मबन्धः, ततः कथं चरेत्? ॥ ७ ॥ आचार्य आह-‘जयं चरे०’-

सुगमा ॥ ८ ॥

वदन्ति०
॥ ७० ॥

सर्वभूअप्यभूअस्स, संमं भूआइं पासओ ।

पिहिआसवस्स दंतस्स पावं कम्मं न बंधइ ॥ ९ ॥

छा० सर्वभूतात्मभूतस्य, सम्यग्भूतानि पश्यतः ।

पिहितास्रवस्य दान्तस्य, पापं कर्म न बध्नाति ॥ ९ ॥

‘सर्वभूअ०’-अस्या व्याख्या आवर्श पुस्तके नास्ति, परत्र लेशतो गाथान्तरे वर्तते, सेत्थम्-‘सर्वाणि भूतानि-आत्मभूतानि-आत्मप्रायाणि यस्य स तथा तस्य [द्वितीयाऽर्थे पृष्ठी], सम्यग्भूतानि-पृथिव्यादीनि पश्यतः, पिहिताऽऽस्रवं-स्थगितप्राणातिपातादिकं(कस्य), दान्तस्य-इन्द्रियनोइन्द्रियदमेन कर्मताऽऽपन्नं(अस्य) पापं कर्म न बध्नाति ॥ ९ ॥ प्रत्यन्तरात् । एवं सति सर्वभूतदयावतः पापकर्मबन्धो न भवति, इति, ततश्च सर्वाऽऽत्मना दयायामेव यतितव्यम्, अलं ज्ञानाऽभ्यासेनाऽपि? (नेति), मा भूदव्युत्पन्न-विनेय-मति-विभ्रम इति तदपोहाय आह-

पढमं नाणं तओ दया एवं चिहुइ सव्वसंजए ।

अन्नाणी किं काही किं वा नाहिइ छेअ पावगं? ॥ १० ॥

छा० प्रथमं ज्ञानं ततो दया, एवं तिष्ठति सर्वसंयतः ।

अज्ञानी किं करिष्यति, किं वा ज्ञास्यति छेकपापकम्? ॥ १० ॥

अध्य० ४

॥ ७० ॥

‘पढं नाणं०’—प्रथममादौ ज्ञानं ततो दया, ‘सूत्रोपदेशेन ईर्यासमितः, समाहितो हस्तपादाद्यविक्षेपेण, उपयुक्त आकुञ्चनायकरणेन, रात्रौ प्रकामशय्यापरिहारेण, सप्रयोजनमप्रणीतं प्रतरसिंहभक्षितादिना, साधुभाषया मृदु-
कालप्राप्तं, निरासवत्वात्—विहितानुष्ठानपरत्वात्, य आत्मवत्सर्वभूतानि पश्यतीति भावः’।

‘वीतरागोक्तेन विधिना पृथिव्यादीनि पश्यतः, स्थगितपञ्चास्रवस्य इन्द्रियनोइन्द्रियदमनेन न बध्यते’,
एवमनेन प्रकारेण ज्ञानपूर्वकक्रियाप्रतिपात्तिरूपेण तिष्ठति सर्वसंयतः । यः पुनरज्ञानी—साध्योपाय-फल-परिज्ञान-
विकलः, स किं करिष्यति ? सर्वत्राऽन्धतुल्यत्वात्, प्रवृत्ति—निवृत्ति—निमित्ताऽभावात्, किं वा कुर्वन् शास्यति
छेकं निषुणं हितं कालोचितं, ‘पापक वा’ अतो विपरीतम्, ततश्च तत्करणं भावतोऽकरणमेव, समग्रनिमित्ताभावात्,
अन्ध—प्रदीप्त—पलायन—धुणाऽक्षर—करणवत्, अत एव—अन्यत्राऽप्युक्तम्—

“ गीमत्थो अविहारो, वीओ गीमत्थमीसिओ भणिओ ” ।

इत्यादि । अतो ज्ञानाऽभ्यासः कार्यः ॥ १० ॥ तथा चाह—

सुच्चा जाणइ कल्लाणं सुच्चा जाणइ पावगं ।

उभयं पि जाणइ सुच्चा जं छेअं तं समापरे ॥ ११ ॥

छा० श्रुत्वा जानाति कल्याणं, श्रुत्वा जानाति पापकम् ।

उभयमपि जानाति श्रुत्वा, यच्छेकं तत्समाचरेत् ॥ ११ ॥

‘सुच्चा जाणइ०’—श्रुत्वा ससाधनस्वरूपविषाकं जानाति—‘कल्याणं—कल्यो मोक्षः, तमणति—नयति इति कल्याणं दयाऽऽख्यं संयमस्वरूपम्,’ तथा श्रुत्वा जानाति पापकम्—असंयमस्वरूपम्, उभयमपि संयमाऽसंयमस्वरूपम्—श्रावकोपयोगि जानाति श्रुत्वा, यतश्चैवमत इत्थं विज्ञाय यच्छेकं—निपुणम्, हितं—कालोचितं, तत्समाचरेत् ॥ ११ ॥

उक्तमेवार्थं स्पष्टयन्नाह—

जो जीवे वि न याणाइ अजीवे वि न याणइ ।

जीवाजीवे अयाणंतो कह सो नाहीइ संजमं ? ॥ १२ ॥

छा० यो जीवानपि न जानाति, अजीवानपि न जानाति ।

जीवानजीवानजानन्, कथं स ज्ञास्यति संयमम् ? ॥ १२ ॥

‘जो जीवे०’—यो जीवानपि पृथ्वीकायिकदिभेदभिन्नान् न जानाति, अजीवानपि—संयमोपघातिनो मद्यहिरण्यादीन् न जानाति । एवं जीवाऽजीवानजानन् कथमसौ ज्ञास्यति संयमम् ? तद्विषयाऽज्ञानादिति भावः ॥ १२ ॥

जो जीवे वि विआणाइ अजीवे वि विआणइ ।

जीवाजीवे विआणंतो सो उ (हु) नाहीइ संजमं ॥ १३ ॥

छा० यो जीवानपि विजानाति, अजीवानपि विजानाति ।

जीवानजीवान्विजानन्, स तु (हि) ज्ञास्यति संयमम् ॥ १३ ॥

‘जो जीवे०’—यो जीवानभिजानाति, अजीवानपि जानाति, जीवाऽजीवान् विजानन् स भवः शास्यति संयमम् ॥ १३ ॥

प्रतिपादितः पञ्चम उपदेशार्थाऽधिकारः । साम्प्रतं पठेऽधिकारे धर्मफलमाह—

अध्या० ४

जया जीवमजीवे य द्वौवि एए विआणइ ।

तया गइं बहुविहं सब्वजीवाण जाणइ ॥ १४ ॥

छा० यदा जीवमजीवश्च, द्वावप्येतौ विजानाति ।

तदा गतिं बहुविधां, सर्वजीवानां जानाति ॥ १४ ॥

‘जया जीव०’—यदा जीवानजीवांश्च द्वावप्येतौ विजानाति, तदा गतिं—नरकगत्यादिरूपां बहुविधां सर्वजीवानां जानाति, यथाऽवस्थित—जीवाऽजीव—परिज्ञानमन्तरेण गतिपरिज्ञानाऽभावात् ॥ १४ ॥ उत्तरोत्तरं फल-वृद्धिमाह—

जया गइं बहुविहं सब्वजीवाण जाणइ ।

तया पुण्णं च पावं च बंधं मुक्खं च जाणइ ॥ १५ ॥

छा० यदा गतिं बहुविधां, सर्वजीवानां जानाति ।

तदा पुण्यं च पापं च, बन्धं मोक्षं च जानाति ॥ १५ ॥

॥ ७३ ॥

‘जया गदं०’—यदा गतिं सर्वजीवानां जानाति तदा पुण्यं च पापं च बहुविधगतिनिबन्धनम्, तथा बन्धं जीवकर्मयोगात्सुखदुःखलक्षणम्, मोक्षं च तद्वियोगसुखलक्षणं जानाति ॥ १५ ॥

वश्यं०
॥ ७४ ॥

अध्य० ४

जया पुण्यं च पापं च बन्धं मुक्खं च जाणइ ।

तया निर्व्विदए भोए जे दिव्वे जे अ माणुसे ॥ १६ ॥

छा० यदा पुण्यं च पापं च, बन्धं मोक्षं च जानाति ।

तदा निर्व्विन्ते भोगान्, यान्दिव्यान्यांश्च मानुषान् ॥ १६ ॥

‘जया पुण्यं०’—तदा निर्व्विन्ते—मोहाऽभावात् सम्यग् विचारयति, असारान् दुःखस्वरूपतया भोगान् शब्दादीन् यान् दिव्यान् यांश्च मानुषान्, शेषास्तु वस्तुतो भोगा एव न भवन्ति ॥ १६ ॥

जया निर्व्विदए भोए जे दिव्वे जे अ माणुसे ।

तया चयइ संजोगं सब्भितरबाहिर ॥ १७ ॥

छा० यदा निर्व्विन्ते भोगान्, यान्दिव्यान्यांश्च मानुषान् ।

तदा त्यजति संयोगं, सांभ्यन्तर-बाह्यम् ॥ १७ ॥

‘जया निर्व्विदए०’—तदा त्यजति संयोगं सांभ्यन्तरबाह्यं—क्रोधादिहिरण्यादिसम्बन्धमित्यर्थः ॥ १७ ॥

॥ ७४ ॥

जया चयइ संजोगं सविंभतरवाहिरं ।

तया मुंडे भवित्ताणं पव्वइए अणगारिअं ॥ १८ ॥

छा० यदा त्यजति संयोगं, साभ्यन्तर-वाह्यम् ।

तदा मुण्डो भूत्वा, प्रव्रजत्यनगारताम् ॥ १८ ॥

‘जया चयइ०’—तदा मुण्डो भूत्वा द्रव्यतो भावतश्च, प्रव्रजति प्रकर्षेण व्रजति—अपवर्गं प्रति, अनगारं द्रव्यतो भावतश्च, अविद्यमानाऽगारमिति भावः ॥ १८ ॥

जया मुंडे भवित्ताणं पव्वइए अणगारिअं ।

तया संवरमुक्किट्ठं धम्मं फासे अणुत्तरं ॥ १९ ॥

छा० यदा मुण्डो भूत्वा, प्रव्रजत्यनगारताम् ।

तदा संवरमुत्कृष्टं, धर्मं स्पृशत्यनुत्तरम् ॥ १९ ॥

‘जया मुंडे०’—‘तया संवरमुक्किट्ठं ति’—[प्राकृतशैल्या] उत्कृष्टं संवरम्, धर्म—चारित्र्यधर्ममित्यर्थः, स्पृशत्यनुत्तरं सम्यगासेवत इत्यर्थः ॥ १९ ॥

जया संवरमुक्किट्ठं धम्मं फासे अणुत्तरं ।

तया धुणइ कम्मरयं अवोहिकलुसं कडं ॥ २० ॥

छा० यदा संवरमुत्कृष्टं, धर्मं स्पृशत्यनुत्तरम् ।

तदा धुनोति कर्मरजः, अबोधिकलुपं कृतम् ॥ २० ॥

‘जया संवर०’—‘तया धुणइति’—तदा धुनाति—अनेकार्थत्वात् पातयति कर्मरजः, किंविशिष्टमित्याह—
अबोधिकलुपं कृतम्—अबोधि-कलुषेण मिथ्यादृष्टिनोपात्तमित्यर्थः ॥ २० ॥

जया धुणइ कम्मरयं अबोहिकलुसं कडं ।

तया सब्वत्तगं नाणं दंसणं चाभिगच्छइ ॥ २१ ॥

छा० यदा धुनोति कर्मरजः, अबोधिकलुपं कृतम् ।

तदा सर्वत्रगं ज्ञानं, दर्शनं चाभिगच्छति ॥ २१ ॥

‘जया धुणइ०’—‘तया सब्वत्तगं ति’—तदा सर्वत्रगं ज्ञानम्—अशेषज्ञेयविषयम्, दर्शनम्—अनन्तारोप-
दृश्यविषयमधिगच्छति—आवरणाऽभावादाधिक्येन प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ २१ ॥

जया सब्वत्तगं नाणं दंसणं चाभिगच्छइ ।

तया लोगमलोगं च जिणो जाणइ केवली ॥ २२ ॥

छा० यदा सर्वत्रगं ज्ञानं, दर्शनं चाभिगच्छति ।

तदा लोकमलोकं च, जिनो जानाति केवली ॥ २२ ॥

अध्या० ४

॥ ७६ ॥

‘जया सत्यतमं०’—तदा लोकं—चतुर्दशरज्ज्वाऽऽत्मकम्, अलोकं वा अनन्तं, जिनो जानाति केवली,
तोषाऽल्लोको ष सर्व नाऽप्यतस्मेवेत्यर्थः ॥ २२ ॥

जया लोगमलोगं च जिणो जाणइ केवली ।
तया जोगे निरुंभित्ता सेलेसिं पडिवज्जइ ॥ २३ ॥
छा० यदा लोफमलोकं च, जिनो जानाति केवली ।
तदा योगान्निरुध्य, शैलेशीं प्रतिपद्यते ॥ २३ ॥

‘जया लोग०’—‘तया जोगेति’ तदोचितसमयेन योगान्निरुध्य मनोयोगादीन्, शैलेशीं प्रतिपद्यते—
भवोपपादिककर्माश्रयाय ॥ २३ ॥

जया जोगे निरुंभित्ता सेलेसिं पडिवज्जइ ।
तया कम्मं सवित्ताणं सिद्धिं गच्छइ नीरओ ॥ २४ ॥
छा० यदा योगान्निरुध्य शैलेशीं प्रतिपद्यते ।
तदा कर्म क्षपयित्वा सिद्धिं गच्छति नीरजाः ॥ २४ ॥

‘जया जोगे०’—‘तया कम्मं ति’—तदा कर्म क्षपयित्वा सिद्धिं गच्छति नीरजाः—सकलकर्मरजोविप्रमुक्तः ॥ २४ ॥

जया कम्मं खवित्ताणं सिद्धिं गच्छइ नीरओ ।
तया लोगमत्थयत्थो सिद्धो हवइ सासओ ॥ २५ ॥

छा० यदा कर्म क्षपयित्वा, सिद्धिं गच्छति नीरजाः ।
तदा लोकमस्तकस्थः, सिद्धो भवति शाश्वतः ॥ २५ ॥

‘जया कम्मं०’—तदा लोकमस्तकस्थसैलोक्योपरिवर्ती सिद्धो भवति शाश्वतः, कर्मबीजाऽभावादनुत्पत्ति-
धर्मेति भावः ॥ २५ ॥

उक्तो धर्मफलाऽऽख्यः पष्ठोऽधिकारः । इदानीमिदं धर्मफलं यस्य दुर्लभं तदा(मा)ह—

सुहसायगस्स समणस्स सायाउलगस्स निगामसाइस्स ।
उच्छोलणापहोअस्स दुल्लहा सुगई तारिसगस्स ॥ २६ ॥

छा० सुखस्वादकस्य श्रमणस्य, साताकुलस्य निकामशायिनः ।
उत्सोलनाप्रधाविनो, दुर्लभा सुगतिस्तादृशस्य ॥ २६ ॥

‘सुहसायगस्स०’—सुखाऽऽस्वादकस्य—अभिष्वङ्गेण प्राप्तसुखभोक्तुः, श्रमणस्य—द्रव्यमव्राजितस्य, साताऽऽकु-
लस्य—भाविसुखार्थं विक्षिप्तचित्तस्य, निकामशायिनः—सूत्राऽर्थवेलामप्युल्लङ्घ्य शयानस्य, उत्सोलनाप्रधाविनः—उत्सोल-

नया—उदकांशयतनया प्रकर्षेण भावति—गादादि शुद्धिं करोति यः स तथा, तस्य, किमित्याह—दुर्लभा सुगतिस्तादृ-
शस्य भगवदाज्ञालोपकारिणः ॥ २६ ॥ अथेदं यस्य सुलभं तदा(मा)ह—

तवोगुणप्पहाणस्स उज्जुमइ खंतिसंजमरयस्स ।
परीसहे जिणंतस्स सुलहा सुगई तारिसिगस्स ॥ २७ ॥

छा० तवोगुणप्रधानस्य, ऋजुमतेः क्षान्तिसंयमरतस्य ।
परीपहाअयतः, सुलभा सुगतिस्तादृशस्य ॥ २७ ॥

‘तवोगुण०’—तवोगुणप्रधानस्य पञ्चाष्टमादितपोवतः (तपस्विनः), ऋजुमतेर्मार्गिप्रवृत्तबुद्धेः, ‘खंतिसंजमरय-
स्तति—शान्तिप्रधानसंयमरोविनः, परीपहान्—क्षुत्पिपासाऽऽदीन्—जयतः, सुलभा सुगतिः—उत्कलक्षणा तादृशस्य,
पूर्ववत् ॥ २७ ॥

पच्छा वि ते पयाया खिप्पं गच्छंति अमरभवणाइं ।
जेसिं पिओ तवो संजमो अ खंती अ बंभचेरं च ॥ २८ ॥

छा० पश्चादपि ते प्रयाताः, क्षिप्तं गच्छन्त्यमरभवनानि ।
येषां प्रियं तपः संयमश्च, क्षान्तिश्च ब्रह्मचर्यं च ॥ २८ ॥

‘पच्छां वि०’—पश्चादपि वृद्धाऽवस्थायामपि खण्डितचारित्र्या अपि पुनस्तत्सन्धानतो ये सन्मार्गं प्रपन्नाः, ते प्रकर्षेण याताः प्राप्ता अमरभवनानी(नि गच्छन्ती)त्युत्तरेण सम्बन्धः ॥ २८ ॥

इयं महार्थेति विधिनोपसंहरन्नाह—

इच्छेअं छज्जीवणिअं सम्मद्विट्ठी सया जए ।

दुल्लहं लभित्तु सामण्णं कम्मणा (कम्मुणा) न विराहिज्जासि ॥ २९ ॥ त्ति वेमि ।

छा० इत्येतां पङ्जीवनिकां, सम्यग्दृष्टिः सदा यतः ।

दुर्लभं लब्ध्वा श्रामण्यं, कर्मणा न विराधयेत् ॥ २९ ॥ इति ब्रवीमि ।

‘इच्छेअं०’—इत्येतां पङ्जीवनिकायिकां न विराधयेदिति योगः, सम्यग्दृष्टिर्जीवः सदा यतः—सर्वकालं प्रयत्नपरः सन्, दुर्लभं लब्ध्वा श्रामण्य—श्रमणभावं पङ्जीवनिकायतरक्षणेऋरूप कर्मणा मनोवाक्कायक्रियया प्रमादेन न विराधयेत्, अप्रमत्तस्य तु द्रव्यविराधना कथञ्चिद् भवति, तथाऽप्यसावविराधनैवेत्यर्थः । एतेन—

“ जले जीवाः स्थले जीवाः, आकाशे जीवमालिनि ।

जीवमालाऽऽकुले लोके, कथं भिक्षुरहिसकः ” ॥ १ ॥

१ इयं बृहद्भक्तौ न व्याख्याता । २ प्राप्ता आर्द्रकुमार—नन्दिपेणादिवत्, इति प्रत्यन्तरे ।

इत्येतत्प्रत्युक्तम् । तथा सूक्ष्माणां विराधनाऽभावाच्च ॥ २९ ॥ ब्रवीमीति पूर्ववत् । इति पङ्जीवनिका-
यिकाञ्चूरिः ।

॥ छज्जीवाणिआनामज्झयणं चउत्थं ॥

॥ ति पङ्जीवनिका-नामाध्ययनं चतुर्थम् ॥



॥ अथ पञ्चमाध्ययनम् ॥



पह्जीवनिकायिकाऽध्ययनोक्त, आचारो—धर्मः काये स्वस्थे सति सम्यक् पाल्यते, सचाऽऽहारेणैव स्वस्थो भवति, स च सावयेतरभेद इत्यनवद्यो ग्राह्यः, इत्येतदुच्यते, उक्तं च—

“ से संजए समक्खाए, निरवज्जाहारि जे विऊ ।

धम्मकायट्टिए सम्मं, सुहजोगाणं साहए ” ॥ १ ॥

इत्यनेन सम्बन्धेनायातमिदमध्ययनम्, तच्चेदम्—

संपत्ते भिक्षुकालंमि असंभंतो अमुच्छिओ ।

इमेण कमजोगेण भत्तपाणं गवेसए ॥ १ ॥

छा० सम्प्राप्ते भिक्षाकाले, असम्भ्रान्तोऽमूर्च्छितः ।

अनेन क्रमयोगेन, भक्तपानं गवेपयेत् ॥ १ ॥

‘संपत्ते०’—सम्प्राप्ते शोभनेन प्रकारेण स्वाध्यायकरणादिना प्राप्ते, भिक्षाकाले—भिक्षासमये, अनेन असम्प्राप्ते भक्तपानपणानिवेधमाह, अलामाऽऽज्ञाखण्डनाभ्यां दृष्टाऽदृष्टविरोधात्, असम्भ्रान्तोऽनाकुलो यथावदुपयोगादि

कृत्वा, नाऽन्यथेत्यर्थः, अमूर्च्छितः—विण्डे शब्दादिषु वा, अमृद्धो—विहिताऽनुष्ठानमिति कृत्वा, न तु विण्डादावेवाऽऽ-
सक्त इति । अनेन क्रमयोगेन—परिपाटीव्यापारेण, भक्तपानम्—ओदनाऽऽरनालादि गवेपयेत् ॥ १ ॥

यत्र यथा गवेपयेत्तदाह—

से ग्रामे वा नगरे वा गोअरगगओ मुणी ।

चरे मंदमणुविगो अव्वक्खित्तेण चेअसा ॥ २ ॥

छा० स ग्रामे वा नगरे वा, गोचराग्रगतो मुनिः ।

चरेन्मन्दमनुद्धिगः, अव्याक्षिप्तेन चेतसा ॥ २ ॥

‘से ग्रामे०’—स इत्यसम्भ्रान्तोऽमूर्च्छितः । ‘ग्रामे वा नगरे वा’—उपलक्षणत्वादस्य कर्बटादौ वा ‘गोचरा-
ग्रगत’ इति गोरिव चरणं—गोचरः—उत्तमाऽधममध्यमकुलेषु अरक्ताऽद्विष्टस्य भिक्षाटनम्, अग्रः प्रधानोऽभ्याहताऽऽ-
पाकर्मोदित्यागेन तद्गतस्तद्धर्ता मुनिः—भावसाधुः, चरेद्—गच्छेत्, शनैः शनैर्न द्रुतमित्यर्थः, अनुद्धिगः प्रशान्तः
परीप्लवाम्योऽविभ्यत्, अव्याक्षिप्तेन चेतसा—शब्दादिध्वगतेन चेतसा एषणोपयुक्तेन ॥ २ ॥ यथा चरेत्तथैवाह—

पुरओ जुगमायाए पेहमाणो महीं चरे ।

वज्जंतो वीअहरिआइं पाणे अ दगमट्ठिअं ॥ ३ ॥

छा० पुरतो युगमात्रया, प्रेक्षमाणो महीं चरेत् ।
वर्जयन्बीजहरितानि, प्राणिनश्चोदकमृत्तिकाम् ॥ ३ ॥

‘पुरओ०’—पुरतोऽग्रतो युगमात्रया—शरीरप्रमाणया शकटोर्द्विसंस्थितया दृष्ट्या, इति वाक्यशेषः, प्रेक्षमाणः प्रकर्षेण पश्यन् महीं चरेद्—यायात्, न प्रेक्षमाण एव अपि तु वर्जयन्—परिहरन्, ‘बीजहरितानी’त्यनेनाऽनेकविध-वनस्पतेः परिहारमाह, तथा प्राणिनस्तथोदकम्—अप्कायं, मृत्तिकां च पृथिवीकायं, ‘च’ शब्दात्तेजोवायुपरिग्रहः ॥ ३ ॥

अथाऽऽत्मसंयमविराधनापरिहारमाह—

ओवायं विसमं स्थाणुं विज्जलं परिवज्जए ।
संक्रमेण न गच्छिज्जा विज्जमाणे परक्रमे ॥ ४ ॥

छा० अवपातं विषमं स्थाणुं, विजलं परिवर्जयेत् ।
संक्रमेण न गच्छेत्, विद्यमाने परक्रमे ॥ ४ ॥

‘ओवायं०’—अवपातं—गर्तादिरूपं, विषमं—निम्नोन्नतम्, स्थाणुम्—ऊर्ध्वकाष्ठम्, विजलं—विगतजलं कर्दमं परिहरेत्, तथा संक्रमेण—जल-गर्त-परिहाराय पाषाणकाष्ठरचितेन न गच्छेत्, आत्मसंयमविराधनासम्भवात्, ‘विद्यमाने परक्रमे’—अन्यमार्गे इत्यर्थः, अपवादमाह—असति तु तस्मिन् प्रयोजनमाश्रित्य यतनया गच्छेत् ॥ ४ ॥
अवपातादौ दोषमाह—

पवढंते व से तत्थ पक्खलंते व संजए ।

हिंसिज्ज पाणभूआइं तसे अदुव थावरे ॥ ५ ॥

छा० प्रपतन्वा स तत्र, प्रस्खलन् वा संयतः ।

हिंस्यात्प्राणिभूतानि, त्रसानथवा स्थावरान् ॥ ५ ॥

‘पवढंते०’—प्रपतन् वाऽसौ तत्राऽवपातादौ प्रस्खलन् वा संयतः, हिंस्यात्प्राणिभूतानि, एतदेवाह—‘त्रसान् भधवा स्थावरान्’, प्रपातेनाऽऽमानं चेत्युभयविराधना ॥ ५ ॥

तम्हा तेण न गच्छिज्जा संजए सुसमाहिए ।

सइ अण्णेण मग्गेणं जयमेव परक्कमे ॥ ६ ॥

छा० तस्मात्तेन न गच्छेत्, संयतः सुसमाहितः ।

सत्यन्यस्मिन्मार्गे, यतमेव पराक्रामेत् ॥ ६ ॥

‘तम्हा तेण०’—तस्मात्तेनाऽवपातादिमार्गेण न गच्छेत्, संयतः सुसमाहितो भगवदाज्ञावर्तीत्यर्थः, सत्य (ताऽ) न्येन मार्गेण [छान्दसत्वात् सप्तम्यर्थे तृतीया] असति त्वन्यमार्गे तेनैवाऽवपातादिना यतमेव पराक्रामेत्, यतमिति क्रियाविशेषणम्, यतम्—आत्मसंयमविराधनापरिहारेण यायात् ॥ ६ ॥

विशेषतः पृथिवीकाययतनामाह—

हंगालं छारिअं रासिं तुसरसिं च गोमयं ।

ससरक्खेहिं पाएहिं संजओ तं नइक्कमे ॥ ७ ॥

छा० आङ्गारं क्षारराशिं, तुपराशिं च गोमयम् ।

सरजस्काभ्यां पद्भ्यां, संयतस्तं नाऽतिक्रामेत् ॥ ७ ॥

‘हंगालं०’—आङ्गारमित्यङ्गाराणामयम्—आङ्गारः, तमाङ्गारराशिम्, एवं क्षारराशिं, तुपराशिं, गोमयं—गोमयराशिं च, ‘राशि’—शब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते, सरजस्काभ्यां पद्भ्यां, संयतस्तमनन्तरोदितं राशिं नाऽक्रामेत् ॥ ७ ॥ अप्कायादियतनामाह—

न चरिज्ज वासे वासंते महिआए व पडंतीए ।

महावाए व वायंते तिरिच्छसंपाइभेसु वा ॥ ८ ॥

छा० न चरेद्वर्षायां वर्षन्त्यां, मिहिकायां वा पतन्त्याम् ।

महावाते वा वाति, तिर्यक्संपाते(तिमे)पु वा ॥ ८ ॥

‘न चरिज्ज०’—न चरेद्वर्षे वर्षति शिक्षाऽर्थम्, प्रविष्टो वर्षणे तु प्रच्छन्ने तिष्ठेत्, तथा मिहिकायां पतन्त्यां, सा च प्रायो गर्भमासेषु पतति, महावाते वा वाति सति, तदुत्खातरजोविराधनादोपात्, तिर्यक्सम्पतन्तीति तिर्यक्सम्पाताः—पतद्वादयः, तेषु वा सत्सु कचिदपि—अशनिरूपेण न चरेत् ॥ ८ ॥ उक्ता प्रथमव्रतयतना, अथ चतुर्थव्रतयतनोच्यते—

न चरिज्ज वेससामंते वंमचेरवसाणए ।

वंमयारिस्स दंतस्स हुज्जा तत्थ विसुत्तिआ ॥ ९ ॥

छा० न चरेद्वेश्यासामन्ते, ब्रह्मचर्यवशानये(नयने) ।

ब्रह्मचारिणो दान्तस्य, भवेत्तत्र विस्रोतसिका ॥ ९ ॥

‘न चरिज्ज०’—न चरेद्वेश्यासामन्ते—वेश्यागृहसमीपे, ब्रह्मचर्यवशाऽऽनयने—ब्रह्मचर्यम्—आत्मवशमानयति दर्शनाऽऽक्षेपादिनेति ब्रह्मचर्यवशाऽऽनयनम्, तस्मिन्, ब्रह्मचारिणो दान्तस्य इन्द्रियनोद्विन्द्विदमाभ्यां भवेत्तत्र वेश्या-सामन्ते विस्रोतसिका—तद्रूपसन्दर्शनस्मरणाऽपध्यान-कचवर-निरोधतो ज्ञानश्रद्धानजलोज्झनेन संयमस्य—शोषफला विषयक्रिया ॥ ९ ॥

अणायणे चरंतस्स संसग्गीइ अभिक्खणं ।

हुज्ज वयाणं पीला सामण्णम्मि अ संसओ ॥ १० ॥

छा० अनायतने चरतः, सांसर्गिक्या(संसर्गेणा)ऽभीक्षणम् ।

भवेद्व्रतानां पीडा, श्रामण्ये च संशयः ॥ १० ॥

‘अणायणे०’—अनायतने—अस्थाने वेश्यासामन्तादौ चरतः संसर्गेणाऽभीक्षणं पुनः पुनर्भवेद्व्रतानां पीडा तदाक्षिप्तचेतसो भावविराधना । श्रामण्ये च द्रव्यतो रजोहरणादिसन्धारणरूपे भूयो भावव्रतप्रधानहेतौ संशयः, कदाचिदुत्क्रामेदेव । तथा च वृद्धव्याख्या—‘वेसादिगयभावस्त मेहुणं पीडिज्जइ ४, अणुवओगेणं एसणाकरणे हिंसा १,

अध्य०५ (१)

॥ ८७ ॥

पटुप्यायणे अण्णपुच्छणअवलवणा असच्चवयणं २, अण्णुण्णाय वेसाइदंसणे अदत्तादाणं ३, ममत्तकरणे पारिगहो ५, एवं सन्धवयपीडा । दब्बसामण्णे पुण संसओ उण्णिक्खमणेणत्ति ' ॥ १० ॥

अध्य० ५(१)

तम्हा एअं विआणित्ता दोसं दुग्गइवड्डुणं ।

वज्जए वेससामंतं मुणी एगंतमस्सिए ॥ ११ ॥

छा० तस्मादेतं विज्ञाय, दोषं दुर्गतिवर्द्धनम् ।

वर्जयेद्देश्यासामन्तं, मुनिरेकान्तमाश्रितः ॥ ११ ॥

'तम्हा०'—तस्मादेतं विज्ञाय दोषं दुर्गतिवर्द्धनं वर्जयेद्देश्यासामन्तं मुनिरेकान्तं—मोक्षमार्गमाश्रितः ॥ ११ ॥

आह—प्रथमव्रतविराधनाऽनन्तरं चतुर्थव्रतविराधनोपन्यासः किमर्थः ? उच्यते—प्राधान्यख्यापनार्थः, अन्यव्रतविराधना-
हेतुत्वेन प्राधान्यम्, तच्च लेशतो दर्शितमेवेति, अत्रैव विशेषमाह—

साणं सूयं गाविं दित्तं गोणं हयं गयं ।

संडिम्मं कलहं जुद्धं दूरओ परिवज्जए ॥ १२ ॥

छा० श्वानं सूतां गां, दृप्तं गां हयं गजम् ।

संडिम्मं कलहं युद्धं, दूरतः परिवर्जयेत् ॥ १२ ॥

॥ ८८ ॥

१ 'सूअं' इत्यपि पाठो बहुत्र दृश्यते, सच नातीवशुद्धः प्रतिभाति ।

‘छाणं०’—श्वानं, सूतां गां—नवप्रसूतां, दृप्तं—दर्पितं गौर्बलीवर्द्धस्तम्, अश्वं, गजं, ‘संढिम्भं’ति बाल-
क्रीडास्नानम्, कलहं—वाक्प्रतिबद्धम्, युद्धं—खट्वादिभिः, एतद् दूरतो—दूरेण परिवर्जयेत्, आत्मसंयमविराधनासम्भवात्,
श्व—सूतगवी—प्रभृतिभ्य आत्मविराधना, ढिम्भस्थाने वन्दनाद्यागमन—पतन—भण्डन—प्रलुठनादिना संयमविराधना ।
सर्वत्र चाऽऽत्मपात्रभेदादिनोभयविराधनेति ॥ १२ ॥

अणुण्णए नावणए अप्पहिट्ठे अणाउले ।

इंदिआणि जहाभागं दमइत्ता मुणी चरे ॥ १३ ॥

छा० अनुन्नतो नावनतः, अप्रहृष्टोऽनाकुलः ।

इन्द्रियाणि यथाभागं, दमयित्वा मुनिश्चरेत् ॥ १३ ॥

‘अणुण्णए०’—अनुन्नतो द्रव्यतो नाऽऽकाशदर्शी, भावतो न जात्याद्यभिमानवान्, नाऽवनतः—द्रव्यतो
न नीचकायः, भावतोऽलम्ब्यादिनाऽदीनः, अप्राऽप्रहृष्टः—अहसन्, अनाकुलः—क्रोधादिरहितः, इन्द्रियाणि—स्पर्शना-
दीनि यथामागं—यथाविषयं दमयित्वा मुनिश्चरेत्, विषयये प्रभूतदोषप्रसङ्गात्, तथाहि—द्रव्योन्नतो—लोकहास्यः,
भावोन्नतो—नेयां रक्षति, द्रव्याऽवनतो वक् इति सम्भाव्यते, भावाऽवनतः क्षुद्रसत्त्व इति, प्रहृष्टो—योपिदर्शनाद्रक्त
इति लभ्यते, आकुल एवमेव, अदान्तः प्रव्रज्याऽनर्हः ॥ १३ ॥

द्वदवस्स न गच्छिज्जा भासमाणो अ गोअरे ।

हसंतो नाभिगच्छिज्जा कुलं उच्चावयं सया ॥ १४ ॥

छा० द्रुतं द्रुतं न गच्छेत्, भाषमाणश्च गोचरे ।
हसन्नाभिगच्छेत्, कुलमुच्चावचं सदा ॥ १४ ॥

अध्या० ५(१)

‘द्वदवस्स०’-द्रुतं द्रुतं त्वरितमित्यर्थः, न गच्छेत्, भाषमाणो वा गोचरे न गच्छेत्, हसन्नाभिगच्छेत्, कुलमुच्चावचं सदा, उच्चं-द्रव्यभावभेदाद्विधा-द्रव्योच्चं-धवलगृहवासि, भावोच्चं-जात्यादियुक्तम्, एवमवचमपि-द्रव्यतः कुटीरवासि, भावतो जात्यादिहीनमिति । दोषा उभयविराधना-लोकोपघातादयः ॥ १४ ॥

आलोअं थिग्गलं दारं संधिं दग्गभवणाणि अ ।

चरंतो न विणिज्झाए संकट्ठाणं विवज्जए ॥ १५ ॥

छा० आलोकं चित्तं(थिग्गलं) द्वारं, सन्धिमुदकभवनानि च ।

चरन् विनिर्ध्यायेत्, शङ्कास्थानं विवर्जयेत् ॥ १५ ॥

‘आलोअं०’-अवलोकं-निर्गृहकादिस्तम्भम्, थिग्गलं-चित्तं, द्वारादि, सन्धिश्चित्तं क्षत्रम्, उदकभवनानि-पानीयगृहानि, चरन् भिक्षार्थं न ‘विणिज्झाएत्ति’-न पश्येत्, शङ्कास्थानमेतदवल्लोकादि, अतो विवर्जयेत्, तथा च नद्यादौ तत्र शङ्कोपजायते ॥ १५ ॥

॥ १० ॥

रण्णो गिहवईणं च रहस्सारविखाण य ।

संकिलेसकरं ठाणं दूरओ परिवज्जए ॥ १६ ॥

छा० राज्ञो गृहपतीनाञ्च, रहस्यमारक्षकाणाञ्च ।

संक्लेशकरं स्थानं, दूरतः परिवर्जयेत् ॥ १६ ॥

‘रणो०’—राज्ञश्चक्रवर्त्यदिर्गृहपतीनां—श्रेष्ठिप्रभृतीनां ‘रहस्यगणं’ इति योगः, आरक्षकाणाञ्च—दण्ड-
नायकादीनां रहःस्थानं—गुह्यापवरकमन्त्रगृहादि, संक्लेशकरम्—असकृदिच्छा—प्रवृत्त्या मन्त्रभेदे वा कर्षणादिना ॥ १६ ॥

पण्डिकुलं न पविसे मामगं परिवर्जयेत् ।

अचिअत्तकुलं न पविसे चिअत्तं पविसे कुलं ॥ १७ ॥

छा० प्रतिकुलं न प्रविशेत्, मामकं परिवर्जयेत् ।

अप्रीतिकुलं न प्रविशेत्, प्रीतिं प्रविशेत्कुलम् ॥ १७ ॥

‘पण्डिकुलं’—प्रतिकुलम्—इत्वरयावत्कथिकभेदाद्विविधम्, इत्वरं—सूतकयुक्तम्, यावत्कथिकम्—अमोज्यम्,
एतन्न प्रविशेत्, शासनलघुत्वप्रसङ्गात् । ‘मामकं’—यदाऽऽह गृहपतिर्मां मे कश्चिद् गृहमागच्छतु, एतद्वर्जयेत्, भण्डना-
दिप्रसङ्गात् । ‘अचियत्तकुलं’—अप्रीतिकुलं यत्र प्रविशद्भिः साधुभिरप्रीतिरुत्पद्यते, न च निवारयन्ति कुतश्चिन्नि-
मित्तान्तरात्, एतदपि न प्रविशेत्, तत्संक्लेशानीमित्तप्रसङ्गात्, ‘चियत्तं’—अचियत्तविपरीतम् प्रविशेत्कुलम्, तद-
नुग्रहप्रसङ्गादिति ॥ १७ ॥

१ अप्रीतिकरं । २ प्रीतिकर ।

अध्य० ५(१)

॥ ११ ॥

साणीपावारपिहितं अप्पणा नावपंगुरे ।

कवाढं णो पणुल्लिज्जा उग्गहंसि अजाइआ ॥ १८ ॥

छा० शाणीपावारपिहितम्, आत्मना नाऽपवृणुयात् ।

कपाटं न प्रणोदयेत्, अवग्रहमयाचित्वा ॥ १८ ॥

‘साणी०’—साणी—सणातसी—बल्कजापटी, पावारो जवनिकादिः, कम्बल्याद्युपलक्षणमेतत्, एवमादिभिः पिहितं गृहमिति वाक्यशेषः, आत्मना स्वयं नाऽपवृणुयात्—नोद्घाटयेद् इत्यर्थः, किमविशेषेण ? नेत्याह—‘अवग्रह-मयाचित्वा’—आगाढप्रयोजने—अननुज्ञाप्याऽवग्रहं, विधिना धर्मलाभमकृत्वेति ॥ १८ ॥

गोअरगपविट्ठो उ (अ) वच्चमुत्तं न धारए ।

ओगासं फासुअं नच्चा, अणुण्णविअ दोसिरे ॥ १९ ॥

छा० गोचराग्रप्रविष्टस्तु(श्च), वर्चोमूत्रं न धारयेत् ।

अवकाशं प्रासुकं ज्ञात्वा, अनुज्ञाप्य व्युत्सृजेत् ॥ १९ ॥

‘गोअरग०’—गोचराग्रप्रविष्टो मुनिर्वर्चोमूत्रं वा न धारयेत्, अवकाशं प्रासुकं ज्ञात्वा, अनुज्ञाप्य व्युत्सृ-जेदिति । अस्य विषयो वृद्धसम्प्रदायादवसेयः । सचाऽयम्—“पुत्रमेव साहुणा सण्णाकाइओवओगं काऊण गोयरे

१ “धर्मलाभ” इतिपदं नागमोपज्ञम्, अपि तु दुर्भिक्षोपप्लुतानां भिक्षुणामाहाराद्यवश्यलाभाय कल्पितमित्येतिह्यम्, अन्यथा धर्मलाभाऽऽशया प्रज्ञाऽऽहारस्याकल्पनीयत्वात्, कथं तत्पदमभिधीरन् धीरा मुनयः ?

पविसिअब्बं, कहिंचि ण फओ, कए वा पुणो हुज्जा, ताहे वच्चमुत्तं न धारिअब्बं, जओ मुत्तनिरोहे चक्खुवघाओ भवइ, वच्चनिरोहे अ जीविओवघाओ, असोहणा अ आयविराहणा । जओ मणिअं—“सव्वत्थ संजम ” इत्यादि, अतो—‘संघादयस्स भायणाणि समप्पिअ पडिस्सए पाणयं गहाय सण्णाभूमीए विहिणा वोसिरिज्जा,’ वित्थरओ जहा ओहणिज्जुत्तिए ” ति ॥ १९ ॥

नीअदुवारं तमसं कुट्टुगं परिवज्जए ।

अचक्खुविसओ जत्थ पाणा दुप्पडिलेहगा ॥ २० ॥

छा० नीचद्वारं तमस्विनं, कोष्ठकं परिवर्जयेत् ।

अचक्षुर्विषयो यत्र, प्राणा दुष्प्रतिलेख्याः ॥ २० ॥

‘नीअदुवारं०’—नीचद्वारं—नीचनिर्गमप्रवेशम्, तमसमिति तमोवन्तं (तमस्विनं) कोष्ठकमपवरकं परिवर्जयेत्, न तत्र भिक्षां गृहीयात् । सामान्याऽपेक्षया सर्व एवाविधो भवति, अत आह—‘अचक्षुर्विषयो यत्र’—न चक्षुषोर्न्यायारो यत्रेत्यर्थः, अत्र दोषमाह—प्राणिनो दुष्प्रतिप्रेक्षणीया भवन्ति—ईर्याशुद्धिर्न भवतीति ॥ २० ॥

जत्थ पुप्फाइं बीआइं विप्पइण्णाइं कुट्टए ।

अहुणोवलित्तं उल्लं दट्ठुणं परिवज्जए ॥ २१ ॥

छा० यत्र पुष्पाणि बीजानि, विप्रकीर्णानि कोष्ठके ।

अधुनोपलिप्तमार्द्रं, दृष्ट्वा परिवर्जयेत् ॥ २१ ॥

‘जत्थ०’—यत्र पुष्पाणि बीजानि विप्रकीर्णानि—अनेकधा विक्षिप्तानि—परिहर्तुमशक्यानीत्यर्थः, कोष्ठके तद्द्वारे वा, अधुनोपलिषमार्द्रं कोष्ठकमन्यद्वा दृष्ट्वा परिवर्जयेद् दूरत एव । न तु तत्र धर्मलाभं कुर्यात्, संयमाऽऽत्मविराधनोपपत्तेः ॥ २१ ॥

अध्य० ५ (१)

एलगं दारगं साणं वच्छगं वा वि कुट्टए ।

उल्लंघिआ न पविसे विउहिताण व संजए ॥ २२ ॥

छा० एडकं दारकं श्वानं, वत्सकं वाऽपि कोष्ठके ।

उल्लङ्घ्य न प्रविशेत्, व्यूह्य वा संयतः ॥ २२ ॥

‘एलगं०’—एडकं—मेघम्, दारकं—बालम्, श्वानं—मण्डलम्, वत्सकं वाऽपि क्षुद्रवृषभलक्षणम्, कोष्ठके उल्लङ्घ्य पद्भ्यां न प्रविशेत्, व्यूह्य वा—प्रेर्य वेत्यर्थः, संयतो न प्रविशेत्, आत्मसंयमविराधनादोपाल्लाभवाच्चेति ॥ २२ ॥

असंसत्तं पलोइज्जा नाइदूरावलोअए ।

उत्फुल्लं न विणिज्झाए निअट्टिज्ज अयंपिरो ॥ २३ ॥

छा० असंसत्तं प्रलोकयेत्, नातिदूरमवलोकयेत् ।

उत्फुल्लं न विनिर्ध्यायेत्, निवर्तेताऽजल्पाकः ॥ २३ ॥

॥ ९४ ॥

‘असंसक्तं०’—असंसक्तं प्रलोकयेत्—न योषिदृष्टेर्दृष्टिं मीलयेदित्यर्थः, रागोत्पत्तिलोकोपघातदोषात्, नातिदूरं प्रलोकयेत्—दायकस्याऽऽगमनमात्रदेश प्रलोकयेत्, परतश्चौरादिशङ्कादोषः । उत्कुलं—विकसिताऽक्ष, ‘न विणि-
ज्झाएत्ति’—न निरीक्षेत गृहपरिच्छदमपि, अदृष्टकल्याण इति लाघवोत्पत्तेः । निवर्तेत—अलम्बेऽपि सति, अजल्पन्—दीनवचन-
मनुचारयन् ॥ २३ ॥

अइभूमिं न गच्छिज्जा गोअरग्गओ मुणी ।

कुलस्स भूमिं जाणित्ता मिअं भूमिं परक्कमे ॥ २४ ॥

छा० अतिभूमिं न गच्छेत्, गोचराग्रगतो मुनिः ।

कुलस्य भूमिं ज्ञात्वा, मितां भूमिं पराक्रामेत् ॥ २४ ॥

‘अइभूमिं०’—अतिभूमिं न गच्छेत्—अननुज्ञाता गृहस्यैर्यत्राऽन्ये भिक्षाचरा नाऽऽयान्तीत्यर्थः । ‘गोच-
राग्रगतो मुनिः’—अनेन अन्यदा तद्रूपनाऽसम्भवमाह, किन्तर्हि? कुलस्य भूमिम्—उत्तमाऽऽदिरूपामवस्थां ज्ञात्वा, मितां
भूमिं—तैरनुज्ञातां पराक्रामेत्, यत्रैषामप्रीतिर्न जायते ॥ २४ ॥

तत्थेव पडिलेहिज्जा भूमिभागं विअक्खणो ।

सिणाणस्स य वच्चस्स संलोगं परिवज्जए ॥ २५ ॥

छा० तत्रैव प्रतिलिखेत्, भूमिभागं विचक्षणः ।

स्नानस्य च वर्चसः, संलोकं परिवर्जयेत् ॥ २५ ॥

‘तत्त्वेव०’—तत्रैव तस्यामेव मितायां भूमौ प्रत्युपेक्षेत सूत्रोक्तेन विधिना भूमिभागमुचितं विचक्षणो-विद्वान्, अनेन केवलाऽगीताऽर्थस्य भिक्षाऽनप्रतिषेधमाह, तत्र च तिष्ठन् स्नानस्य तथा वर्चसः संलोकं परिवर्जयेत् । एतदुक्तं स्यात्—स्नानभूमि-कायिकाऽऽदिभूमिदर्शिनं परिहरेत्, प्रवचनलाघवप्रसङ्गात्, अप्रावृतस्त्रीदर्शनाच्च रागादिभावादिति ॥ २५ ॥

अध्य०५ (१)

दगमद्विअ आयाणे बीआणि हरिआणि अ ।

परिवज्जंतो चिद्विज्जा सव्विंदिअसमाहिण् ॥ २६ ॥

छा० उदकमुत्तिकाऽऽदानं, बीजानि हरितानि च ।

परिवर्जयांस्तिष्ठेत्, सर्वेन्द्रियसमाहितः ॥ २६ ॥

‘दगमद्विअ०’—उदकमुत्तिकाऽऽदानम्—आदीयतेऽनेनेत्यादानो-मार्गः, तदाऽऽनयनमार्ग इत्यर्थः, ‘बीजानि हरितानि च’—‘च’ शब्दादन्यानि सचेतनानि परिवर्जयन्, तिष्ठेदनन्तरोदिते देशे, ‘सर्वेन्द्रियसमाहितः’—शब्दादि-भिरन्याक्षिप्त इति ॥ २६ ॥

तत्थ से चिट्ठमाणस्स आहरे पाणभोजणं ।

अकप्पिअं न गिण्हिज्जां पडिगाहिज्ज कप्पिअं ॥ २७ ॥

छा० तत्र तस्य तिष्ठतः, आहरेत्पाणभोजनम् ।

अकल्पिकं न गृह्णीयात्, प्रतिगृह्णीयात् कल्पिकम् ॥ २७ ॥

॥ २६ ॥

१ ‘इच्छिज्जा’ इत्यपि पाठः ।

‘तत्थ०’—तन से-तस्य तिष्ठतः साधोः, आहरेत्—आनयेत् पानभोजनं, गृहीति गम्यते । तत्राऽयं विधिः—
भक्षन्नीयमनेवणीयं न प्रतिगृहीयात्, प्रतिगृहीयात्कल्पिकमेवणीयम् । एतच्चाऽर्थादापन्नमपि कल्पिकग्रहणं द्रव्यतः
शोभनमशोभनमप्येतदविरोधेन ग्राह्यमिति दर्शनार्थं साक्षादुक्तम् ॥ २७ ॥

अध्य० ५(१)

आहरंती सिआ तत्थ परिसाडिज्ज भोअणं ।

दिंतिअं पडिआइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥ २८ ॥

छा० आहरन्ती स्यात्तत्र, परिशाटयेद्भोजनम् ।

ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥ २८ ॥

‘आहरंती०’—आहरन्ती—आनयन्ती भिक्षामगारी(रिणी)ति गम्यते, स्यात् तत्र—कदाचित्तत्रदेशे
परिशाटयेत्—इतश्चेतश्च विशिषेद् भोजनं पानं वा, ततः किमित्याह—ददतीं प्रत्याचक्षीत—प्रतिपेधयेत् तामगारिणीम्,
इत्येव प्रायो भिक्षां ददातीति स्वीग्रहणम्, कथं प्रत्याचक्षीत ? इत्याह—न मे-मम कल्पते तादृशं परिशाटनवत्, सम-
योज्योपपन्नत्वात्, दोषांश्च भावं ज्ञात्वा कथयेन्मधुभिन्दूदाहरणादिना ॥ २८ ॥

सम्मद्वमाणी पाणाणि बीआणि हरिआणि अ ।

असंजमकरिं नच्चा तारिसिं परिवज्जए ॥ २९ ॥

छा० संमर्दयन्ती प्राणिनः, बीजानि हरितानि च ।

असंयमकरीं ज्ञात्वा, तादृशीं परिवर्जयेत् ॥ २९ ॥

॥ ९७ ॥

‘सम्मदमाणी०’—संमर्दयन्ती पद्भ्यां, कान् ? इत्याह—प्राणिनो बीजानि हरितानि च, असंयमकरीं—
साधुनिमित्तमसंयमकरणशीलां ज्ञात्वा तादृशीं परिवर्जयेत्, ददतीं प्रत्याचक्षीत ॥ २९ ॥

साहट्टु निक्खित्ताणं सच्चित्तं घट्टिआण अ ।

तहेव समणद्धाए उदमं संपणुल्लिआ ॥ ३० ॥

छा० संहृत्य निक्षिप्य, सचित्तं घट्टयित्वा च ।

तथैव श्रमणार्थाय, उदकं सम्प्रणुद्य ॥ ३० ॥

‘साहट्टु०’—संहृत्याऽन्यस्मिन् भाजने ददाति । “तत्थ फासुए फासुअं साहरइ १, फा० अ० सा० २, अफा० फा० सा० ३, अफा०, अफा०, सा० ४ । तत्थ जं फासुए.फासुअं तत्थ वि थोवे थोवं सा० १, थोवे बहुअं सा० २, बहुए थोवं सा० ३, बहुए बहुअं सा० ४, एवमादि,” यथा पिण्डनिर्मुक्तौ तथा ज्ञेयम् । निक्षिप्य भाजन-
गतमदेयं पट्सु जीवनिकायेषु ददाति, तथा सचित्तमलातपुष्पादि घट्टयित्वा—संचाल्य च ददाति, तथैव श्रमणाऽर्थम्—
उदकं सम्प्रणुद्य—भाजनस्थं प्रेयं ददाति ॥ ३० ॥

ओगाहइत्ता चलइत्ता आहरे पाणभोअणं ।

दिंतिअं पडिआइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥ ३१ ॥

छा० अवगाह्य चालयित्वा, आहरेत्पानभोजनम् ।

ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥ ३१ ॥

अध्य० ५(१)

॥ १८ ॥

‘ओगाहइता०’—अवगाह—उदकमेवाऽऽत्माऽभिमुखमाकृष्य ददाति, तथा चालयित्वा—उदकमेव ददाति, उदके नियमादनन्तवनस्पतिरिति ‘सचितं घट्टयित्वा’ इत्युक्तेऽपि प्राधान्याऽर्थं भेदेनोपादानम्, अस्ति चाऽयं न्यायो यदुत—सामान्यग्रहणेऽपि प्राधान्यख्यापनार्थं भेदेनोपादानम् । ततश्च—उदकं चालयित्वा, आहरेत्—आनीयात्—दद्यादित्यर्थः, किन्तु? इत्याह—‘पानभोजनं’—ओदनाऽऽरनालादि, तदित्थम्भूतां ददतीं प्रत्याचक्षीत मम न कल्पते तादृशम् ॥ ३१ ॥

पुरेकस्मिन् हृत्थेण दर्व्या भायणेन वा ।

दितिं पण्डिआइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥ ३२ ॥

छा० पुरःकर्मणा हस्तेन, दर्व्या भाजनेन वा ।

ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥ ३२ ॥

‘पुरेकस्मिन्’—पुरःकर्मणा हस्तेन साध्वर्थं प्राकृतजलोद्भवेन, तथा दर्व्या—डोवसदृश्या, भाजनेन वा फास्यभाजनादिना, (ददतीं प्रत्याचक्षीत) शेषं पूर्ववत् ॥ ३२ ॥

एवं उदउल्ले ससिणिन्दे ससरक्खे मडिआ ऊसे ।

हरिआले हिंगुलए मणोसिला अंजणे लोणे ॥ ३३ ॥

छा० एवमुदकार्द्रः सस्निग्धः, सरजस्को मृत्तिका ऊपः ।

हरितालः हिङ्गुलकः, मनःशिलाऽञ्जनं लवणम् ॥ ३३ ॥

‘एवं उद०’—एवमुदकाऽऽर्ध्रेण हस्तेन—गलदुदकविन्दुना करेण, एवं सस्निग्धेन हस्तेन—ईषदुदकयुक्तेन, एवं सरजस्केन हस्तेन—भूरजोगुण्ठितेन, एवं मृद्गतेन हस्तेन—कर्दमयुक्तेन, एवमूपादिष्वपि योज्यम्, एतावन्त्येवेतानि सूत्राणि । नवरम्—ऊपः—पाशुशारः, हरिताल-हिङ्गुलक-मनःशिलाः—पार्थिवा वर्णकभेदाः, अञ्जनं—रसाञ्जनादि, लवणं—सामुद्रादि ॥ ३३ ॥

गेरुअ-घण्णिअ-सेडिअ-सौरट्ठिअ-पिट्ठ-कुक्कुसकए अ ।

उक्किट्ठमसंसट्ठे संसट्ठे चैव बोधव्वे ॥ ३४ ॥

छा०—गैरिक-घर्णिक-श्वेतिक (सेटिक)-सौराष्ट्रिक-पिट्ट-कुक्कुसकृते(न) च ।

उत्कृष्टमसंसृष्टः, संसृष्टश्चैव बोद्धव्यः ॥ ३४ ॥

‘गेरुअ०’—गैरिको धातुः, घर्णिका—पीतमृत्तिका, श्वेतिका—श्वेतमृत्तिका, सौराष्ट्रिका—तुवारिका, पिट्टम्—आमतण्डुलक्षोदः, कुक्कुसाः प्रतीताः, कृतेनेति—एभिः कृतेन हस्तेनेति गम्यते । उत्कृष्टशब्देन कालिङ्गाऽलानुपुष-फलादीनां शस्त्रकृतानि श्लक्ष्णखण्डानि भण्यन्ते, चिच्चिणिकादि—पत्रसमुदायो वा उद्वूलख(क)ण्डितः, असंसृष्टो व्यञ्जनादिनाऽलिप्तः, संसृष्टश्चैव व्यञ्जनालिप्तो बोद्धव्यो हस्त इति, विधिं पुनरनोर्द्ध्वं स्वयमेव वक्ष्यति ॥ ३४ ॥

१ अत्र ‘एभिः समुष्टेन हस्तेन’ एतदर्थं विभक्तिपरिवर्तनं विधेयम् । छायाया मूलाऽनुलोपात् यथावस्थमनूदितम् ।

असंसृष्टेण हत्थेण दृव्वीए भायणेण वा ।

दिज्जमाणं न इच्छिज्जा पच्छाकम्मं जहिं भवे ॥ ३५ ॥

अध्य० ५(१)

छा० असंसृष्टेन हस्तेन, दृव्व्या भाजनेन वा ।

दीयमानं नेच्छेत्, पश्चात्कर्म यत्र भवेत् ॥ ३५ ॥

‘असंसृष्टेण०’—असंसृष्टेन हस्तेन—अन्नादिभिरलिप्तेन दृव्व्या भाजनेन वा दीयमानं नेच्छेत्, पश्चात्कर्म भवति यत्र दृव्व्यादी, शुष्कमण्डकादिवत्, तदन्यद् दोषरहितं गृह्णीयात् ॥ ३५ ॥

संसृष्टेण य हत्थेण दृव्वीए भायणेण वा ।

दिज्जमाणं पडिच्छिज्जा जं तत्थेसणिअं भवे ॥ ३६ ॥

छा० संसृष्टेन च हस्तेन, दृव्व्या भाजनेन वा ।

दीयमानं प्रतीच्छेत्, यत्तत्रैषणीयं भवेत् ॥ ३६ ॥

‘संसृष्टेण०’—(संसृष्टादिविशेषणयुतं तु) ‘पडिच्छिज्जति’—प्रतीच्छेत्—गृह्णीयात्, किं सामान्येन ? इत्याह—यत् तत्रैषणीयं भवति तदन्यदोषरहितमित्यर्थः, इह च वृद्धसम्प्रदायः—“संसृष्टे हत्थे सं० मत्ते सावसेसे

॥ १०१ ॥

द्वये १, सं० हत्थे सं० मत्ते निरवसेसे द्वये २, सं० हत्थे असं० मत्ते सावसेसे द्वये ३, एवं अट्टमंगा, इत्थ पढमो सञ्जुत्तयो, अण्णोसु वि जत्थ सावसेसं द्वं तत्थ धिप्पइ, ण इअरेसु, पच्छाकम्म दोसओ” ति ॥ ३६ ॥

दशवि०
॥ १०२ ॥

अध० ५(१)

दुण्हं तु भुंजमाणाणं एगो तत्थ निमंतए ।
दिज्जमाणं न इच्छिज्जा छंदं से पडिलेहए ॥ ३७ ॥

छा० द्वयोस्तु भुञ्जानयोः, एकस्तत्र निमन्त्रयेत् ।
दीयमानं नेच्छेत्, छन्दं तस्य प्रतिलेखयेत् ॥ ३७ ॥

‘दुण्हं०’-‘द्वयोर्भुञ्जतोः(भुञ्जानयोः)-एकवस्तुस्वामिनोरित्यर्थः,’ एकस्तत्र निमन्त्रयेत्, तदीयमानं नेच्छेत्, उत्सर्गतः, अपि तु छन्दमभिप्रायं से-तस्य द्वितीयस्य प्रत्युपेक्षेत, नेत्रवक्त्रविकारैः, किमस्येदमिष्टं दीयमानं न वेति, इष्टं च गृह्णीयात्, न चेन्नैवेति, एवं भुञ्जानयोरभ्यवहाराद्योद्यतयोरपि योजनीयम्, [यतो भुजिः पालनेऽभ्यवहारे च वर्तते] ॥ ३७ ॥

दुण्हं तु भुंजमाणाणं दोवि तत्थ निमंतए ।
दिज्जमाणं पडिच्छिज्जा जं तत्थेसणिअं भवे ॥ ३८ ॥

॥ १०२ ॥

छा० द्वयोस्तु भुञ्जानयोः, द्वावपि तत्र निमन्त्रयेताम् ।
दीयमानं प्रतीच्छेत्, यत्तत्रैषणीयं भवेत् ॥ ३८ ॥

अध्य० ५(१)

‘दुण्हं०’—द्वावपि तत्र निमन्त्रयेताम्, दीयमानं प्रतीच्छेत्, यत्तत्रैषणीयं भवेत्, तदन्यद् दोषरहित-
मित्यर्थः ॥ ३८ ॥

गुच्छिणीए उपणत्थं विविहं पाणभोजनं ।
भुञ्जमाणं विवज्जिज्जा भुत्तसेसं पडिच्छए ॥ ३९ ॥

छा० गुच्छिण्या उपन्यस्तं, विविधं पानभोजनम् ।
भुज्यमानं विवर्जयेत्, भुक्तशेषं प्रतीच्छेत् ॥ ३९ ॥

‘गुच्छिणीए०’—गर्भवत्याः कल्पितमुपन्यस्तं विविधं पानभोजनं—द्राक्षापानखण्डखाद्यादि, तत्र भुज्यमानं
तथा विचर्यम्, मा भूत्तस्या अल्पेनाऽभिलाषाऽनिवृत्त्या गर्भपातादिदोष इति, भुक्तशेषं—भुक्तोद्धरितं प्रतीच्छेत्, यत्र तस्या
निवृत्तोऽभिलाष इति ॥ ३९ ॥

॥ १०३ ॥

सिआ य समणट्ठाए गुच्छिणी कालमासिणी ।
उट्ठिआ वा निसीइज्जा निसण्णा वा पुणुट्ठाए ॥ ४० ॥

छा० स्याच्च श्रमणार्थं, गुर्विणी कालमासवती ।

उत्थिता वा निपीदेत्, निषण्णा वा पुनरुत्तिष्ठेत् ॥ ४० ॥

अध्य० ५(१)

‘सिआ०’—स्यात्कदाचित्साधुनिमित्तं गुर्विणी पूर्वोक्ता वा (कालमासवती), गर्भाऽऽधानाश्रवमासवतीत्यर्थः, उत्थिता वा यथाकथञ्चिन्निपीदेत्, निषण्णा वा स्वव्यापारेण पुनरुत्तिष्ठेत्, ददामीति साधुनिमित्तमेवेति ॥ ४० ॥

तं भवे भक्तपाणं तु संजयाण अकप्पिअं ।

दिंतिअं पडिआइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥ ४१ ॥

छा० तद्भवेद्भक्तपाणं तु, संयतानामकल्पिकम् ।

ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥ ४१ ॥

‘तं भवे०’—तद् भवेद् भक्तपाणं तु संयतानामकल्पिकम्, इह च स्थविरकल्पिकानामनिपी(प)दनोत्थानाभ्यां यथाऽवस्थितया दीयमानं कल्पिकम्, जिनकल्पिकानां तु आपन्नसत्त्वया प्रथमादिवसादारभ्य सर्वथा दीयमानमकल्पिकमेवेति सम्प्रदायः, यतश्चैवमतो ददतीं प्रत्याचक्षीत न मे कल्पते तादृशम् ॥ ४१ ॥

थणगं पिज्जमाणी दारुणं वा कुमारिअं ।

तं निखिखवित्तु रोअंतं आहरे पाणभोअणं ॥ ४२ ॥

॥ १०४ ॥

छा० स्तन्यं पाययन्ती, दारकं वा कुमारिकाम् ।

तौ निक्षिप्य रुदन्तौ, आहरेत्पानभोजनम् ॥ ४२ ॥

अध्य० ५(१)

‘थणगं०’—स्तनं(न्यं) पाययन्ती दारकं कुमारिकां वा, वा भिन्नक्रमः, तं दारकादिं निक्षिप्य रुदन्तं भूम्यादौ—आहरेत्पानभोजनम्, अत्राऽयं वृद्धसम्प्रदायः—“गच्छवासी जइ थणजीवी पिअंतो णिक्खित्तो तो न गिण्हंति, रोवड वा मा वा, अह अण्णं पि आहारेइ तो जति ण रोवइ तो गिण्हंति, अह रोवइ तो ण गिण्हंति, अह अपिअंतओ णिक्खित्तो थणजीवी रोवइ तओ ण गिण्हंति, अह ण रोवति तो गिण्हंति । गच्छणिग्गया पुण जाव थणजीवी ताव रोवड वा मा वा पिअंतओ वा अपिअंतओ वा ण गिण्हंति, जाहे अण्णं पि आहारेउं आढत्तो भवति, ताहे जइ पिअंतओ तो रोवड वा मा वा ण गिण्हंति, अह अपिअंतओ तो जइ रोवइ तो परिहरंति, अरोविण्णं गिण्हंति, सीसो आह—‘ को तत्थ दोसोत्ति(त्थि) ? ’ आयरिओ भणइ—‘ तस्स णिक्खिप्पमाणस्स खरेहिं हत्थेहिं धिप्पमाणस्स अधिरत्तणेण परियावणादोसो मज्जारादि वा अवहरेज्ज’त्ति ” ॥ ४२ ॥

तं भवे भत्तपाणं तु संजयाण अकप्पिअं ।

दिंतिअं पडिआइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥ ४३ ॥

छा० तद्भवेद्भक्तपानं तु, संयतानामकल्पिकम् ।

ददतीं मत्याचक्षीत, न मे कल्पते तावुशम् ॥ ४३ ॥

॥ १०५ ॥

छा० स्वाच्च श्रमणार्थं, गुर्विणी कालमासवती ।

उत्थिता वा निपीदेत्, निषण्णा वा पुनरुत्तिष्ठेत् ॥ ४० ॥

अध्य० ५(१)

‘सिआ०’—स्यात्कदाचित्साधुनिमित्तं गुर्विणी पूर्वोक्ता वा (कालमासवती), गर्माऽऽधानाज्जवमासवतीत्यर्थः, उत्थिता वा यथाकथञ्चिनिपीदेत्, निषण्णा वा स्वव्यापारेण पुनरुत्तिष्ठेत्, वदामीति साधुनिमित्तमेवेति ॥ ४० ॥

तं भवे भक्तपाणं तु संजयाण अकप्पिअं ।

दिंतिअं पल्लिआइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥ ४१ ॥

छा० तद्भवेद्भक्तपाणं तु, संयतानामकल्पिकम् ।

ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥ ४१ ॥

‘तं भवे०’—तद् भवेद् भक्तपाणं तु संयतानामकल्पिकम्, इह च स्थविरकल्पिकानामनिपी(ष)दनोत्थानाभ्यां यथाऽवस्थितया दीयमानं कल्पिकम्, जिनकल्पिकानां तु आपन्नसत्त्वया प्रथमादिवसादारभ्य सर्वथा दीयमानमकल्पिकमेवेति सम्प्रदायः, यतश्चैवमतो ददतीं प्रत्याचक्षीत न मे कल्पते तादृशम् ॥ ४१ ॥

थणमं पिज्जमाणी दारगं वा कुमारिअं ।

तं निक्खिवित्तु रोअतं आहरे पाणभोअणं ॥ ४२ ॥

॥ १०४ ॥

छा० स्तन्यं पाययन्ती, दारकं वा कुमारिकाम् ।

तौ निक्षिप्य रुदन्तौ, आहरेत्पानभोजनम् ॥ ४२ ॥

अध्य० ५(१)

‘थणमं०’—स्तनं(न्यं) पाययन्ती दारकं कुमारिकां वा, वा भिन्नक्रमः, तं दारकादिं निक्षिप्य रुदन्तं भूम्यादौ—आहरेत्पानभोजनम्, अत्राऽयं वृद्धसम्प्रदायः—“गच्छवासी जइ थणजीवी पिअंतो निक्खित्तो तो न गिण्हंति, रोवउ वा मा वा, अह अण्णं पि आहारेइ तो जति ण रोवइ तो गिण्हंति, अह रोवइ तो ण गिण्हंति, अह अपिअंतओ निक्खित्तो थणजीवी रोवइ तओ ण गिण्हंति, अह ण रोवति तो गिण्हंति । गच्छणिग्गया पुण जाव थणजीवी ताव रोवउ वा मा वा पिअंतओ वा अपिअंतओ वा ण गिण्हंति, जाहे अण्णं पि आहारेउं आढत्तो भवति, ताहे जइ पिअंतओ तो रोवउ वा मा वा ण गिण्हंति, अह अपिअंतओ तो जइ रोवइ तो परिहरंति, अरोविण्णं गिण्हंति, सीसो आह—‘को तत्थ दोसोत्ति(त्थि)?’ आयरिओ भणइ—‘तस्स निक्खिप्पमाणस्स खरेहिं हत्थेहिं विप्पमाणस्स अधिरत्तणेण परियावणादोसो मज्जारदि वा अवहरेज्ज’ति” ॥ ४२ ॥

तं भवे भक्षपाणं तु संजयाण अकप्पिअं ।

दित्तिअं पडिआइक्खे न मे कप्पइ तारिस्सं ॥ ४३ ॥

छा० तद्भवेद्भक्षपाणं तु, संयतानामकल्पिकम् ।

ददतीं मत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥ ४३ ॥

॥ १०५ ॥

‘तं भवे०’—व्याख्या पूर्ववत् ॥ ४३ ॥

दशवि०
॥ १०६ ॥

जं भवे भक्तपाणं तु कल्पाकल्पमि संकिअं ।
दितिअं पडिआइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥ ४४ ॥

अध्य० ५(१)

छा० यद्भवेद्भक्तपाणं तु, कल्पाकल्पयोः शङ्कितम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥ ४४ ॥

‘ज भवे०’—यद् भवेद् भक्तपाणं तु कल्पाऽकल्पयोः—कल्पनीयाऽकल्पनीय—धर्मविषय इत्यर्थः, किम् ?
शङ्कित—न विद्मः किमिदमुद्गमादिदोषयुक्तं किं वा नेति, एवमाशङ्काऽऽस्पदीभूतम्, तदित्थम्भूतमसति कल्पनीयनिश्चये
‘दितिअ०’—(व्याख्या पूर्ववत्) ॥ ४४ ॥

दगवारेण पिहिअं नीसाए पीढेण वा ।
लोढेण वा वि लेवेण सिलेसेण व केणइ ॥ ४५ ॥

छा० उदककुम्भेन पिहितं, पेयण्या पीठकेन वा ।
शिलापुत्रकेण(लोढेन) वाऽपि लेपेन, श्लेषेण वा केनचित् ॥ ४५ ॥

॥ १०६ ॥

वर्षादि०
॥ १०७ ॥

‘दग्वारेण०’-‘दग्वारेण’-उदककुम्भेन पिहितं भाजनस्थं सन्तं स्थगितं, ‘नीसाएत्ति’-येषण्या, पीठकेन वा-
काष्ठपीठादिना, ‘लोढेण वा’-शिलापुनकेण, लेपेन-मृष्टेपादिना, श्लेषेण वा-केनचिज्जतुसम्बन्धिसिक्खादिना ॥ ४५ ॥

अध्य० ५ (१)

तं च उब्भिदिआ दिज्जा समणट्ठाए व दावए ।

दित्तिअं पडिआइक्खे नू मे कप्पइ तारिसं ॥ ४६ ॥

छा० तच्चोद्धिद्य दद्यात्, श्रमणार्थं वा दापयेत् ।

ददतीं मत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥ ४६ ॥

‘तं च उब्भिदिआ०’-तच्च स्थगितं लिप्तं वा सत्, उद्भिद्य-उद्धाद्य दद्यात्, च श्रमणाऽर्थमेव ‘दायको
नाऽऽत्माऽ(ऽन्या)र्थम् ॥ ४६ ॥

असणं पाणगं वा वि खाइमं साइमं तथा ।

जं जाणिज्ज सुणिज्जा वा दाणडा पगडं इमं ॥ ४७ ॥

छा० अशनं पानकं वाऽपि, खाद्यं स्वाद्यं तथा ।

यज्जानीयाच्छृणुयाद्वा, दानार्थं प्रकृतमिदम् ॥ ४७ ॥

॥ १०७ ॥

१ मधुरिकं मधुच्छत्रं सिक्खमित्युच्यते । २ ‘दायिका’ इति वा ।

‘तं भवे०’—व्याख्या पूर्ववत् ॥ ४३ ॥

दशवि०
॥ १०६ ॥

जं भवे भक्तपाणं तु कल्पाकल्पमि संकिअं ।
‘दितिअं’ पडिआइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥ ४४ ॥

अध्य० ५(१)

छा० यद्भवेद्भक्तपाणं तु, कल्पाकल्पयोः शङ्कितम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥ ४४ ॥

‘जं भवे०’—यद् भवेद् भक्तपाणं तु कल्पाऽकल्पयोः—कल्पनीयाऽकल्पनीय—धर्मविषय इत्यर्थः, किम् ?
शङ्कित—न विन्नः किमिदमुद्गमादिदोषयुक्तं किं वा नेति, एवमाशङ्काऽऽस्पृदीभूतम्, तदित्थम्भूतमसति कल्पनीयनिश्चये
‘दितिअ०’—(व्याख्या पूर्ववत्) ॥ ४४ ॥

दगवारेण पिहिअं नीसाएँ पीढएण वा ।
लोढेण वा वि लेवेण सिलेसेण व केणइ ॥ ४५ ॥

॥ १०६ ॥

छा० उदककुम्भेन पिहितं, पेयण्या पीठकेन वा ।
शिलापुत्रकेण(लोढेन) वाऽपि लेपेन, श्लेषेण वा केनचित् ॥ ४५ ॥

ध्वग्वारेण ०'-^१द्वग्वारेण'-उदरकुम्भेन विहितं भाजनस्थं सन्तं स्थगितं, 'नीसाएत्ति'-येषणा, पीठकेन वा-
पाठनीयादिना, 'लोदेण वा'-शिलातुनकेण, लेपेन-मृदेषादिना, श्लेषेण वा-केनचिज्जतुसम्बन्धिसिक्खादिना ॥ ४५ ॥

अध्य०५ (१)

तं च उग्मिदिआ दिज्जा समणट्ठाए व दावए ।

दित्तिअं पटिआइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥ ४६ ॥

छा० तद्योद्धिय दद्यात्, श्रमणार्थं वा दापयेत् ।

ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥ ४६ ॥

'तं च उग्मिदिमा०'-तच्च स्थगितं लिप्तं वा सत्, उद्धिय-उद्घाट्य दद्यात्, च श्रमणाऽर्थमेव दायको
नाऽऽन्नाऽऽज्या)र्षम् ॥ ४६ ॥

असणं पाणगं वा वि खाइमं साइमं तथा ।

जं जाणिज्ज सुणिज्जा वा दाणडा पगहं इमं ॥ ४७ ॥

छा० अशनं पानकं वाऽपि, खाद्यं स्वाद्यं तथा ।

यज्जानीयाच्छृणुयाद्वा, दानार्थं प्रकृतमिदम् ॥ ४७ ॥

॥ १०७ ॥

१ मृषिकं मृषच्छत्रं सितमित्युच्यते । २ 'दायिका' इति वा ।

‘असणं०’—अशनं पानकं वाऽपि स्वाद्यं स्वाद्यम्,—ओदन-आरनाल-लडुक-हरीतक्यादि, यज्जानीयात्—
आमन्त्रणादिना, शुणुयाद्वा—अन्यतः, यथा—‘दानाऽर्थं प्रकृतमिदम्’, दानार्थं प्रकृतं नाम साधुवादानिमित्तं यो
वदाति—अन्यापारः पापण्डिभ्यो देशाऽन्तरादेरागतो वणिक्प्रभृतिरिति ॥ ४७ ॥

तं भवे भक्तपाणं तु संजयाण अकप्पिअं ।

दिंतिअं पढिआइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥ ४८ ॥

छा० तद्भवेद्भक्तपाणं तु, संयतानामकल्पिकम् ।

ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥ ४८ ॥

‘तं भवे०’—तादृशं भक्तपाणम् (शेषं तथैव) ॥ ४८ ॥

असणं पाणगं वा वि खाइमं साइमं तहा ।

जं जाणिज्ज सुणिज्जा वा पुण्णट्ठा पगढं इमं ॥ ४९ ॥

छा० अशनं पानकं वाऽपि, स्वाद्यं स्वाद्यं तथा ।

यज्जानीयाच्छृणुयाद्वा, पुण्यार्थं प्रकृतमिदम् ॥ ४९ ॥

‘असणं०’—‘पुण्णट्ठ’ति—पुण्याऽर्थं प्रकृतं नामेति—साधुवादाऽनङ्गीकारेण पुण्याऽर्थमेव ॥ ४९ ॥

तं भवे भक्तपाणं तु संजयाण अकप्पिअं ।

दिंतिअं पडिआइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥ ५० ॥

छा० तद्भवेद्भक्तपाणं तु, संयतानामकल्पिकम् ।

ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥ ५० ॥

‘तं भवे०’—पूर्ववत् ॥ ५० ॥

असणं पाणगं वा वि खाइमं साइमं तहा ।

जं जाणिज्ज सुणिज्जा वा वणिमट्ठा पगडं इमं ॥ ५१ ॥

छा० अशनं पानकं वाऽपि, साद्यं स्वाद्यं तथा ।

यज्जानीयाच्छृणुयाद्वा, वनीपकार्थं प्रकृतमिदम् ॥ ५१ ॥

‘असणं०’—वणिमट्ठ’ति—वनीपकाः कृपणास्तदर्थमिति ॥ ५१ ॥

तं भवे भक्तपाणं तु संजयाण अकप्पिअं ।

दिंतिअं पडिआइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥ ५२ ॥

छा० तेन्द्रवेन्द्रक्तपानं तु, संयतानामकल्पिकम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥ ५२ ॥

‘तं भवे०’—(तारिसं) पूर्ववत् ॥ ५२ ॥

असणं पाणगं वा वि खाइमं साइमं तहा ।
जं जाणिज्ज सुणिज्जा वा समणट्ठा पगडं इमं ॥ ५३ ॥

छा० अशनं पानकं वाऽपि, खाद्यं स्वाद्यं तथा ।
यज्जानीयाच्छृणुयाद्वा, श्रमणार्थं प्रकृतमिदम् ॥ ५३ ॥

‘असणं०’—‘समणट्ठ’ति श्रमणाः—निर्ग्रन्थास्तेषामर्थम् ॥ ५३ ॥

अत्राऽऽह—पुण्यार्थप्रकृतपरित्यागे विशिष्टकुलेषु वस्तुतो भिक्षाया अग्रहणमेव, शिष्टानां पुण्याऽर्थमेव
पाकप्रवृत्तेः, तथाहि न पितृकर्मादिव्यपोहेनाऽऽत्माऽर्थमेव क्षुद्रसत्त्ववत्प्रवर्तन्ते शिष्टा इति, नैतदेवम्, अभिप्रायाऽपरिज्ञा-
नात्, स्वभोग्यातिरिक्तस्य देयस्यैव पुण्याऽर्थकृतस्य निषेधात्, स्वभृत्य—भोग्यस्य पुनरुचितप्रमाणस्य-इत्वरयदृच्छादेयस्य
कुशलप्रणिधानकृतस्याऽप्यानिषेधात्, इति । एतेनाऽदेयदानाऽभावः प्रत्युक्तः, देयस्यैव यदृच्छादानाऽनुपपत्तेः, तथा
व्यवहारदर्शनात्, अनीदृशस्यैव प्रतिषेधात्, तदारम्भदोषेण योगात्, यदृच्छादाने तु तदभावेऽपि आरम्भ-

प्रवृत्तेर्नाऽस्ती तदर्थ इत्यारम्भदोषाऽयोगात्, दृश्यते च कदाचित्सूतकादाविव सर्वेभ्य एव प्रदानविकला शिष्टाऽभिमता-
नामपि शास्त्रप्रवृत्तिरिति, विहिताऽनुष्ठानत्वाच्च तथाविधग्रहणाच्च दोष इति ।

अध्य० ५(१)

तं भवे भक्तपाणं तु संजयाण अकपिअं ।

द्विंतिअं पडिआइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥ ५४ ॥

छा० तद्भवेद्भक्तपाणं तु, संयतानामकल्पिकम् ।

ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥ ५४ ॥

‘तं भवे०’— व्याख्या पूर्ववत् ॥ ५४ ॥

उद्देसिअं कीअगडं पूइकम्मं च आहडं ।

अज्झोअरपामिच्चं मीसजायं च वज्जए ॥ ५५ ॥

छा० औद्देशिकं क्रीतकृतं, पूतिकर्म चाहृतम् ।

अध्यवपूरकं प्रामित्यं, मिश्रजातं च वर्जयेत् ॥ ५५ ॥

‘उद्देसिअं०’— उद्दिश्य कृतमीद्देशिकम्—उद्दिष्टकृतकर्मादिभेदम्, क्रीतकृतं—द्रव्यभाव-क्रय-क्रीत-
भेदम्, पूतिकर्म—सम्भाव्यमानाऽऽधाकर्माऽवयवसन्मिश्रणलक्षणम्, आहृतं—स्वग्रामाऽऽहृतादि, अध्यवपूरकं—

॥ १११ ॥

छा० तद्भवेद्भक्तपानं तु, संयतानामकल्पिकम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥ ५२ ॥

अध्य० ५(१)

‘तं गवे०’—(तारिसं) पूर्ववत् ॥ ५२ ॥

असणं पाणमं वा वि खाइमं साइमं तहा ।
जं जाणिज्ज सुणिज्जा वा समणट्ठा पणडं इमं ॥ ५३ ॥

छा० अज्ञानं पानकं वाऽपि, स्वाद्यं स्वाद्यं तथा ।
यज्जानीयाच्छृणुयाद्वा, श्रमणार्थं प्रकृतमिदम् ॥ ५३ ॥

‘असणं०’—‘समणट्ठा’ति श्रमणाः—निर्ग्रन्थास्तेषामर्थम् ॥ ५३ ॥

अत्राऽऽह—पुण्यार्थप्रकृतपरित्यागे विशिष्टकुलेषु वस्तुतो भिक्षाया अग्रहणमेव, शिष्टानां पुण्याऽर्थमेव पाकप्रवृत्तेः, तथाहि न पितृकर्मादिव्यपोहेनाऽऽत्माऽर्थमेव क्षुद्रसत्त्ववत्प्रवर्तन्ते शिष्टा इति, नैतदेवम्, अभिप्रायाऽपरिज्ञानात्, स्वभोग्यातिरिक्तस्य देयस्यैव पुण्याऽर्थकृतस्य निषेधात्, स्वभृत्य—भोग्यस्य पुनरुचितप्रमाणस्य—इत्वरयदृच्छादेयस्य कुशलप्रणिधानकृतस्याऽन्यनिषेधात्, इति । एतेनाऽदेयदानाऽभावः प्रत्युक्तः, देयस्यैव यदृच्छादानाऽनुपपत्तेः, तथा व्यवहारदर्शनात्, अनीदृशस्यैव प्रतिषेधात्, तदारम्भदोषेण योगात्, यदृच्छादाने तु तदभावेऽपि आरम्भ-

॥ ११० ॥

‘असृणं०’—‘पुष्केतु’ इत्यादि—पुष्पैर्जातिपटलाऽऽदिभिर्मवेदुन्मिश्रं, बीजैर्हरितैर्वा [तृतीयाऽर्थे सप्तमी]
इति ॥ ५७ ॥

अध्य० ५(१)

तं भवे भक्तपाणं तु संजयाण अकल्पिअं ।
दिंतिअं पडिआइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥ ५८ ॥

छा० तद्भवेद्भक्तपाणं तु, संयतानामकल्पिकम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥ ५८ ॥

‘तं भवे०’—तादृशं भक्तपाणं तु संयतानामकल्पिकम्, यत्तश्चैवमतो ददती प्रत्याचक्षीत न मम कल्पते
तादृशमिति ॥ ५८ ॥

असृणं पाणगं वा वि साइमं साइमं तहा ।
उदग्गंमि हुज्ज निक्खिसत्तं उत्तिगपणगेसु वा ॥ ५९ ॥
छा० अशनं पानकं वाऽपि, स्वाद्यं स्वाद्यं तथा ।
उदके भवेन्निक्षिप्तम्, उत्तिङ्गपनकेषु वा ॥ ५९ ॥

॥ ११३ ॥

‘असृणं०’—अशनं पानकं स्वाद्यं स्वाद्यं तथा—उदके भवेन्निक्षिप्तम्, उत्तिङ्गपनकेषु वा—फीटिकानगरोल्ली-

स्वार्थमूलाद् ग्र(र)हणे प्रक्षेपरूपम्, प्रामित्यं—साध्वर्थमुच्छ्रिय दानलक्षणम्, मिश्रजातं च—आदित एव गृहिसंपत्-
मिश्रोपस्कृतरूपम् ॥ ५५ ॥ सशयव्यपोहायोपायमाह—

अध्य० ५(१)

पशवि०
॥ ११२ ॥

उगमं से अ पुच्छिज्जा कस्सडा केण वा कडं ।

सुच्चा निस्संकिअं सुद्धं पडिगाहिज्ज संजए ॥ ५६ ॥

छा० उद्गमं तस्य च पृच्छेत्, कस्यार्थं केन वा कृतम् ।

श्रुत्वा निःशङ्कितं शुद्धं, प्रतिगृहीयात् संयतः ॥ ५६ ॥

‘उगमं०’—उद्गमं—तत्प्रसूतिरूपं, से—तस्य शङ्कितस्याऽशनाऽऽदेः पृच्छेत्—‘कस्याऽर्थमेतत्, केन वा कृतमेतत्?’, श्रुत्वा तद्वचो—न भवदर्थं किन्त्वन्याऽर्थमित्येवम्भूतं, निःशङ्कितम्—शुद्धं प्रतिगृहीयात् संयतः, विपर्ययग्रहणे दोषादिति ॥ ५६ ॥

असणं पाणं वा वि खाइमं साइमं तहा ।

पुप्फेसु हुज्ज उम्मीसं बीएसु हरिएसु वा ॥ ५७ ॥

छा० अशनं पानकं वाऽपि, खाद्यं स्वाद्यं तथा ।

पुष्पेषु भवेदुन्मिश्रं, बीजेषु हस्तिषु वा ॥ ५७ ॥

॥ ११२ ॥

छा० तद्भवेद्भक्तपानं तु, संयतानामकल्पिकम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥ ६२ ॥

‘तं भवे०’—पूर्ववत् ॥ ६२ ॥

एवं उस्सक्किआ ओसक्किआ उज्जालिआ (पज्जालिआ) निव्वाविआ ।
उस्सिचिआ निस्सिचिआ उव्व(ओव)त्तिआ ओआरिआ दए ॥ ६३ ॥

छा० एवमुत्प्यप्कयावप्यप्कय, उज्ज्वालय (प्रज्ज्वालय) निर्वाप्य ।
उत्तिच्य निपिच्य उद्व(अपव)र्त्य, अवतार्य दद्यात् ॥ ६३ ॥

‘एवं उस्सक्किआ०’—यावद् गिक्कां ददामि तावन्माभूद् विंध्यास्यती (विंध्यासितमि)ति उत्तिच्य
दद्यात्, एवम्—‘ओसक्किआ’—अवसर्प्य—अतिदाहभयादुल्मुकान् उत्सार्येत्यर्थः, एवम्—‘उज्जालिआ, पज्जालिआ’—
उज्ज्वालय—अर्द्धविंध्यातं सकृदिन्धनप्रक्षेपेण, प्रज्ज्वालय—पुनः पुनः, एवम्—‘निव्वाविआ’—निर्वाप्य दाहभयादेवेति
भावः, एवम्—‘उस्सिचिआ’—उत्तिच्य—अतिभूतादुज्ज्वलनभयेन, ततो वा दानार्थं तेमनादीनि, ‘निस्सिचिआ’—
निपिच्य तदभाजनाद्रहितं द्रव्यमन्यत्रभाजने तेन दद्यात्, उद्वर्तनभयेन वा द्रांर्हितमुदकेन निपिच्य, एवम्—
‘ओवत्तिआ ओआरिआ’—अपवर्त्य तेनैव अभिनिक्षिप्तेन भाजनेन अन्येन वा दद्यात्, तथा अवतार्य दाहभयात्,
दानार्थं वा दद्यात्, अत्र तदन्यथ साधुनिमित्तयोगे न कल्पते ॥ ६३ ॥ इत्याह च—

१ द्राहितं—भाजनस्थं निक्षिप्तमित्यर्थः ।

(ली)१ वेति, “ उदयनिखिलं दुविहं—अर्गतरं, परंपरं च, अणंतरं—णवणीय—गुगलमादि, परंपरं—जलघटोवरि
भायणत्वं दधिमादि, एवं उर्त्तिगणणसु ”—भावनीयमिति ॥ ५९ ॥

अध्य० ५(१)

दर्शय०
॥ ११४ ॥

तं भवे भक्तपाणं तु संजयाण अकप्पिअं ।

दिंतिअं पडिआइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥ ६० ॥

छा० तद्भवेद्भक्तपाणं तु, संयतानामकल्पिकम् ।

ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥ ६० ॥

“ तं भवे० ”—पूर्ववत् ॥ ६० ॥

असणं पाणगं वा वि खाइमं साइमं तहा ।

तेउम्मि हुज्ज निक्खित्तं तं च संघट्ठिआ दए ॥ ६१ ॥

छा० अशनं पानकं वाऽपि, खाद्यं स्वाद्यं तथा ।

तेजसि भवेन्निक्षिप्तं, तच्च सङ्घट्ट्य दद्यात् ॥ ६१ ॥

‘असणं०’—‘तेउम्मि’ इत्यादि—तेजस्यग्नौ निक्षिप्तं (भवेत्) तच्च संघट्ट्य दद्यात् ॥ ६१ ॥

तं भवे भक्तपाणं तु संजयाण अकप्पिअं ।

दिंतिअं पडिआइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥ ६२ ॥

॥ ११४ ॥

‘न तेण०’—न तेन काष्ठादिना भिक्षुर्मच्छेत्, दृष्टस्तत्राऽसंयमः, तच्चलने प्राण्युपमर्दसम्भवात्, तथा गम्भीरमप्रकाशम्, सुषिरं चैवमन्तःसाररहितम्, सर्वेन्द्रियसमाहितः ॥ ६६ ॥

निस्सेणिं फलकं पीठं ऊसवित्ताणमारुहे ।

मंचं कीलं च प्रासायं समणद्धा एव दावए ॥ ६७ ॥

छा० निश्रेणिं फलकं पीठम्, उत्सृत्याऽऽरोहेत् ।

मञ्चं कीलकं च प्रासादं, श्रमणार्थमेव दायकः(यिका) ॥ ६७ ॥

‘निस्सेणि०’—निश्रेणीं फलकं पीठम्, ‘ऊसवित्ताण’—उच्छ्रित्य—ऊर्ध्वंकृत्य(त्वा) इत्यर्थः, आरोहेन्मञ्चं कीलं च उच्छ्रित्य, कमारोहेदित्याह—प्रासादं श्रमणाऽर्थ—साधुनिमित्तं दायकः—दाता ॥ ६७ ॥ अत्रैव दोषमाह—

दुरूहमाणी पवडिज्जा हत्थं पायं व लूसए ।

पुढवीजीवे वि हिंसिज्जा जे अ तण्णिस्सिआ जगा(गे) ॥ ६८ ॥

छा० दूरोहन्ती प्रपतेत्, हस्तं पादं वा लूपयेत् ।

पृथ्वीजीवानपि हिंस्यात्, ये (यानि) च तन्निश्रिता(नि) जगति(न्ति) ॥ ६८ ॥

‘दुरूहमाणी०’—आरोहन्ती प्रपतेत्, प्रपतन्ती च हस्तं पादं वा लूपयेत्, स्वकं स्वत एव खण्डयेत्, तथा पृथिवीजीवान् विहिंस्यात् कथञ्चिन्नस्थान्, तथा यानि च तन्निश्रितानि जगन्ति—प्राणिनश्च (तान्) हिंस्यात् ॥ ६८ ॥

तं भवे भक्तपाणं तु संजयाण अकप्पिअं ।

दिंतिअं पडिआइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥ ६४ ॥

छा० तद्भवेद्भक्तपाणं तु, संयतानामकल्पिकम् ।

ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥ ६४ ॥

‘तं भवे०’—पूर्ववत् ॥ ६४ ॥ गोचराऽधिकार एव गोचरप्रविष्टस्य यद् भवेत् तदाऽऽह—

हुज्ज कट्ठं सिलं वा वि इट्ठालं वा वि एगया ।

ठविअं संकमट्ठाए तं च हुज्ज चलाचलं ॥ ६५ ॥

छा० भवेत्काष्ठं शिला वाऽपि, इष्टिका वाऽप्येकदा ।

स्थापितं संक्रमार्थाय, तच्च भवेच्चलाऽचलम् ॥ ६५ ॥

‘हुज्ज०’—भवेत् काष्ठ, शिला वाऽपि, इट्ठाल वाऽप्येकदा—एकस्मिन् काले प्रावृडादौ स्थापितं संक्रमार्थं, तच्च भवेच्चलाऽचलमप्रतिष्ठितम् ॥ ६५ ॥

न तेण भिक्खू गच्छिज्जा दिट्ठो तत्थ असंजमो ।

गंभीरं झुसिरं चेव सव्विदिअसमाहिण ॥ ६६ ॥

छा० न तेन भिक्षुर्गच्छेत्, दृष्टस्तन्नाऽसंयमः ।

गम्भीरं शुषिरं चैव, सर्वेन्द्रियसमाहितः ॥ ६६ ॥

वशवि०
॥ ११९ ॥

छा० तथैव सक्तुचूर्णानि, कोलचूर्णान्यापणे ।

शङ्कुलिं फाणितमपूपम्, अन्यद्वाऽपि तथाविधम् ॥ ७१ ॥

‘तथैव’०—तथैव सक्तुचूर्णान्—सक्तुन्, कोलचूर्णान्—बदरचूर्णान्, आपणे—वीथ्यां, शङ्कुलीं—तिलपर्पटिकां, फाणितं—द्रवगुडं, पूवं—ऊणिकादिमयम्, अन्यद्वा तथाविधं मोदकादि ॥ ७१ ॥

अध्य० ५(१)

विक्रायमाणं प्रसहं रण परिफासिअं ।

दित्तिअं पडिआइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥ ७२ ॥

छा० विक्रीयमाणं प्रसहं (प्रसह्यं), रजसा परिसृष्टम् ।

ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥ ७२ ॥

‘विक्रायमाणं०’—विक्रीयमाणम् आपण इति वर्तते, प्रसह्यम्—अनेकदिवसस्थापनेन प्रकटम्, अत एव रजसा पार्थिवेन परिसृष्टं तदित्थम्भूतं, तत्र ददतीं प्रत्याचक्षीत न मम कल्पते तादृशम् ॥ ७२ ॥

बहुअट्ठिअं पुग्गलं अणिमिसं वा बहुकंदयं ।

अत्थिअं तिंदुअं बिलं इच्छुखंडं व सं(सिं)बलिं ॥ ७३ ॥

॥ ११९ ॥

एआरिसे महादोसे जाणिऊण महेसिणो ।

तम्हा मालोहडं भिक्खं न पडिगिण्हंति संजया ॥ ६९ ॥

छा० एतादृशान्महादोषान्, ज्ञात्वा महर्षयः ।

तस्मान्मालापहतां भिक्षां, न प्रतिगृह्णन्ति संयताः ॥ ६९ ॥

‘एआरिसे०’—ईदृशान् अनन्तरोदितान् महादोषान् ज्ञात्वा महर्षयो यस्मादोषकारिणीयं तस्मान्मालापहतां-
मालादानीता भिक्षा न प्रतिगृह्णन्ति संयताः, पाठाऽन्तरं वा—‘हंदि मालोहड’ति—मालापहतामिति, हंदीत्युप-
पदर्शने ॥ ६९ ॥ प्रतिषेधाऽधिकार एवाऽऽह—

कंदं मूलं पलंबं वा आमं छिन्नं व सण्णिरं ।

तुंबागं सिंगवेरं च आमगं परिवज्जे ॥ ७० ॥

छा० कन्दं मूलं प्रलम्बं वा, आमं छिन्नं वा सन्निरम् ।

तुम्बाकं शृङ्गवेरं च, आमकं परिवर्जयेत् ॥ ७० ॥

‘कंदं०’—कन्दं—सूरणाऽऽदिलक्षण, मूलं—विदारिकारूपं, प्रलम्बं वा—तालफलादि, आमं छिन्नं वा सन्निरं—
सन्निरमिति पत्रशकं, तुम्बाकम्—त्वड्मज्जान्तर्वर्ति—आर्द्रं वा तुलसीमित्यन्ये, शृङ्गवेरम्—आर्द्रकम्, आमं परिवर्जयेत् ॥ ७० ॥

तहेव सत्तुचुण्णाइं कोलचुण्णाइं आवणे ।

सक्कुलिं फाणिअं पूअं अण्णं वा वि तहविहं ॥ ७१ ॥

अध्य० ५(१)

॥ ११८ ॥

अप्ये सिआ भोअणजाए बहुउज्झिअधम्मिए ।

दित्तिअं पडिआइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥ ७४ ॥

अध्य०५(१)

छा० अल्पं स्यान्नोजनजातं, बहुज्जनधर्मकम् ।

ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥ ७४ ॥

‘अप्ये०’—अल्पं स्याद् भोजनजातमत्र, बहुज्जनधर्मकमेतत्, यतश्चैवम् अतो ददतीं प्रत्याचक्षीत न मे कल्पते तादृशमिति ॥ ७४ ॥ उक्तोऽशनविधिः, साम्प्रतं पानविधिमाह—

तहेवुच्चावयं पाणं अदुवा वारधोअणं ।

संसेइमं चाउलोदगं अहुणाधोअं विवज्जए ॥ ७५ ॥

छा० तथैवोच्चावचं पानम्, अथवा घट(वारक)धावनम् ।

संस्वेदिमं(दजं) तण्डुलोदकम्, अधुनाधौतं विवर्जयेत् ॥ ७५ ॥

‘तहेवु०’—तथैव यथाऽशनमुच्चावचं, पानं चोच्चं वर्णाद्युपेतम्, अवचं वर्णादिहीनम्, अथवा वारक-
धावनं—गुड-घट-धावनादि, संस्वेदजं पिष्टोदकादि, तण्डुलोदकं च अधुनाधौतमपरिणतं विवर्जयेदिति ॥ ७५ ॥

॥ १२१ ॥

अत्रैव विधिमाह—

छा० बह्वस्थिकं पुद्गलम्, अनिमिपं वा बहुकण्टकम् ।

अस्थिकं तिन्दुकं बिल्वम्, इक्षुखण्डं वा शाल्मलिम् ॥ ७३ ॥

६२०
१ १२० ॥

‘बहुअट्टिअं०’-बह्वस्थिपुद्गलं-मांसम्, अनिमिपं वा-मत्स्यं वा बहुकण्टकम्, अयं किल कालावपे-
क्षया ग्रहणे प्रतिषेधः । अन्ये त्वभिदधति- “वनस्पत्यधिकारात् तथाविधफलाऽभिधाने-एते इति”, तथा चाह-
अच्छिकम्-अच्छिकवृक्षफलम्, तेन्दुकं-तेन्दुकीफलम्, बिल्वम् इक्षुखण्डमिति च प्रतीते, शाल्मलीं वा-बल्लादिकलं
वा, ‘वा’शब्दस्य व्यवहितः सम्बन्धः ॥ ७३ ॥ अत्रैव दोषमाह-

(१) अत्राऽयं विशेषविमर्शः-पुद्गलाऽनिमिपशब्दयोरन्यार्थयोरपि बह्वस्थिकबहुकण्टक-विशेषणे मत्स्यमांसयोः
शक्तिं ग्राह्यतः, किन्तु प्राणिघातपातकात्सुदूरं गतस्याऽऽर्हताऽऽगमस्य संयताऽऽने मत्स्यमांससंनिवेशो ब्रह्मचारिणो वेद्याऽभिनि-
वेश इव भ्रोनियस्य चाण्डालाऽऽलिङ्गनमिव नितरामान्तरमुद्देजयति, तस्मात् त्रिभिः करणैर्गोमैश्च जिघांसां परिहरत आर्हतस्य मुनेः-

“नाऽकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते कश्चित् । संस्कर्ता चोपहर्ता च स्वादकश्चेति घातकाः” ॥ १ ॥

इत्यादीनि मानवान्यपि वचनानि स्मृतिपथादप्यास्पन्तीति न प्रतीतिर्बलवती, तस्मात्प्रक्षिप्तं ग्राधेति बलवद्भिज्ञानम् ।

अयं मूलस्थेयं गाथा तत्रत्यनिषेध्यानामितरथा निषेधाऽसम्भवात्, अत्रपक्षेऽपि समाचक्षते विचक्षणाः-“अत्र ‘पुद्गलं’
‘अणिमिपं’ इति सविशेषणं पदद्वयं तथोपन्यस्तं यथा च प्रकरणमिदं सन्दिग्धमभूत्, पक्षद्वयसूचनया च वृत्तिकारैरपि काऽपि
निर्णीतिर्न प्रसा, प्रकरणमिदमादाय धीधनैरिदानीन्तनैर्जनाऽऽगमस्थमात्रं पुद्गलादिपदं फलार्थकमेवेति सप्रमाणं निर्णीतम्, अत एव
विक्षेपं निर्जिनीषुभिर्विषयेऽत्र उपाध्यायमुनिभिः शतावधानिमुनिभिश्च प्रणीतनिबन्धतोऽधिकमवसेयम् । किन्तु बहुषु स्थलेषु निरुक्तं
पदं मत्स्यमांसार्थकतयेव वृत्तिकारैर्द्विकृतम्, अतश्च मानसं संशेतेऽनुमिनोति च यत्सौगतसाहित्यप्रत्यासत्त्याऽऽर्हतसाहित्येऽपि
जनकविमनुसृत्य तच्छाया पतिता किन्तु नितरामहिंसके जेनागमेऽधुना सा शोभा नासद्यतीति ॥

अध्य० ५(१)

॥ १२० ॥

थोवमासायणद्वाए हत्थगम्मि दलाहि मे ।

मा मे अच्छंवल्लं पूइं नालं तिण्हं विणित्तए ॥ ७८ ॥

छा० स्तोक्रमास्वादतार्थं, हस्तके देहि मे ।

मा मे अत्यम्लं पूति, नाऽलं तृष्णां विनेतुम् ॥ ७८ ॥

‘थोवमा०’—स्तोक्रमास्वादानाऽर्थं प्रथमं तावद्वस्ते देहि मे, यदि साधुप्रायोग्यं ततो ग्रहीष्ये, मा मेऽत्यम्लं पूति नाऽलं तृटपनोदाय, ततः किमनेनाऽनुपयोगिनेति ॥ ७८ ॥

तं च अच्छंवल्लं पूइं नालं तिण्हं विणित्तए ।

दिंतिअं पडिआइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥ ७९ ॥

छा० तच्चाऽत्यम्लं पूति, नाऽलं तृष्णां विनेतुम् ।

ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥ ७९ ॥

‘त च०’—तत्र अत्यम्लं पूति नाऽलं—न समर्थं तृटपनोदाय ॥ ७९ ॥

तं च तुज्ज अरामेणं विमणेण पडिच्छिअं ।

तं अप्पणा न पिवे णो वि अण्णस्स दावए ॥ ८० ॥

जं जाणिज्ज चिराधोअं मइए दंसणेण वा ।

पडिपुच्छिऊण सुच्चा वा जं च निस्संकिअं भवे ॥ ७६ ॥

छा० यज्जानीयाच्चिरधीतं, मत्या दर्शनेन वा ।

पडिपुच्छय श्रुत्वा वा, यच्च निःशङ्कितं भवेत् ॥ ७६ ॥

अध्य० ५(१)

‘जं जाणिज्ज ०’—यत्तण्डुलोदकं जानीयात्—विद्याच्चिरधीतं मत्या दर्शनेन वा, पृष्ट्वा गृहस्थं श्रुत्वा च प्रतिवचः, यच्च निःशङ्कितं भवेत् तद् गृह्णीयादिति शेषः (एषाऽवशिष्टा व्याख्या प्रत्यन्तरतः) ॥ ७६ ॥ उष्णोदकादिविधिमाह—

अजीवं परिणयं नच्चा पडिगाहिज्ज संजए ।

अह संकिअं भविज्जा आसाइत्ताण रोअए ॥ ७७ ॥

छा० अजीवं परिणतं ज्ञात्वा, प्रतिगृह्णीयात् संयतः ।

अथ शङ्कितं भवेत्, आस्वाद्य रोचयेत् ॥ ७७ ॥

‘अजीवं ०’—उष्णोदकमजीवपरिणतं ज्ञात्वा त्रिदण्डपरिवर्तनादिरूपं, मत्या दर्शनेन चेत्यादि वर्तते, तदित्यम्भूतं प्रतिगृह्णीयात्संयतः, चतुर्थरसमपि अपूत्यादि देहोपकारकं मत्यादिना ज्ञात्वा इति, अथ शङ्कितं भवेत् पूत्यादिभावेन, तत आस्वाद्य रोचयेत्, विनिश्चयं कुर्यात् ॥ ७७ ॥

॥ १२१ ॥

थोवमासायणद्वाए हत्थगम्मि दलाहि मे ।

मा मे अच्चंबिलं पूइं नालं तिण्हं विणित्तए ॥ ७८ ॥

छा० स्तोक्रमास्वादनार्थं, हस्तके देहि मे ।

मा मे अत्यम्लं पूति, नाऽलं तृष्णां विनेतुम् ॥ ७८ ॥

‘थोवमा०’—स्तोक्रमास्वादनाऽर्थं प्रथमं तावद्धस्ते देहि मे, यदि साधुप्रायोग्यं ततो ग्रहीष्ये, मा मेऽत्यम्लं पूति नाऽलं तृडपनोदाय, ततः किमनेनाऽनुपयोगिनेति ॥ ७८ ॥

तं च अच्चंबिलं पूइं नालं तिण्हं विणित्तए ।

दिंतिअं पडिआइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥ ७९ ॥

छा० तच्चाऽत्यम्लं पूति, नाऽलं तृष्णां विनेतुम् ।

ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥ ७९ ॥

‘तं च०’—तच्च अत्यम्लं पूति नाऽलं—न समर्थं तृडपनोदाय ॥ ७९ ॥

तं च हुज्ज अकामेणं विमणेण पडिच्छिअं ।

तं अप्पणा न पिवे णो वि अण्णस्स दावए ॥ ८० ॥

छा० तच्च भवेदकामेन, विमनसा प्रतीच्छितम् ।

तदाऽऽत्मना न पिबेत्, नोऽप्यन्यस्मै दापयेत् ॥ ८० ॥

अध्या० ५ (१)

‘तं च हुज्ज०’—तच्च अत्यम्लादि भवेदकामेन—उपरोधशीलतया, विमनस्केन—अन्यचित्तेन, प्रतीप्सितं—
गृहीतं, तदाऽऽत्मनः कायाऽपकारकमिति अनाभोगधर्मश्रद्धया न पिबेत्, नाऽप्यन्येभ्यो दापयेत्, रत्नाधिकेनाऽपि
स्वयं दानस्य प्रतिषेधज्ञापनाऽर्थं दापनग्रहणम्, आह च—“सब्वत्थ संजमं संजमाउ अप्पाणमेव” इत्यादि
भावनयेति ॥ ८० ॥ तर्हि किं कार्यम् ? इति तद्विधिमाह—

एगंतमवक्कमित्ता अचित्तं पडिलेहिआ ।

जयं पडिद्विज्जा पडिद्वप्प पडिक्कमे ॥ ८१ ॥

छा० एकान्तमवक्रम्य, अचित्तं प्रतिलेख्य ।

यतं परिष्ठापयेत्, परिष्ठाप्य प्रतिक्रामेत् ॥ ८१ ॥

‘एगंत०’—एकान्तमवक्रम्य—गत्वा, अचित्तं—दग्धदेशादि प्रत्युपेक्ष्य चक्षुषा, प्रमृज्य रजोहरणेन, स्थण्डिल-
मिति गम्यते, यतम्—भ्रत्वरितं प्रतिष्ठापयेत्, विधिना—त्रिर्वर्क्यपूर्वं व्युत्सृजेत्, प्रतिष्ठाप्य वसतिमागतः प्रतिक्रामेत्,

॥ १२४ ॥

१ त्रिवारं व्युत्सृजामीति पठित्वेत्यर्थः ।

ईष्यविधिकाम्(कीम्), एतच्च नहिरागतनियमकरणसिद्धं प्रातिक्रमणम्, अबहिरपि प्रतिष्ठाप्य प्रातिक्रमण-नियमज्ञा-
पनार्थमिति ॥ ८१ ॥ एवमन्नपानग्रहणविधिमभिधाय भोजनविधिमाह—

अध्या० ५ (१)

सिआ य गोअरग्गओ इच्छिज्जा परिभुत्तुअं ।

कुट्ठगं भित्तिमूलं वा, पडिलेहिताण फासुअं ॥ ८२ ॥

छा० स्याच्च गोचराग्रगतः, इच्छेत् परिभोक्तुम् ।

कोष्ठकं भित्तिमूलं वा, प्रतिलेख्य प्रासुकम् ॥ ८२ ॥

‘सिआ य गोअर०’—स्यात्कदाचित्, गोचराऽग्रगतो ग्रामान्तरं(रे) भिक्षां प्रविष्ट इच्छेत् परिभोक्तुं
जलादिरिपासाद्यभिभूतः, तत्र साधुर्वसत्यभावे कोष्ठकं—शून्य-चट्ट-मठादि, भित्तिमूलं वा—कुड्यैकदेशाऽऽदि, प्रत्यु-
पेक्ष्य चक्षुषा, प्रमृज्य रजोहरणेन, प्रासुकं—बीजादिरहितम् ॥ ८२ ॥ तत्र—

अणुण्णवित्तु मेहावी पडिच्छण्णम्मि संवुडे ।

हत्थगं संपमज्जित्ता तत्थ भुंजिज्ज संजए ॥ ८३ ॥

छा० अनुज्ञाप्य मेधावी, प्रतिच्छन्ने संवृतः ।

हस्तकं सम्प्रमार्ज्य, तत्र भुञ्जीत संयतः ॥ ८३ ॥

॥ ११५ ॥

‘अणुणवित्तु०’—अनुज्ञाप्य सागारिक—परिहारतो विश्रमणव्याजेन तत्स्वामिनमवग्रहं, मेधावी-साधुः, प्रतिच्छन्ने—तत्र कोष्ठकादौ संवृतः—उपयुक्तः सन् साधुः—ईर्याप्रतिक्रमणं कृत्वा तदनु हस्तकं—मुखवस्त्रिकारूपमादायेति वाक्यशेषः, संप्रमृज्य विधिना कायं तेन तत्र भुञ्जीत संयतः ॥ ८३ ॥

अध्य०५(१)

१ अत्र ‘हृत्थगं’ इति पदं विवृण्वन्तो विवृत्तिकारा एवमाहुः—“हस्तकं—मुखवस्त्रिका, तं गृहीत्वा तेन हस्तकेन देहं प्रमार्ज्य साधुर्भुञ्जीत इति”, अत्र ‘हृत्थगं संप्रमज्जिता’ अस्य सरलमर्थं ‘हस्ताद्यङ्गं प्रमार्ज्य’ इत्यकृत्वा हस्तकं मुखवस्त्रिका तदादाय तेन अङ्गप्रमार्जनविधानं निजसंप्रदायस्य दुर्निग्रहमाग्रहं ग्राहयति । शब्दस्य दीर्घदीर्घतरव्यापारमप्यभिव्यज्यति च । कियन्तो मान्याः सन्तः ‘हृत्थग’, इति पदेन रजोहरणी पुञ्जिकेति अर्थमकार्षुः, किन्तु सोऽर्थोऽपि ‘हस्ते भवो हस्तकः’ इति व्युत्पत्तिनिमित्तकः स्यात्, परन्तु सा व्युत्पत्तिरपि शब्दानुशासनशून्या, उचिता व्युत्पत्तिस्तु ‘हस्ते गच्छतीति हस्तगः’, अथवा ‘हस्त एव हस्तकः’ तम्, उपलक्षणत्वादवयवान्तराणामपि ग्रहणम्, ततश्च सिद्धचत्ययमर्थो यत्—‘हस्ताद्यङ्गं प्रमार्ज्य भुञ्जीत’, अमुमेवाऽर्थः सूत्रान्तरमपि संवदति, तथा च—प्रश्नव्याकरणे प्रथमसंवराध्ययने चतुर्थभावनायां भोजनविधौ—“ससीसं कायं” इत्युक्तेऽपि “तहाकरतलं” इति पदेन हस्ततलस्य पृथग्ग्रहणं कृतं विशिष्यप्रमार्जनीयत्वादस्य, प्रस्तुते ‘हस्तग’ इत्युक्तौ रजोहरणीत्यर्थो भविष्यति ‘हस्तकं’ इत्युक्तौ हस्तः करतलं गृह्यते, उपलक्षणत्वाद् इतरेऽवयवा अपि गृहीता भवन्ति, प्रमार्जनीं विना प्रमार्जनक्रियाया अनुपपत्तेर्भवति तस्यास्तथाऽक्षेपः । एवं प्रमार्जनीकरतलरूपावभावाप्यर्थो भवतः सामञ्जस्योपेतौ, तथापि वृत्तिकृता यत् ‘हस्तकं’ इतिपदस्य मुखवस्त्रिकारूपोऽर्थो विहितः, तत्र समीचीनम्, प्रमार्जनक्रियायां मुखवस्त्रिकाया असाधकतमत्वात् । अस्मिन्नेवाऽध्ययनेऽष्टसप्ततितमायां गाथायामपि ‘हृत्थगंमि दलाहि मे’ अत्र सप्तम्यन्तहस्तकपदस्य ‘हस्तकः’—हस्त एवार्थः सर्वसम्मतो वृत्तिकारेणाऽप्यङ्गीकृतः, तस्यैव ‘हृत्थग’पदस्य मुखवस्त्रिकारूपोऽर्थः तेनैव वृत्तिकृता क्रियते इति ‘इयमर्थप्रणाली व्याख्याबुद्धिवलाऽपेक्षा’ इति कृत्वाऽऽगममाक्षेपाहं कुरुते, अधिकं सुधीभिः स्वयमुद्यम् ।

॥ १२६ ॥

वशवि०
॥ १६७ ॥

तत्थ से भुंजमाणस्स अट्ठिअं कंटओ सिआ ।

तणकट्टसक्करं वा वि अण्णं वा वि तहाविहं ॥ ८४ ॥

छा० तत्र तस्य भुञ्जानस्य, अस्थिकं कण्टकः स्यात् ।

तृणकाष्ठशर्करा वाऽपि, अन्यद्वाऽपि तथाविधम् ॥ ८४ ॥

‘तत्थ से०’—तत्र से—तस्य साधोर्भुञ्जानस्य अस्थि कण्टको वा स्यात्, कथञ्चिद्बृहिणां प्रमाददोषात्, कारणगृहीते पुद्गल एवेत्यन्ये, तृण—काष्ठ—शर्करादि वाऽपि स्यात्, उचितभोजनेऽन्यद्वाऽपि तथाविधं बदरकण्ट-
कादि ॥ ८४ ॥

तं उक्खिवित्तु न निक्खिवे, आसएण न छट्ठए ।

हत्थेण तं गहेऊणं एगंतमवक्कमे ॥ ८५ ॥

छा० तदुत्क्षिप्य न निक्षिपेत्, आस्येन न छर्दयेत् ।

हस्तेन तद्गृहीत्वा, एकान्तमवक्रामेत् ॥ ८५ ॥

‘तं उक्खिवित्तु०’—तदस्थ्यादि एकान्तमवक्रामेत् ॥ ८५ ॥

एगंतमवक्कमित्ता अचित्तं पडिलेहिआ ।

जयं परिट्ठविज्जा परिट्ठप्प पडिक्कमे ॥ ८६ ॥

१ कर्कटादि, इति पाठान्तरम् ।

अध्य० ५ (१)

॥ १२७.५.१ ॥

छा० एकान्तमवक्रम्य, अचित्तं प्रतिलेख्य ।
यतं परिष्ठापयेत्, परिष्ठाप्य प्रतिक्रामेत् ॥ ८६ ॥

‘एगंत०’—व्याख्यातमेव ॥ ८६ ॥ वसतिमाधिकृत्य भोजनविधिमाह—

सिआ य भिक्खू इच्छिज्जा सिज्जमागम्म भुत्तुअं ।
सपिण्डपायमागम्म उण्डुअं पडिलेहिआ ॥ ८७ ॥

छा० स्याच्च भिक्षुरिच्छेत्, शय्यामागम्य भोक्तुम् ।
सापिण्डपात्रमागम्य, उण्डुकं प्रतिलेख्य ॥ ८७ ॥

‘सिआ य०’—स्यात्कदाचित् तदन्यकारणाऽभावे सति भिक्षुरिच्छेत्—शय्यां—वसतिमागम्य परिभोक्तुम्, तत्राऽयं विधिः—सह पिण्डपातेन—विशुद्धसमुदानेनागम्य, वसतिमिति गम्यते । तत्र बहिरेव उण्डुकं—स्थानं प्रत्युपेक्ष्य विधिना तत्रस्थः पिण्डपातं विशोधयेत् ॥ ८७ ॥ तत ऊर्ध्वं किं कुर्यादित्याह—

विणएणं पविसित्ता सगासे गुरुणो मुणी ।
इरियावहियमायाय आगओ अ पडिक्कमे ॥ ८८ ॥

छा० विनयेन प्रविश्य, सकाशे गुरोर्मुनिः ।
ईर्यापथिकीमादाय, आगतश्च प्रतिक्रामेत् ॥ ८८ ॥

‘विगणं०’—विरोध्य पिण्डं बहिः, विनयेन नैपेपिर्ही ‘नमः क्षमाश्रमणेभ्योऽञ्जलिकरणलक्षणेन’, प्रविश्य, वसतिमिति गम्यते । सकारो गुरोर्मुनिः—गुरुसमीपे इत्यर्थः, ईर्यापधिकीमादाय—‘इच्छामि पादिक्रमिणं इरियावहि-
आए’ इत्यादि सूत्रं पठित्वा, आगतश्च गुरुसमीपं प्रतिक्रमेत्—कायोत्सर्गं कुर्यात् ॥ ८८ ॥ ततश्च—

अध्य०५(१)

आभोग्यत्वात् नीसेसं अङ्गारं (च) जहकमं ।

गमनागमणे चैव भक्तपाणे व संजए ॥ ८९ ॥

छा० आभोग्यित्वा निश्शेषम्, अतिचारं यथाक्रमम् ।

गमनागमने चैव, भक्तपाने वा संयतः ॥ ८९ ॥

‘आभोग्यत्वात्०’—तत्र कायोत्सर्गे आभोग्यित्वा—ज्ञात्वा निःशेषमतिचारं यथाक्रमं, क्वेत्याह—गमना-
गमनयोर्भेदो योऽतिचारः, (तथा) भक्तपानयोश्च योऽतिचारः, तं संयतः—कायोत्सर्गस्थो हृदये स्थापयेत् ॥ ८९ ॥

विधिनोत्सारिते च तस्मिन्—

उज्जुप्पणो अणुद्विगो अव्वक्खित्तेण चेअसा ।

आलोए गुरुसगासे जं जहा गहिअं भवे ॥ ९० ॥

छा० अणुमज्ञोऽनुद्विगः, अव्याक्षितेन चेतसा ।

आलोचयेद्गुरुसकाशे, यद्यथा गृहीतं भवेत् ॥ ९० ॥

॥ १११ ॥

‘उज्जुप्पणो०’—अज्जुप्पणः—अकुटिलमतिः, सर्वत्राऽनुद्विग्नः—क्षुधादिजयात्मशान्तः, अव्याक्षिप्तेन चेतसा
आलोचयेद् गुरुसकाशे, यद्यथा गृहीतं भवेत् ॥ १० ॥

अध्य० ५ (१)

न सम्ममालोइअं हुज्जा पुव्विं पच्छा व जं कडं ।

पुणो पडिक्कमे तस्स वोसिट्ठो चिंतए इमं ॥ ११ ॥

छा० न सम्यगालोचितं भवेत्, पूर्वं पश्चाद्वा यत्कृतम् ।

पुनः प्रतिक्रामेत्तस्य, व्युत्सृष्टश्चिन्तयेदिदम् ॥ ११ ॥

‘न स० म०’—न सम्यगालोचितं भवेत् सूक्ष्ममज्ञानात्—अनाभोगेनाऽननुस्मरणाद्वा । पूर्वं पश्चाद्वा यत्कृतं—
पुरःकर्म पश्चात्कर्म वेत्यर्थः । पुनरालोचनानन्तरं प्रतिक्रामेत्तस्य सूक्ष्माऽतिचारस्य ‘इच्छामि पडिक्कमिडं गोअरचरिआए’
इत्यादि पठित्वा, व्युत्सृष्टः—कायोत्सर्गस्थश्चिन्तयेदिदं वक्ष्यमाणम् ॥ ११ ॥

अहो जिणेहिं असावज्जा वित्ती साहूण देसिआ ।

मुक्खसाहणहेउस्स साहुदेहस्स धारणा ॥ १२ ॥

छा० अहो जिनैरसावद्या, वृत्तिः साधूनां देशिता ।

मोक्षसाधनहेतवे, साधुदेहस्य धारणा(य) ॥ १२ ॥

॥ १३० ॥

‘अहो जिणेहिं०’—अहो विस्मये, -जिनैरसावया—अपापा वृत्तिः साधूनां दर्शिता (देशिता वा), मोक्ष-
साधनहेतोः—सम्यग्दर्शनादिहेतोः—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-साधनस्य साधुदेहस्य धारणाय—सन्धारणार्थम् ॥९२॥

अध्य० ५(१)

नमुक्कारेण पारित्ता करित्ता जिणसंथवं ।

सज्झायं पट्ठवित्ताणं वीसमिज्ज खणं मुणी ॥ ९३ ॥

छा० नमस्कारेण पारयित्वा, कृत्वा जिनसंस्तवम् ।

स्वाध्यायं प्रस्थाप्य, विश्राम्येत्क्षणं मुनिः ॥ ९३ ॥

‘नमुक्कारेण०’—नमस्कारेण पारयित्वा ‘नमो अरिहंताणं’ इत्यनेन, कृत्वा जिनसंस्तवं ‘लोगस्त
उच्चोअगरे’ इत्यादिरूपम् । ततो यदि न पूर्वं प्रस्थापितः, ततः स्वाध्यायं प्रस्थाप्य मण्डल्युपजीवकस्तमेव कुर्यात्,
यावदन्ये आगच्छन्ति, यः पुनस्तदन्यः क्षपणादिः सोऽपि प्रस्थाप्य विश्राम्येत् क्षणं—स्तोककालं मुनिरिति ॥ ९३ ॥

वीसमंतो इमं चिंते हिअमट्ठं लाभमट्ठिओ ।

जइ मे अणुग्गहं कुज्जा साहू हुज्जामि तारिओ ॥ ९४ ॥

छा० विश्राम्यान्निमं चिन्तयेत्, हितमर्थं लाभार्थिकः ।

यदि मेऽनुग्रहं कुर्यात्, साधुर्भवामि तारितः ॥ ९४ ॥

॥ १३१ ॥

दशवि०
॥ १३१ ॥

‘वीसमंतो०’—विश्राम्यान्निमं चिन्तयेत्—हितं—कल्याणप्रापकमर्थं वक्ष्यमाणम्, किंविशिष्टः सन्? भावलाभेन निर्जरादिनाऽर्थोऽस्येति लाभार्थिकः, यदि मे—ममाऽनुग्रहं कुर्युः साधवः प्रासुकपिण्डग्रहणेन ततः स्यामहं तारितो भवसमुद्रात् ॥ ९४ ॥

एवं सच्चिन्त्योचितवेलायामाचार्यमामन्त्रयेत्, यदि गृह्णाति शोभनम्, नो चेद्वक्तव्योऽसौ—भगवन् ! देहि केभ्योऽप्यतो यदातव्यम्, ततो यदि ददाति तदा सुन्दरम्, अथ भणति—त्वमेव प्रयच्छ, अत्रान्तरे—

साहवो तो चिअत्तेणं निमंतिज्ज जहक्कमं ।

जइ तत्थ केइ इच्छिज्जा तेहिं सद्धिं तु भुंजए ॥ ९५ ॥

छा० साधूंस्ततः प्रीतेन, निमन्त्रयेद्यथाक्रमम् ।

यदि तत्र केचिदिच्छेद्युः, तैः सार्धं तु भुञ्जीत ॥ ९५ ॥

‘साहवो०’—साधूंस्ततो गुर्वनुज्ञातः सन्, ‘चियत्तेणंति’—मनःप्रणिधानेन निमन्त्रयेत्, यथाक्रमं—यथा रत्नाधिकतया, ग्रहणौचित्यापेक्षया बालादिक्रमेण इत्यन्ये । यदि तत्र केचन धर्मबान्धवा इच्छेद्युः, ततस्तैः सार्द्धं भुञ्जीत, उचितसंविभागदानेन इति ॥ ९५ ॥

अहं कोइ न इच्छिज्जा तओ भुंजिज्ज एगओ ।

आलोए भायणे साहू जयं अपरिसाडिअं ॥ ९६ ॥

अध्य०५(१)

॥ १३२ ॥

उ० अथ कोऽपि नेच्छेत्, ततो भुञ्जीतैककः ।

आलोके भाजने साधुः, यतमपरिशाद्यन् ॥ ९६ ॥

‘अहं कोहं’—अथ कश्चिन्नेच्छेत्, ततो भुञ्जीत एककः—रागादिरहितः, कथं भुञ्जीतेत्यत्राह—
आलोके भाजने-मक्षिकायपोहाय प्रकाशप्रधानभाजने इत्यर्थः, साधुर्यतं-प्रयत्नेन तत्रोपयुक्तोऽपरिशाद्यन्-हस्तमुखा-
भ्यामनुष्ठ(मयीच)न् ॥ ९६ ॥ भोग्यमधिकृत्य विशेषमाह—

तित्तिगं व कटुकं व कसायं, अंचिलं व महुरं लवणं वा ।

एतल्लब्धमण्डपउत्तं महुघयं व भुञ्जिज्ज संजए ॥ ९७ ॥

उ० तित्तिगं वा कटुकं वा कपायम्, अम्लं वा मधुरं लवणं वा ।

एतल्लब्धमन्यार्थप्रयुक्तम्, मधुघृतमिव भुञ्जीत संयतः ॥ ९७ ॥

‘तित्तिगं’—‘तित्तिगं’ वा—एलुकवालुकादि, कटुकं वा—आर्द्रक-तीमनादि, कपायं—बल्लादि, आम्लं—
तक्राऽऽरनालादि, मधुरं—क्षीरमध्वादि, लवणं वा—प्रकृतिकारं-तथाविधं शाकादि, एतत्तित्तिगादि लब्धमागमोक्तविधिना
प्राप्तम् । अन्यार्थमक्षोषाद्वन्यायेन परमार्थतो मोक्षार्थं प्रयुक्तं, तत्साधकमिति कृत्वा मधुघृतमिव भुञ्जीत (संयतः),
न वर्णायर्पम् । अथवा मधुघृतमिव ‘णो वामाओ हणुआओ दाहिणं हणुअं संचारिज्जात्ति’ ॥ ९७ ॥

अरसं विरसं वा वि सूइअं वा असूइअं ।

उल्लं वा जइ वा सुकं मंथुकुम्मासभोअणं ॥ ९८ ॥

१ परिशादितमिति मूलनुगतम् ।

दशवे०-१२

छा० अरसं विरसं वाऽपि, सूचितं वाऽसूचितम् ।

आर्द्रं वा यदि वा शुष्कं, मन्थुकुल्मापभोजनम् ॥ ९८ ॥

दशवि०
॥ १३४ ॥

‘अरसं०’—अरसमप्राप्तरसं—हिंवादिभिरसंस्कृत, विरसं—पुराणौदनादि, सूचितं—व्यञ्जनादि युक्तम्, असूचितं—तद्रहितं वा, कथयित्वाऽकथयित्वा वा दत्तमित्यन्ये, आर्द्रं वा—प्रचुरव्यञ्जनं (यदिवा शुष्कं—स्तोकव्यञ्जनं, मन्थुकुल्मापभोजनम्), मन्थुः—बदरचूर्णं, कुल्माषाः—सिद्धमाषाः, यवमाषा इत्यन्ये ॥ ९८ ॥

उत्पण्णं नाइहीलिज्जा अप्पं वा बहुप्पासुअं ।

मुहालब्धं मुहाजीवी भुंजिज्जा दोसवज्जितं ॥ ९९ ॥

छा० उत्पन्नं नातिहीलयेत्, अल्पं वा बहुप्रासुकम् ।

मुधालब्धं मुधाजीवी, भुञ्जीत दोषवर्जितम् ॥ ९९ ॥

‘उत्पण्णं०’—उत्पन्नं—विधिना प्राप्तं नाऽतिहीलयेत्, अल्पमात्रं—न देहपूरकमिति, किमनेन ? बहु वाऽसारप्रायमिति, वा भिन्नक्रमे, बहुप्रासुकं—सर्वथा शुद्धं नाऽतिहीलयेत्, मुधालब्धं—खटिका-चर्पटिकादि-व्यतिरेकेण प्राप्तं, मुधाजीवी—सर्वथा अनिदानजीवी, जात्याद्यनाजीवक इत्यन्ये । भुञ्जीत दोषवर्जितं—संयोजनादिरहितम् ॥ ९९ ॥

१ ‘कोण्टलादिव्यतिरेकेण’—‘मन्त्रतन्त्रादिना अप्राप्तम्’ इति वृत्त्यन्तरस्थ पाठौ ।

अध्य०५(१)

॥ १३४ ॥

दुलहा उ मुहादाई मुहाजीवी वि दुलहा ।

मुहादाई मुहाजीवी दो वि गच्छंति सुगगई ॥ १०० ॥ त्ति वेमि ।

छा० दुर्लभस्तु मुधादाता, मुधाजीव्यपि दुर्लभः ।

मुधादाता मुधाजीवी, द्वावपि गच्छतः सुगतिम् ॥ १०० ॥ इति ब्रवीमि ।

‘दुलहा०’—दुर्लभा एव मुधादातारः, तथाविधभागवतवत्, मुधाजीविनोऽपि दुर्लभाः, तथाविधचेल्लकवत्, मुधादातारो मुधाजीविनश्च द्वावप्येतौ गच्छतः सुगतिं—सिद्धिगतिम् । ब्रवीमीति पूर्ववत् । तत्र भागवतोदाहरणं, जहा—“एगो परिव्वायगो, सो एगं भागवयं उवट्ठिओ, अहं तव गिहे वरिसारत्तं करेमि, -मम उदंतं वह्माहि, तेण भणिओ-जइ मम उदंतं न वहसि, एवं हवडत्ति । सो से भागवओ सिज्जभत्तपाणादिणा उदंतं वहति, अण्णया अ तस्स पोढओ चोरेहिं दिओ, अतिप्पभायं ति काऊण जालीए बद्धो, सो अ परिव्वायगो तलाए गओ ण्हाइउं, तेण सो पोढओ दिट्ठो, आगंतुं(तूण) भणइ—मम पाणीयतडे पोत्ती विस्सरिया, गोहो विसज्जिओ, तेण सो चोडओ दिट्ठो, आगंतुं(तूण) कहिअं तेण, भागवएण णायं, जहा—परिव्वायगेण कहिअं, तेण परिव्वायगो भण्णति—जाहि, णाहं तव णिब्बिट्ठं उदंतं वहामि, णिब्बिट्ठं अप्पफलं भवति । एरिसो मुहादाई” । मुधाजीविमि उदाहरणं—“एगो राया धम्मं परिकसइ—को धम्मो ? जो भणिब्बिट्ठं भुंजइ(त्ति), तो तं पक्खिआमिच्चि काऊण मणुस्सा संदिट्ठा, राया मोवए देइ, तत्थ न्हये कप्पडियादयो आगया, पुच्छिज्जंति—तुम्हे केण भुंजह ? अण्णो भणइ—अहं मुहेण भुंजामि, अण्णो—अहं पाएहिं, अण्णो—अहं हस्सेहिं, अण्णो—अहं लोगाणुगहेणं, इयरो (चेल्लओ भणइ—अहं) मुहिआए ।

रण्णा पुच्छियं—कहं चिअ ? एगेण भणियं—अहं कहकहगो अओ मुहेणं, अण्णेण भणियं—अहं लेहवाहगो अओ पाएहि, अण्णेण भणियं—अहं लेहगो अओ हत्थेहिं, भिक्खुणा भणियं—अहं पव्वइओ अओ लोगाणुग्गहेण, चेल्लएण भणियं—अहं संजायसंसारविरागो अओ मुहिआए, ताहे सो राया एस धम्मोत्ति काऊण आयरियरामीवं गओ, पडिबुद्धो पव्वइओ अ । एसो मुहांजीवित्ति” ॥ १०० ॥ इति पिण्डैषणाध्ययनस्य पञ्चमस्य प्रथमोद्देशाऽवचूर्णिः ।

अध्य०५(१)



॥ अथ द्वितीयोद्देशः ॥



अध्य०५(२)

पिण्डेपणायाः प्रथमोद्देशके प्रकान्तोपयोगि यन्नोक्तं तदाह—

पडिग्गहं संलिहित्ताणं लेवमायाइ संजए ।

दुग्गंधं वा सुगंधं वा सर्व्वं भुंजे न छड्डए ॥ १ ॥

छा० पतद्ग्रहं (प्रतिग्रहं) संलिख्य, लेपमात्रया संयतः ।

दुर्गन्धि वा सुगन्धि वा, सर्व्वं भुञ्जीत न छर्दयेत् ॥ १ ॥

‘पडिग्गहं०’—प्रतिग्रहं(पतद्ग्रहं)—भाजनं संलिख्य—प्रदेशिन्या निरवयवं कृत्वा, कथमित्याह—लेपमर्यादया—
आलेपं संलिख्य संयतो दुर्गन्धि वा सुगन्धि वा भोजनजातं, गन्धग्रहणं रसाद्युपलक्षणं, सर्व्वं निरवशेषं भुञ्जीत—अश्नी-
यात् नोऽश्नेत्, मा भूत्संयमविराधनेति । अस्त्यैवार्थस्य गरीयस्त्वख्यापनाय सूत्रार्थयोर्व्यत्ययोपन्यासः, प्रतिग्रह(पतद्ग्रह)-
शब्दो माङ्गलिक इत्युद्देशादौ तदुपन्यासार्थं वा, अन्यथैवं स्यात्—दुर्गन्धि वा सुगन्धि वा सर्व्वं भुञ्जीत, नोऽश्नेत् ।
प्रतिग्रहं(पतद्ग्रहं) संलिख्य लेपमर्यादया संयतः । विचित्रा च सूत्रगतिरिति ॥ १ ॥ विधिविशेषमाह—

॥ १३७ ॥

सिज्जा निसीहिआए समावण्णो अ गोअरे ।

आ(अ)यावयद्धा भुच्चाणं जइ तेण न संथरे ॥ २ ॥

-छा० शय्यायां नैषेधिकां, समापन्नश्च गोचरे ।

आ(अ)यावदर्थं भुक्त्वा, यदि तेन न संस्तरेत् ॥ २ ॥

अध्य०५(२)

दशवे०
॥ १३८ ॥

‘सिन्ना०’—शय्यायां—वसतौ, नैषेधिकां—स्वाध्यायभूमौ, शय्यैव वा असमंजसनिषेधान्नैषेधिकी तस्याम्, समापन्नो वा गोचरे, क्षपकादिश्छन्नमठादौ अयावदर्थं भुक्त्वा, न यावदर्थमपरिसमाप्तमित्यर्थः, ‘णं’ इति वाक्याऽलङ्कारे । यदि तेन भुक्तेन न संस्तरेत्—न यापयितुं समर्थः ॥ २ ॥

तओ कारणमुप्यण्णे भक्तपानं गवेसए ।

विहिणा पुव्वउत्तेण इमेण उत्तरेण य ॥ ३ ॥

छा० ततः कारण उत्पन्ने, भक्तपानं गवेषयेत् ।

विधिना पूर्वोक्तेन, अनेनोत्तरेण च ॥ ३ ॥

‘तओ कारण०’—ततः कारणे वेदनादावुत्पन्ने भक्तपानं गवेषयेत्, अन्यथा सकृद्भुक्तमेव यतीना-
मिति । विधिना पूर्वोक्तेन, अनेन वक्ष्यमाणलक्षणेनोत्तरेण वा(च) इति ॥ ३ ॥

॥ १३८ ॥

कालेण निक्खमे भिक्खू कालेण य पडिक्कमे ।

अकालं च विवज्जित्ता काले कालं समाअरे ॥ ४ ॥

छा० कालेन निष्क्रामेद्भिक्षुः, कालेन च प्रतिक्रामेत् ।

अकालं च विवर्ज्य, काले कालं समाचरेत् ॥ ४ ॥

‘कालेण०’—कालेन यो यस्मिन् ग्रामादौ उचितो भिक्षाकालः, तेन निष्क्रामेत्—व्रजेद् भिक्षुः, भिक्षायै (इति)शेषः, कालेन च प्रतिक्रामेत्—निवर्तेत, ‘अकालं च विवर्जयित्वा काले कालं समाचरेदि’ति सर्वयोगोपसङ्ग्रहार्थं निगमनम्, भिक्षावेलायां भिक्षां चरेत्, स्वाध्यायवेलायां स्वाध्यायादीनि, इति ॥ ४ ॥ अकालचरणे दोषमाह—

अध्य० ५(२)

अकाले चरसि भिक्षुः कालं न पडिलेहसि ।

अप्पाणं च किलामेसि सण्णिवेशं च गरिहसि ॥ ५ ॥

छा० अकाले चरसि भिक्षो !, कालं न प्रतिलिखसि ।

आत्मानं च क्लमयसि, सन्निवेशं च गर्हसे ॥ ५ ॥

‘अकाले०’—अकालचारी कश्चित्साधुरलम्बभैक्षः केनचित्साधुना—‘प्राप्ता न वेति’ अभिहितः सन्नेवं ब्रूयात्—‘कुतोऽत्र सन्निवेशे—स्थण्डिले भिक्षा ?’ स तेनोच्यते—अकाले चरसि भिक्षो ! प्रमादात् स्वाध्यायलोभाद्वा, कालं न प्रत्युपेक्षसे, किमयं भिक्षाकालो न वेति, अकालचरणेन चाऽऽत्मानं क्लमयसि, सन्निवेशं च गर्हसि(से) ॥ ५ ॥ यस्मादयं दोषः, तस्मात् काले भिक्षाऽऽनं कर्तव्यमित्याह—

सइ काले चरे भिक्षुः कुज्जा पुरिसकारिअं ।

अलाभुत्ति न सोइज्जा, तउत्ति अहिआसए ॥ ६ ॥

॥ ११९ ॥

छा० सति काले चरेद्भिक्षुः, कुर्यात्पुरुषकारम् ।

अलाभ इति न शोचयेत्, तप इत्यध्यासयेत् (अधिसहेत) ॥ ६ ॥

‘सद काले०’—सति काले चरेद्भिक्षुः, अन्ये तु व्याचक्षते—स्मृतिकाल एव भिक्षाकालोऽभिधीयते, स्मर्यन्ते यत्र भिक्षुकाः स स्मृतिकालः, तस्मिन्, चरेद्भिक्षुः कुर्यात्पुरुषकारं जह्वावले सति, अलाभेऽपि सति भिक्षाया अलाभ इति न शोचयेत्, अपि तु तप इति अधिसहेत ॥ ६ ॥ उक्ता कालयतना, क्षेत्रयतनामाह—

तहेवुच्चावया पाणा भक्तद्वाए समागया ।

तं उज्जुअं न गच्छिज्जा जयमेव परक्कमे ॥ ७ ॥

छा० तथैवोच्चावचाः प्राणिनः, भक्तार्थं समागताः ।

तद्वजुक्कं न गच्छेत्, यतमेव पराक्रामेत् ॥ ७ ॥

‘तहेवु०’—तथैव उच्चावचा वा शोभनाऽशोभनभेदेन नानाप्रकाराः प्राणिनो भक्तार्थे(र्थ) समागताः बालेप्राभृतिकादिषु आगता भवन्ति, तद्वजुक्कं—तेषामभिमुखं न गच्छेत्, तत्र(तत्)सन्त्रासेनाऽन्तरायाऽधिकरणादि-दोषात्, किन्तु यतमेव पराक्रामेत् ॥ ७ ॥

गोअरुग्गपविट्ठो उ न निसीइज्ज कत्थइ ।

कहं च न पबंधिज्जा चिट्ठित्ताण व संजए ॥ ८ ॥

छा० गोचराग्रप्रविष्टस्तु, न निर्पीदेत्कुत्रचित् ।

कथां च न प्रवध्नीयात्, स्थित्वा वा संयतः ॥ ८ ॥

‘गोअरग०’—गोचराग्रप्रविष्टस्तु, न निर्पीदेत्—नोपविशेत् कचिद्गृहदेवकुलादौ, कथां च न प्रवध्नीयात्, अनेनैकन्याकरणैकज्ञाताऽनुज्ञाप्ताह, अत एवाह—स्थित्वा कालपरिग्रहेण संयत इति, अनेपणाद्वेपादिदोषप्रस-
ङ्गात् ॥ ८ ॥ उक्ता क्षेत्रयतना, द्रव्ययतनामाह—

अग्नलं फलिहं द्वारं कवाडं वा वि संजए ।

अवलंविआ न चिट्ठिज्जा गोअरगगओ मुणी ॥ ९ ॥

छा० अग्नलं परिधं द्वारं, कपाटं वाऽपि संयतः ।

अवलम्ब्य न तिष्ठेत्, गोचराग्रगतो मुनिः ॥ ९ ॥

‘अग्नलं०’—अग्नलं—गोपुरकपाटादिसम्बन्धिनं, परिधं—नगरद्वारादिसम्बन्धिनं, द्वारं—शाखामयं, कपाटं—
द्वारयन्त्रं, वाऽपि संयतः, अवलम्ब्य न तिष्ठेत्, लाघवविराधनादोपात्, गोचराग्रगतः—भिक्षाप्रविष्टः, मुनिः संयत इति
पर्यायौ, तदुपदेशाऽधिकारादुदावेव ॥ ९ ॥ उक्ताद्रव्ययतना, भावयतनामाह—

समणं माहणं वा वि किविणं वा वणीमगं ।

उवसंकमंतं भत्तट्ठा पाणट्ठाए व संजए ॥ १० ॥

छा० श्रमणं ब्राह्मणं वाऽपि, कृपणं वा वनीपकम् ।

उपसङ्गमन्तं भक्तार्थं, पानार्थं वा संयतः ॥ १० ॥

‘समणं०’—श्रमणं—निर्यन्थादिरूपम्, माहणं—धिग्वर्णं, वाऽपि कृपणं वा पिण्डोलकं, वनीपकं—दरिद्रं, एतेषां चतुर्णामन्यतमम् उपसङ्गमन्तं—साभीष्येन गच्छन्तं गतं वा भक्तार्थं पानार्थं वा संयतः ॥ १० ॥ किमित्याह—

तं अइक्कमित्तु न पविसे न चिट्ठे चक्खुगोअरे ।

एगंतमवक्कमित्ता तत्थ चिट्ठिज्ज संजए ॥ ११ ॥

छा० तमतिक्रम्य न प्रविशेत्, न तिष्ठेच्चक्षुर्गोचरे ।

एकान्तमवक्रम्य, तत्र तिष्ठेत् संयतः ॥ ११ ॥

‘तं अइक्कमित्तु०’—तं श्रमणादिमतिक्रम्य न प्रविशेत्, न तिष्ठेच्चक्षुर्गोचरे, कस्तत्र विधिरित्याह—एकान्तमवक्रम्य तत्र तिष्ठेत्संयतः ॥ ११ ॥ अन्यथैते दोषा इत्याह—

वणीमगस्स वा तस्स दायगस्सुभयस्स वा ।

अर्पत्तिअं सिआ हुज्जा लहुत्तं पवयणस्स वा ॥ १२ ॥

छा० वनीपकस्य वा तस्य, दायकस्योभयोर्वा ।

अप्रीतिः स्याद्भवेत्, लघुत्वं प्रवचनस्य वा ॥ १२ ॥

१ पञ्चानामन्यतममिति च दृश्यते । २ ‘अप्रत्ययिकम्’ इति मौलिकं पदं भाति ।

‘वणीमगस्स०’-‘वनीपकस्य वा तस्य’ इत्येतच्छ्रमणाद्युपलक्षणं, दातुर्वा, उभयोर्वा अप्रीतिः स्यात्-
फदाचिद्धवेत्, अहो अलोकज्ञतैतेपामिति, लघुत्वं प्रवचनस्य स्यात्, अन्तरायदोषश्च ॥ १२ ॥ अतः—

पडिसेहिए व दिण्णे वा तओ तम्मि निअत्तिए ।

उवसंकमिज्ज भत्तद्वा पाणद्वाए व संजए ॥ १३ ॥

छा० प्रतिषेधिते(प्रतिषिद्धे) वा दत्ते वा, ततस्तस्मिन्निवर्तिते ।

उपसङ्गामेद्भक्तार्थं, पानार्थं वा संयतः ॥ १३ ॥

‘पडिसेहिए०’-प्रतिषिद्धे वा दत्ते वा ततः स्थानात् तस्मिन्वनीपकादौ निवर्तिते सति, उपसङ्गामेत्,
भक्ताऽर्थं पानाऽर्थं वा संयतः ॥ १३ ॥ परपीडानिषेधाऽधिकारादिदमाह—

उप्पलं पडमं वा वि कुमुअं वा मगदंतिअं ।

अण्णं वा पुण्फसच्चित्तं तं च संलुंचिआ दए ॥ १४ ॥

छा० उत्पलं पद्मं वाऽपि, कुमुदं वा मगमल्लिका(दन्तिका)म् ।

अन्यद्वा पुष्पसच्चित्तं, तच्च संलुञ्च्य दद्यात् ॥ १४ ॥

‘उप्पलं०’-उत्पलं नीलोत्पलादि, पद्मम्-भरविन्दं, कुमुदं वा-गर्दभकं, मगदन्तिका-मेक्षिका,
मल्लिका-मित्यन्ये, अन्यद्वा पुष्पं सच्चित्तं तत्तु(च) संलुञ्च्य-अपनीय छित्त्वा दद्यात् ॥ १४ ॥

तं भवे भत्तपाणं तु संजयाणं अकप्पिअं ।

दिंतिअं षडिआइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥ १५ ॥

छा० तद्भवेद्भक्तपाणं तु, संजयानामकल्पिकम् ।

ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥ १५ ॥

‘तं भवे०’—पूर्ववत् ॥ १५ ॥

उप्पलं पडमं वा वि कुमुअं वा मगदंतिअं ।

अण्णं वा पुप्फसच्चित्तं तं च संमद्दिआ दए ॥ १६ ॥

छा० उत्पलं पद्मं वाऽपि, कुमुदं वा मगमल्लिका(दन्तिका)म् ।

अन्यद्वा पुष्पसच्चित्तं, तच्च संमृद्य दद्यात् ॥ १६ ॥

‘उत्पलं०’—तं चेत्यादि, तच्च संमृद्य दद्यात्, संमर्दनं नाम पूर्वच्छिन्नानामेवाऽपरिणतानां मर्दनम्, शेषं तथैव ॥ १६ ॥ आह—एतत्पूर्वमप्युक्तमेव—‘संमदमाणी पाणाणि बीआणि हरिआणि अ’ इत्यत्र, उच्यते—उक्तं सामान्येन, विशेषाऽभिधानाददोषः ।

तं भवे भत्तपाणं तु संजयाणं अकप्पिअं ।

दिंतिअं षडिआइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥ १७ ॥

छा० तद्भवेद्भक्तपानं तु, संयतानामकल्पिकम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥ १७ ॥

‘तं भवे०’—पूर्ववत् ॥ १७ ॥

अध्य०५(२)

शालुअं वा विरालिअं कुमुअं उप्पलणालिअं ।
मुणालिअं सासवणालिअं इच्छुखंडं अणिव्वुडं ॥ १८ ॥
छा० शालूकं वा विरालिकां, कुमुदमुत्पलनालिकाम् ।
मृणालिकां सर्पपनालिकाम्, इक्षुखण्डमनिर्वृतम् ॥ १८ ॥

‘शालुअं०’—शालूकं वा—उत्पलकन्दं, विरालिकां—मलाशकन्दरूपां, पर्ववलि—प्रतिपर्ववलि, प्रतिपर्वकन्द-
मित्यन्ये, कुमुदोत्पलस्य पर्वणि पर्वणि बली निर्गच्छति, कन्दश्च भवति, कुमुदोत्पलनाली प्रतीती, तथा मृणालिकां-
पद्मिनीकन्दोत्थां, सर्पपनालिकां—सिद्धार्थमञ्जरीम्, तथा इक्षुखण्डम् अनिर्वृतं—सचित्तम्, एतच्चाऽनिर्वृतग्रहणं
सर्वत्राऽपि सम्बध्यते ॥ १८ ॥

॥ १४५ ॥

तरुणगं वा पवालं रुक्खस्स तणगस्स वा ।
अण्णस्स वा विहरिअस्स आमगं परिवज्जए ॥ १९ ॥

छा० तरुणकं वा प्रवालं, वृक्षस्य तृणस्य वा ।

अन्यस्य वाऽपि हरितस्य, आमकं परिवर्जयेत् ॥ १९ ॥

‘तरुणं०’—तरुणकं वा प्रवालं—पल्लवं वृक्षस्य चित्रिणिकादेः, तृणस्य वा मधुर-तृणादेः, अन्यस्य वा हरितस्याऽऽर्थकादेः, आमम्—अपरिणतं वर्जयेत् ॥ १९ ॥

तरुणिअं वा छिवाडिं आमिअं भज्जिअं सइं ।

दित्तिअं पडिआइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥ २० ॥

छा० तरुणां वा फलिम्(छिवाडिं), आमां भर्जितां सकृत् ।

ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥ २० ॥

‘तरुणिअं०’—तरुणां वा असंजातां, छिवाडिमिति मुद्राविकलीम्, आमाम्—असिद्धां-सचेतनां भर्जितां वा सकृदेकवारम्, शेषं पूर्ववत् ॥ २० ॥

तहा कोलमणुस्सिन्नं वेलुअं कासवणालिअं ।

तिलप्पपडगं नीमं आमगं परिवज्जए ॥ २१ ॥

छा० तथाकोलमननुस्विन्नं, वेणुकं काश्यपनालिकाम् ।

तिलपर्पटिकां निम्बम्, आमकं परिवर्जयेत् ॥ २१ ॥

१ श्रीपर्णीफलम्, इत्यर्थः ।

अध्य०५ (२)

॥ १४६ ॥

‘तद्वा कोल०’—कोलं—वदरम्, अस्विन्नं—वह्नुयुदकयोगेन अनापादितविकारान्तरम्, वेणुकं—वंशकरिष्ठं,
‘काष्ठवणालिभं’—श्रीपर्जिकलम्, अस्विन्नमिति सर्वत्र योज्यम्, तिलवर्षटं—पिष्टतिलमयं, नीमं—नीमफलम्, आमं—
परिवर्जयेत् ॥ २१ ॥

तद्देव चाउलं पिष्टं विअडं वा तत्तन्निष्ठुडं ।

तिलपिष्टं पुष्टपिण्यागं आमगं परिवर्जयेत् ॥ २२ ॥

छा० तथैव तान्दुलं पिष्टं, विकटं वा तत्तन्निर्वृतम् ।

तिलपिष्टं पूतिपिण्याकम्, आमकं परिवर्जयेत् ॥ २२ ॥

‘तद्देव०’—तथैव तान्दुलं पिष्टं—लोढमित्यर्थः, विकटं वा शुद्धोदकम्, तत्तन्निर्वृतं क्वथितं सत्—शीती-
भूतं, तन्नाऽनिर्वृतं वा—अप्रवृत्तत्रिदण्डं, तिलपिष्टं, पूतिपिण्याकं (प्याकं)—सर्पपखलम्, आमं परिवर्जयेत् ॥ २२ ॥

कविष्टं मातुलिङ्गं च मूलकं मूलवर्तिकम् ।

आमं असत्थपरिणयं मणसा वि न पत्थयेत् ॥ २३ ॥

छा० कपित्थं मातुलिङ्गं च, मूलकं मूलवर्तिकम् ।

आमामशस्त्रपरिणतां, मनसाऽपि न प्रार्थयेत् ॥ २३ ॥

‘कविद्वं०’—कपित्थं—कपित्थफलं, मातुलिङ्गं च—बीजपूरकं च, मूलकं—सत्रजालकं, मूलवर्तिकां—मूलक-
न्दस्य च फलीम्, आमाम्—अपकाम्, अशस्त्रपरिणतां—स्वकायशस्त्राद्यविद्धां(विध्वस्तां) वा, अनन्तकायत्वाद् गुरुत्व-
ख्यापनार्थमुभयं, मनसाऽपि न प्रार्थयेत् ॥ २३ ॥

तथैव फलमन्थूणि बीजमन्थूणि जाणिआ ।

विहेलगं पिआलं च आमगं परिवज्जए ॥ २४ ॥

छा० तथैव फलमन्थून्, बीजमन्थूञ्ज्ञात्वा ।

विभीतकं प्रियालं च, आमकं परिवर्जयेत् ॥ २४ ॥

‘तथैव०’—तथैव फलमन्थून्—वदरचूर्णान्, बीजमन्थून्—यवादिचूर्णान् ज्ञात्वा, विभीतकं—विभीतकफलं,
प्रियालं वा—प्रियालफलं वा, आमपरिणतं वर्जयेत् ॥ २४ ॥ विधिमाह—

समुआणं चरे भिक्खू कुलं उच्चावयं सया ।

नीअं कुलमइक्कम्म ऊसदं नाभिधारए ॥ २५ ॥

छा० समुदानं चरेद्भिक्षुः, कुलमुच्चावचं सदा ।

नीचं कुलमतिक्रम्य, उत्सृतं नाभिधारयेत् ॥ २५ ॥

‘समुआणं ०’—समुदानं—मावभैश्यमाश्रित्य चरेद्भिक्षुः, केत्याह—कुलमुच्चाऽवचं सदा, अगर्हितत्वे सति विभवा-
पेक्षया प्रधानमप्रधानं वा यथा परिपाट्येव चरेत्, सदा नीचं कुलमतिक्रम्य विभवापेक्षया प्रभूततरलाभार्थम् उच्छ्रितम्—
अद्विमत्कुलं नाऽभिपारयेत्—न यायात्, अभिवृद्धलोकलापवादिप्रसङ्गात् ॥ २५ ॥

अदीणो वित्तिमेसिज्जा न विसीइज्ज पंडिए ।

अमुच्छिओ भोअणम्मि मायण्णे एसणारए ॥ २६ ॥

छा० अदीनो वृत्तिमेपयेत्, न विपीदेत्पण्डितः ।

अमूर्च्छितो भोजने, मात्राज्ञ एषणारतः ॥ २६ ॥

‘अदीणो ०’—अदीनो वृत्तिमेपयेत्, न विपीदेत्, अलाभेऽपि सति पण्डितः, अमूर्च्छितोऽगृह्यो भोजने मात्राज्ञः—
आहारमात्रां प्रत्येषणारतः ॥ २६ ॥

बहुं परघरे अत्थि विविहं खाइमसाइमं

न तत्थ पंडिओ कुप्पे इच्छा दिज्ज परो न वा ॥ २७ ॥

छा० बहु परगृहेऽस्ति, विविधं खाद्यं स्वाद्यम् ।

न तत्र पण्डितः कुप्येत्, इच्छया(इच्छा)दद्यात्परो न वा ॥ २७ ॥

‘बहुं०’—एवं च भावयेत्—बहु प्रमाणतः प्रभूतं परगृहे—असंयतादिगृहेऽस्ति विविधमनेकप्रकारं स्वाद्यं स्वाद्यं, सदपि न ददातीति न तत्र पाण्डितः कुप्येत, किन्तु ‘इच्छया दद्यात्परो न वे’ति इच्छा परस्य, न तत्राऽन्य-
त्किञ्चिद्विचिन्तेयेत्, सामायिकबाधनात् ॥ २७ ॥

अध्य०५(२)

सयणासनवस्त्रं वा भक्तं पाणं च संजए ।

अदितस्स न कुपिज्जा पच्चक्खे वि अ दीसओ ॥ २८ ॥

छा० शयनाऽऽसनवस्त्रं वा, भक्तं पानं च संयतः ।

अददते न कुप्येत, प्रत्यक्षेऽपि च दृश्यमाने(पश्यतः) ॥ २८ ॥

‘सयणा०’—शयनाऽऽसनवस्त्रं वेत्येकवद्भावः, भक्तं पानं वा संयतः । अददतो(ते) न कुप्येत तत्स्वामिनः,
प्रत्यक्षेऽपि च दृश्यमाने शयनाऽऽसनादौ ॥ २८ ॥

इत्थिअं पुरिसं वा वि डहरं वा महल्लगं ।

वन्दमाणं न जाइज्जा णो अ णं फरुसं वए ॥ २९ ॥

छा० स्त्रियं पुरुषं वाऽपि, तरुणं(डहरं)वा वृद्धम्(महल्लकम्) ।

वन्दमानं न याचेत, नो चैनं परुषं वदेत् ॥ २९ ॥

॥ १५० ॥

‘क्षिप्रं०’—क्षिप्रं वा पुरुषं वाऽपि, ‘अपि’—शब्दान्तरपुंसकं वा, दहरं—तरुणं, महल्लकं वा—वृद्धं वा, ‘वा’
शब्दान्तरपुंसकं वा, वन्दमानं सन्तं भद्रोऽऽकार्य इति न याचेत, विपरिणामदोषात्, अन्नाद्यभावेन याचिताऽदाने न चैनं
पुरुषं मृषात्—वृषा ते वन्दनमित्यादि, पाठान्तरं वा—वन्दमानो न याचे(च्ये)त लल्लि(ब्धि)व्याकरणेन, शेषं पूर्ववत् ॥ २९ ॥

जे न वंदे न से कुप्ये वंदिओ न समुक्कसे ।

एवमण्णेषमाणस्स सामण्णमणुचिदुइ ॥ ३० ॥

छा० यो न वन्दते न तस्मै कुप्येत्, वन्दितो न समुत्कर्षेत् ।

एवमन्वेपमाणस्य, श्रामण्यमनुतिष्ठति ॥ ३० ॥

‘जो न वंदे०’—यो न वन्दते न से—तस्य(स्मै) कुप्येत्, वन्दितः केनचिन्नृपादिना न समुत्कर्षेत्—उत्कर्षं न
कुर्यात्, एवमुक्तप्रकारेणाऽन्वेपमाणस्य—भगवदाज्ञामनुपालयतः श्रामण्यमनुतिष्ठत्यखण्डम् ॥ ३० ॥ स्वपक्षस्तेयप्रति-
पेयमाह—

सिआ एगइओ लद्धं लोभेण विणिगूहइ ।

मा मेअं दाइयं संतं दद्वूणं सयमायए ॥ ३१ ॥

छा० स्वादेर्ककिको लब्ध्वा, लोभेन विनिगूहते ।

मा ममेदं दर्शितं सत्, दद्व्वा स्वयमादद्यात् ॥ ३१ ॥

१ ‘भद्रकोऽयमिति न. याचेत’ इति पाठः । २ ‘एककिकः’ इत्यर्थे एकाकीति युक्तम् ।

‘सिआ०’—स्यात्कृदाचिद् एककः कश्चिदत्यन्तजघन्यो लब्ध्वोत्कृष्टमाहारं लोभेन विनिगूहते—‘अहमेव भोक्ष्ये इति’, अन्तर्ग्रान्तादिना छादयति, मा ममेदं भोजनजातं दर्शितं सत्, दृष्ट्वा आचार्यादिः स्वयमादद्यात्-गृही-
यात् ॥ ३१ ॥ अस्य दोषमाह—

अत्तद्वा गुरुओ लुब्धो बहुं पापं पकुव्वइ ।
दुत्तोसओ अ से होइ निव्वाणं च न गच्छइ ॥ ३२ ॥

छा० आत्मार्थगुरुको लुब्धः, बहु पापं प्रकरोति ।
दुस्तोपश्च स भवति, निर्वाणं च न गच्छति ॥ ३२ ॥

‘अत्तद्वा०’—आत्मार्थ एव गुरुः पापप्रधानो यस्य स आत्मार्थगुरुः, लुब्धः सन् क्षुद्रभोजने बहु-प्रभूतं पापं करोति, मायया दारिद्र्यं कर्मेत्यर्थः, अयं परलोकदोषः, इहलोकदोषमाह—दुस्तोपश्च भवति येन केनचिदाहारेणास्य क्षुद्रमत्त्वस्य तुष्टिः कर्तुं न शक्यते, अत एव निर्वाणं च न गच्छति, इहलोक एव धूर्तिं न लभते, अनन्तसंसारिकत्वाद्वा मोक्षं न गच्छति ॥ ३२ ॥ एवं यः प्रत्यक्षः प्रत्यक्षमपहरति स उक्तः, अथ यः परोक्षं स उच्यते—

सिआ एगइओ लज्जुं विविहं पाणभोअणं ।
भद्दगं भद्दगं भुच्चा विवण्णं विरसमाहरे ॥ ३३ ॥

अध्य०५ (१)

॥ १५२ ॥

छा० स्यादेकाकी लब्ध्वा, विविधं पानभोजनम् ।

भद्रकं भद्रकं भुक्त्वा, विवर्णं विरसमाहरेत् ॥ ३३ ॥

‘सिआ एगइओ०’—(पूर्ववत्) विविधमनेकप्रकारं पानभोजनं, तत्रैव भद्रकं भद्रकं—घृतपूर्णंदि भुक्त्वा विवर्णं—विगतवर्णम्—आम्लखलादि, विरसं—शीतोदनादि, आहरेत्—आनयेत् ॥ ३३ ॥ एवं किमर्थं कुर्यात् ? इत्याह—

जाणंतु ता इमे समणा, आययद्दी अयं मुणी ।

संतुट्ठो सेवए पंतं लूहवित्ती सुतोसओ ॥ ३४ ॥

छा० जानन्तु तावदिमे श्रमणाः, आयतार्थयं मुनिः ।

सन्तुष्टः सेवते श्रान्तं, रूक्षवृत्तिः सुतोप्यः ॥ ३४ ॥

‘जाणंतु०’—जानन्तु तावन्मां श्रमणाः—शेषसाधवः, यथा—आयतार्थी अयं मुनिः, सन्तुष्टो लामाऽलामयोः समः सेवते श्रान्तमसारं रूक्षवृत्तिः—संयमवृत्तिः, सुतोप्यः—येन केनचित्तोपं नीयते ॥ ३४ ॥ एतदपि किमर्थं कुर्यात् ? इत्याह—

पूअणट्ठा जसोकामी माणसम्माणकामए ।

बहुं पसवइ पावं मायासल्लं च कुव्वइ ॥ ३५ ॥

छा० पूजनार्थं यशस्कामी, मानसन्मानकामुकः ।

बहुं प्रसूते पापं, मायाशल्यं च करोति ॥ ३५ ॥

‘पूअणट्ठा०’—पूजार्थमेवं कुर्वतः स्वपरपक्षाभ्यां सामान्येन पूजा भविष्यतीति, यशस्कामी-अहो अयमिति प्रवादार्थं वा, मानसन्मानकाम एवं कुर्यात्, तत्र चन्दनाऽभ्युत्थानलाभनिमित्तो मानः, वस्त्रपात्रादिलाभनिमित्तश्च सन्मान इति, स एवम्भूतो बहु प्रसूते-निर्वर्त्तयति पापम्, तद् गुरुत्वादेव सम्यगनालोचयन् मायाशैल्यं च-भावशैल्यं च करोति ॥ ३५ ॥ प्रतिषेधाऽन्तरमाह—

सुरं वा मेरुं वा वि अण्णं वा मज्जगं रसं ।

ससक्खं न पिबे भिक्खू जसं सारक्खमप्पणो ॥ ३६ ॥

छा० सुरां वा मेरुकं वाऽपि, अन्यद्वा मद्यकं रसम् ।

ससाक्ष्यं न पिबेन्द्रिक्षुः, यशः संरक्षन्नात्मनः ॥ ३६ ॥

‘सुरं वा०’—सुरां वा—पिटादिनिष्पन्नां, मेरुकं वाऽपि—प्रसन्नाख्यं, सुराप्रायोग्यद्रव्यनिष्पन्नमन्यं वा माद्यं रसं सीध्यादिरूपं ससाक्षिकं—सदा परित्यागे केवल्यादयः साक्षिणो यस्य तत्ससाक्षि, अनेन सर्वथा प्रतिषेध उक्तः, सदासाक्षिभावात्, किमिति—न पिबेद् भिक्षुः, यशः संरक्षन्नात्मनः—‘यशः’—शब्देन संयमोऽभिधीयते, अन्ये तु ग्लानापवादविषयमेतत्सूत्रम् अल्पसागारिकविधानेन व्याचक्षते ॥ ३६ ॥ अत्रैव दोषमाह—

पियंए एगओ तेणो न मे कोइ विआणइ ।

तस्स प्रस्सह दोसाइ निअडिं च सुणेह मे ॥ ३७ ॥

१ ‘पिआ एगओ’, इति प्राचीनलिखिताऽऽदर्शेऽस्ति, परं तन्न शुद्धं प्रतिभाति ।

वृत्तिः
॥ १५५ ॥

छा० पिबत्येकः स्तेनः, न मां कोऽपि विजानाति ।
तस्य पश्यत दोषान्, निकृतिं च शृणुत मत् ॥ ३७ ॥

अध्या० ५(२)

‘पियए०’—पिबत्येको धर्मसहायविप्रमुक्तः स्तेनः—चोरोऽसौ भगवददत्तग्रहणात्, अन्योपदेशयाचनाद्वा, न मां कश्चिज्जानातीति भावयन्, तस्येत्थम्भूतस्य पश्यत दोषान्, ऐहिकान् पारलौकिकांश्च, निकृतिं च—मायां, (शृणुत) मे—मम, सकारादिति शेषः ॥ ३७ ॥

वट्टइ सुंढिआ तस्स मायामोसं च भिक्खुणो ।
अयसो अ अनिद्वाणं सययं च असाहुआ ॥ ३८ ॥
छा० वर्द्धते शौण्डिकता तस्य, मायामृषा च भिक्षोः ।
अयशश्चानिर्वाणं, सततं चासाधुता ॥ ३८ ॥

‘वट्टइ०’—वर्द्धते शौण्डिकता तदत्यन्ताऽभिष्वङ्गरूपा तस्य मायामृषावादे च भिक्षोः, इदं च भवपरम्परा-
हेतुनानुबन्धोपात्त, (तथा) अयशश्च स्वपक्षपरपक्षयोः—अनिर्वाणम्—अनिर्वृत्तिः—दुःखं(तदलाभे), सततं चाऽसाधुता लोके
न्यवधारतः, चरणपरिणामबाधनेन परमार्थतः ॥ ३८ ॥

॥ १५५ ॥

१ ‘अन्योपदेशयाचनाद्वा’ इति वा पाठः । २ ‘अवृत्तिः’ इत्यपि पाठः ।

निच्चुव्विग्गो जहा तेणो अत्तकम्मेहिं दुम्मई
तारिसो मरणंते वि न आराहेइ संवरं ॥ ३९ ॥

छा० नित्यमुद्विग्गो यथास्तेनः, आत्मकर्मभिर्दुर्मतिः ।
तादृशो मरणान्तेऽपि, नाराधयति संवरम् ॥ ३९ ॥

अध्य०५(२)

‘निच्चुव्विग्गो०’—स ईदृशो नित्यो(त्यमु)द्विग्गः—सदाऽप्रशान्तः, यथा स्तेनश्चौरः, आत्मकर्मभिर्दुर्मतिः
(तथा) तादृशः क्लिष्टसत्त्वः, मरणान्तेऽपि—चरमकालेऽपि नाराधयति संवरम्—चारित्र्यम्, अशुद्धभावत्वादेव सदैवाऽकु-
शलबुद्ध्या तद्दीजामावात् ॥ ३९ ॥

आयरिए नाराहेइ समणे आवि तारिसो ।
गिहत्था वि णं गरिहंति जेण जाणंति तारिसं ॥ ४० ॥

छा० आचार्यान्नाराधयति, श्रमणानपि तादृशः ।
गृहस्था अपि गर्हन्ते, येन जानन्ति तादृशम् ॥ ४० ॥

‘आयरिए०’—आचार्यान्नाराधयति श्रमणांश्चाऽपि तादृशः, गृहस्था अन्येन दुष्टशीलं गर्हन्ति (न्ते), येन
जानन्ति तादृशं दुष्टशीलम् ॥ ४० ॥

॥ १५६ ॥

एवं तु अगुणपेही गुणाणं च विवज्जओ ।

तारिसो मरणंते वि न आराहेइ संवरं ॥ ४१ ॥

छा० एवन्त्वगुणप्रेक्षी, गुणानां च विवर्जकः ।

तादृशो मरणान्तेऽपि, नाराधयति संवरम् ॥ ४१ ॥

‘एवं तु०’—एव तूस्तेन प्रकारेणाऽगुणप्रेक्षी गुणानां चाऽप्रमादादीनां विवर्जकः, तादृशः विलटचित्तो मरणान्तेऽपि नाराधयति संवरम् ॥ ४१ ॥ यतश्चैवमत एतद्वोपरिहारेण साधुः कीदृशः स्यादित्याह—

तवं कुच्चइ मेधावी पणीअं वज्जए रसं ।

मज्जप्पमायविरओ तवस्सी अइउक्कसो ॥ ४२ ॥

छा० तपः करोति मेधावी, प्रणीतं वर्जयेद्रसम् ।

मद्यप्रमादविरतः, तपस्व्यत्युत्कर्षः ॥ ४२ ॥

‘तवं०’—तपः करोति मेधावी-मर्यादावर्ती, प्रणीतं वर्जयति रसम्, मद्यप्रमादविरतस्तपस्वी साधुरत्युत्कर्षः—अहन्तपस्वीत्युत्कर्षरहितः ॥ ४२ ॥

तस्स पस्सह कल्लाणं अणेगसाहुपूइअं ।

विउलं अत्थसंजुत्तं कित्तइस्सं सुणेह मे ॥ ४३ ॥

छा० तस्य पश्यत कल्याणम्, अनेकसाधुपूजितम् ।

विपुलमर्थसंयुक्तं, कीर्तयिष्ये शृणुत मत् ॥ ४३ ॥

‘तस्स पस्सह०’—तस्येत्यम्भूतस्य पश्यत कल्याणं—गुणसम्पद्रूपम् (संयमं), अनेकसाधुपूजितम्, विपुलं—मोक्षा-
बहत्वात्, अर्थसंयुक्तम्—अर्थस्तत्त्वतः कर्मनिर्जरारूपः, तेन संयुक्तं, कीर्तयिष्येऽहं शृणुत मम सकाशात् ॥ ४३ ॥

एवं तु गुणेष्वेही अगुणानां च विवर्जकः ।

तारिसो मरणंते वि आराहेइ संवरं ॥ ४४ ॥

छा० एवन्तु गुणप्रेक्षी, अगुणानां च विवर्जकः ।

तादृशो मरणान्तेऽपि, आराधयति संवरम् ॥ ४४ ॥

‘एवं तु०’—एवन्तुक्तप्रकारेण गुणप्रेक्षी गुणान्—अप्रमादादीन् प्रेक्षते तच्छीलश्वेत्यर्थः, अगुणानां प्रमादा-
दीनां विवर्जकः, अन्यत्पूर्ववत् (तादृशः, आराधयति संवरमिति विशेषः) ॥ ४४ ॥

आयरिए आराहेइ समणे आबि तारिसो ।

गिहत्था वि णं पूअंति जेण जाणंति तारिसं ॥ ४५ ॥

छा० आचार्यानां आराधयति, श्रमणानपि तादृशः ।

गृहस्था अपि पूजयन्ति, येन जानन्ति तादृशम् ॥ ४५ ॥

सुश्रुतः
॥ १५९ ॥

‘आयरि०’—सुगमा (विपर्ययतः) ॥ ४५ ॥ स्तेनाऽधिकार एवेदमाह—

तवतेणे वयतेणे रूवतेणे अ जे नरे ।

आयारभावतेणे अ कुव्वइ देवकिव्विसं ॥ ४६ ॥

छा० तपस्तेनो वाक्स्तेनः, रूपस्तेनश्च यो नरः

आचारभावस्तेनश्च, करोति देवकिल्विपम् ॥ ४६ ॥

‘तवतेणे०’—तपःस्तेनो वाक्स्तेनो रूपस्तेनश्च यो नरः, कश्चिदाचारभावस्तेनश्च, पालयन्नपि क्रियां तथा भावदोषात्करोति देवकिल्विपं-किल्विपिकं कर्म निर्वर्त्तयतीत्यर्थः । तपस्तेनो नाम क्षपक रूपतुल्यः कश्चित्केनचित्पृष्टः—‘स्वमसौ क्षपकः?’ इति, स पूजाद्यर्थमाह—अहम्, अथवा वक्ति—‘साधव एव क्षपकाः’, तूष्णीं वाऽऽस्ते, एवं वाक्स्तेनो धर्मकथकादितुल्यरूपः कश्चित्केनचित्पृष्ट इति, एवं रूपस्तेनो राजपुत्रादितुल्यरूपः पृष्टः, एवमाचारस्तेनो विशिष्टाचारवत्तुल्यरूप इति, भावस्तेनस्तु परोत्प्रेक्षितं कथञ्चित्किञ्चिच्छ्रुत्वा स्वयमनुत्प्रेक्षितमपि मयैतत्प्रपञ्चेन चर्चित-मिष्याहेति ॥ ४६ ॥

लद्धूण वि देवत्तं उववण्णो देवकिव्विसे ।

तत्थावि से न याणाइ किं मे किञ्चा इमं फलं ॥ ४७ ॥

१ ‘किल्विपिकं कर्म’ इति शुद्धः पाठः ।

अध्य० ५ (१)

॥ १५९ ॥

छा० लब्ध्वाऽपि देवत्वम्, उपपन्नो देवकिल्बिषे ।

तत्राऽपि स न जानाति, किं मे कृत्वेदं फलम् ॥ ४७ ॥

अध्य० ५ (२)

‘लदूण वि०’—लब्ध्वाऽपि देवत्वम्, उपपन्नो देवकिल्बिषे—किल्बिषिककाये, तत्राऽप्यसौ न जानाति
अविशुद्धाऽवधिना किं मम कृत्वेदं फलं किल्बिषिकदेवत्वम् ॥ ४७ ॥

ततो वि से चइत्ताणं लभइ एलमूअगं ।

नरगं तिरिक्खजोणिं वा बोही जत्थ सुदुल्लहा ॥ ४८ ॥

छा० ततोऽपि स च्युत्वा, लभते एलमूकताम् ।

नरकं तिर्यग्योनिं वा, बोधिर्यत्र सुदुर्लभः ॥ ४८ ॥

‘ततो वि०’—ततोऽप्यसौ—देवल्लोकादसौ च्युत्वा लप्स्यते एल(ड)मूकतागजाभाषानुकारित्वं मानुषत्वे,
तथा नरकं तिर्यग्योनिं वा पारम्पर्येण लप्स्यते, बोधिर्यत्र सुदुर्लभः—जिनधर्मप्राप्तिर्दुराषा यत्र तत्रोपपद्यते, इह च
प्राप्नोत्ये(ड)मूकतामिति वाच्ये असकृत्—भवे प्राप्तिरुत्थापनाय लप्स्यत इति भविष्यत्कालनिर्देश इति ॥ ४८ ॥
प्रकृतमुपसंहरति—

॥ १६० ॥

यशसि०
॥ १६१ ॥

एअं च दोसं ददूणं नायपुत्तेण भासिअं ।
अणुमायं पि मेहावी मायामोसं विवज्जए ॥ ४९ ॥
छा० एतं च दोषं दृष्ट्वा, ज्ञातपुत्रेण भाषितम् ।
अणुमात्रमपि मेधावी, मायामृषां विवर्जयेत् ॥ ४९ ॥

‘एअं च०’—एव(त)ञ्च दोषमनन्तरोदितम्, सत्यपि श्रामण्ये कुदेवत्वादिप्राप्तिरूपम् आगमतः दृष्ट्वा,
ज्ञातपुत्रेण भाषितमुक्तम्, अणुमात्रमपि—स्तोकमात्रमपि मेधावी मायामृषावादं विवर्जयेत् ॥ ४९ ॥ अध्ययनार्थमुप-
संहरन्नाह—

सिक्खिऊण भिक्खेसणसेहिं संजयाण बुद्धाण सगासे ।
तत्थ भिक्खू सुप्पणिहिंद्विए तिव्वलज्जगुणवं विहरिज्जासि ॥५०॥ त्ति बोमि ।
छा० शिक्षित्वा भिक्षेपणाशोधिं, संयतेभ्यो बुद्धेभ्यः सकाशात् ।
तत्र भिक्षुः सुप्रणिहितेन्द्रियः, तीव्रलज्जागुणवान् विहरेत् ॥५०॥ इति ब्रवीमि ।

‘सिक्खिऊण०’—शिक्षित्वा—अधीत्य भिक्षेपणाशुद्धिं—पिण्डमार्गणादिविशुद्धिम्, उद्गमादिरूपां, संयतेभ्यो
बुद्धेभ्यः सकाशात्, न द्रव्यसाधुभ्यः सकाशात्, तत्र—भिक्षेपणायां भिक्षुः सुप्रणिहितेन्द्रियः—श्रोत्रादिभिर्ग्राहं तदुपयुक्तः,

१ विहरिष्यसि ।

अश्व०५(२)

॥ १६१ ॥

तीमलजः—उत्कृष्टसंयमः सन्, अनेन प्रकारेण गुणवान्, विहरेत्—सामाचारीपालनं कुर्यादिति । ब्रवीमीति पूर्ववत्
॥ ५० ॥ इति पिण्डैषणाध्ययनाऽवचूरिः ।

॥ पिण्डैषणाध्ययनं पंचमं ॥

॥ इति पिण्डैषणाध्ययनं पञ्चमम् ॥



अध्या० ५ (२)

॥ १६२ ॥

॥ अथ पष्ठाध्ययनम् ॥



वसवे०
॥ १६३ ॥

अध्य० ६

इहानन्तराऽध्ययने साधोर्भिक्षाशुद्धिरुक्ता, इह तु गोचरप्रविष्टेन सता स्वाचारः पृष्टेन तद्विदाऽपि न महा-
जनसमक्षं तत्रैव विस्तरतः कथयितव्य इति, अपित्वालये गुरवो वा कथयन्तीति वाक्यमित्येतदुच्यते—

नाणदंसणसंपण्णं संजमे अ तवे रयं ।

गणिमागमसंपण्णं उज्जाणम्मि समोसढं ॥ १ ॥

छा० ज्ञानदर्शनसम्पन्नं, संयमे च तपसि रतम् ।

गणिनमागमसम्पन्नम्, उद्याने समवसृतम् ॥ १ ॥

‘नाणदंसण०’—ज्ञानदर्शनसम्पन्नं—ज्ञानदर्शनाभ्यां संपन्नं—संयुक्तं, संयमे तपसि च रतम्—आसक्तं, गणोऽ-
स्याऽस्तीति गणी तं गणिनमाचार्यमागमसम्पन्नं—विशिष्टश्रुतधरं, ब्रह्मागमत्वेन प्राधान्यख्यापनार्थमेतत्, उद्याने समवसृतं-
स्थितं धर्मदेशनार्थं वा प्रवृत्तम् ॥ १ ॥

रायाणो रायमच्चा य माहणा अदुव खत्तिआ ।

पुच्छंति निव्वुअप्पाणो कहं भे आयारगोअरो ॥ २ ॥

॥ १६३ ॥

छा० राजानो राजाऽमात्याश्च, ब्राह्मणा अथवा क्षत्रियाः ।

पृच्छन्ति निभृतात्मानः, कथं व(युष्माकम्) आचारगोचरः ॥ २ ॥

‘रायाणो०’—‘राजानो राजाऽमात्याश्च ब्राह्मणा अथवा क्षत्रियाः पृच्छन्ति निभृताऽऽत्मानः—असम्भ्रान्ता रायिताऽञ्जलयः, कथं मे—भवताम् आचारगोचरः—क्रियाकलापः स्थितः (इति) ॥ २ ॥

तेसिं सो निहुओ दंतो सन्वभूअसुहावहो ।

सिक्खाए सुसमाउत्तो आयक्खइ विअक्खणो ॥ ३ ॥

छा० तेभ्यः स निभृतो दान्तः, सर्वभूतसुखावहः ।

शिक्षया सुसमायुक्तः, आख्याति विचक्षणः ॥ ३ ॥

‘तेसिं०’—[चतुर्थ्यर्थे पठ्यते] तेभ्यो राजादिभ्योऽसौ गणी, निभृतः—असम्भ्रान्तः, दान्तः—इन्द्रियनोऽइन्द्रिय-दमाभ्यां, सर्वभूतसुखावहः—सर्वप्राणिहित इत्यर्थः, शिक्षया—ग्रहणाऽऽसेवनरूपया सुसमायुक्तः—सुष्ठु एकीभावेन युक्तः, आख्याति विचक्षणः ॥ ३ ॥

हंदि ! धम्मत्थकामाणं निग्गंथाणं सुणेह मे ।

आयारगोअरं भीमं सयलं दुरहिट्ठिअं ॥ ४ ॥

छा० हन्त ! धर्मार्थकामानां, निर्यन्थानां शृणुत मत् ।

आचारगोचरं भीमं, सकलं दुरधिष्ठितम् ॥ ४ ॥

‘हंदि०’-हन्दीत्युपपदशने, धर्मार्थकामानां-धर्मश्चारित्रधर्मः, तस्यार्थः-प्रयोजनं (मोक्षः), तं कामयन्ते-
इच्छन्ति विशुद्धविहिताऽनुष्ठानकरणेनेति धर्मार्थकामाः, तेषां, निर्यन्थानां-बाह्याऽन्यन्तरग्रन्थरहितानां, शृणुत मम
समीपाद् आचारगोचरं-क्रियाकलापम्, भीमं-कर्मशब्देपेक्षया रौद्रम्, दुरधिवितं-क्षुद्रतत्त्वैर्दुराश्रयम् ॥ ४ ॥

नण्णत्थ एरिसं वुत्तं जं लोए परमदुच्चरं ।

विउल्लङ्घाणभाइस्स न भूअं न भविस्सइ ॥ ५ ॥

छा० नाऽन्यत्र-ईदृशमुक्तं, यल्लोके परमदुश्चरम् ।

विपुलस्थानभागिनः, न भूतं न भविष्यति ॥ ५ ॥

‘नण्णत्थ०’-नाऽन्यत्र कपिलादिषु ईदृशमाचारगोचरं वस्तु यल्लोके परमदुश्चरम्-अत्यन्तदुष्करम्,
विपुलस्थानभाजि(गि)नः-विपुलस्थानं-विपुलमोक्षहेतुत्वात्संयमोऽपि विपुलस्थानं तदाऽऽसेविनः, न भूतं न भविष्यति
जिनमतादन्यत्र ॥ ५ ॥

सखुड्ढगवियत्ताणं वाहिआणं च जे गुणा ।

अखंडफुट्ठिआ कायव्वा तं सुणेह जहा तथा ॥ ६ ॥

छा० सखुल्लकव्यक्तानां, व्याधितानां च ये गुणाः ।

अखण्डाऽस्फुटिताः कर्तव्याः, तान्-शृणुत यथा तथा ॥ ६ ॥

छा० राजानो राजाऽमात्याश्च, ब्राह्मणा अथवा क्षत्रियाः ।

पृच्छन्ति निभृतात्मानः, कथं व(युष्माकम्) आचारगोचरः ॥ २ ॥

'रायाणो०'—राजानो राजाऽमात्याश्च ब्राह्मणा अथवा क्षत्रियाः पृच्छन्ति निभृताऽऽत्मानः—असम्भ्रान्ता रचिताऽऽलयेः, कथं मे—भवताम् आचारगोचरः—क्रियाकलापः स्थितः (इति) ॥ २ ॥

तेसिं सो निहुओ दंतो सव्वभूअसुहावहो ।

सिक्खाए सुसमाउत्तो आयक्खइ विअक्खणो ॥ ३ ॥

छा० तेभ्यः स निभृतो दान्तः, सर्वभूतसुखावहः ।

शिक्षया सुसमायुक्तः, आख्याति विचक्षणः ॥ ३ ॥

'तेसिं०'—[चतुर्थर्थे पठि] तेभ्यो राजादिभ्योऽसौ गणी, निभृतः—असम्भ्रान्तः, दान्तः—इन्द्रियनोइन्द्रिय-दमाभ्यां, सर्वभूतसुखावहः—सर्वप्राणिहित इत्यर्थः, शिक्षया—ग्रहणाऽऽसेवनरूपया सुसमायुक्तः—सुष्टु एकीभावेन युक्तः, आख्याति विचक्षणः ॥ ३ ॥

हंदि ! धम्मत्थकामाणं निग्गंथाणं सुणेह मे ।

आचारगोअरं भीमं सयलं दुरहिट्ठिअं ॥ ४ ॥

छा० हन्त ! धर्मार्थकामानां, निर्ग्रन्थानां शृणुत मत् ।

आचारगोचरं भीमं, सकलं दुरधिष्ठितम् ॥ ४ ॥

‘हंवि०’-हन्दीत्युपपदशने, धर्मार्थकामानां-धर्मश्चारित्रधर्मः, तस्यार्थः-प्रयोजनं (मोक्षः), तं कामयन्ते-
इच्छन्ति विशुद्धविहिताऽनुष्ठानकरणेनेति धर्मार्थकामाः, तेषां, निर्ग्रन्थानां-बाह्याऽभ्यन्तरग्रन्थरहितानां, शृणुत मम
समीपाद् आचारगोचरं-क्रियाकलापम्, भीमं-कर्मशत्र्वपेक्षया रौद्रम्, दुरधिष्ठितं-क्षुद्रसत्त्वैर्दुराश्रयम् ॥ ४ ॥

नण्णत्थ एरिसं वुत्तं जं लोए परमदुच्चरं ।

विउलढाणभाइस्स न भूअं न भविस्सइ ॥ ५ ॥

छा० नाऽन्यत्र-ईदृशमुक्तं, यल्लोके परमदुश्चरम् ।

विपुलस्थानभागिनः, न भूतं न भविष्यति ॥ ५ ॥

‘नण्णत्थ०’-नाऽन्यत्र कपिलादिषु ईदृशमाचारगोचरं वस्तु यल्लोके परमदुश्चरम्-अत्यन्तदुष्करम्,
विपुलस्थानभाजि(गि)नः-विपुलस्थानं-विपुलमोक्षहेतुत्वात्संयमोऽपि विपुलस्थानं तदाऽऽसेविनः, न भूतं न भविष्यति
जिनमतादन्यत्र ॥ ५ ॥

सखुडुगवियत्ताणं वाहिआणं च जे गुणा ।

अखंडफुडिआ कायव्वा तं सुणेह जहा तथा ॥ ६ ॥

छा० सक्षुल्लकव्यक्तानां, व्याधितानां च ये गुणाः ।

अखण्डाऽस्फुटिताः कर्तव्याः, तान्-शृणुत यथा तथा ॥ ६ ॥

‘सखुड्ग०’-सह क्षुल्लकैर्द्रव्यभावनालेखे वर्तन्ते ते, व्यक्ताः-द्रव्यभाववृद्धाः, तेषां सक्षुल्लकव्यक्तानां-सवा-
लवृद्धानामित्यर्थः, व्याधिपतां, ‘च’-शब्दादव्याधिपतां च, ये गुणा वक्ष्यमाणलक्षणास्तेऽखण्डाऽस्फुटिताः कर्तव्याः,
अखण्डाः-देशविराधनापरित्यागेन, अस्फुटिताः-सर्वविराधनापरित्यागेन, तान्-शृणुत यथा कर्तव्यास्तथा ॥ ६ ॥
ते चाऽगुणपरिहारेण अखण्डाऽस्फुटिता भवन्तीत्यगुणास्तावदुच्यन्ते—

दसअट्ट य ठाणाइं जाइं बालोव(वि)रज्झइ ।

तत्थ अण्णयेरे ठाणे निग्गंथत्ताउ भस्सइ ॥ ७ ॥

छा० दशाष्टौ च स्थानानि, यानि बालोऽप(वि)राध्यति ।

तत्रान्यतरस्मिन् स्थाने, निर्गन्धत्वाद्भ्रश्यति ॥ ७ ॥

‘दसअट्ट०’-दश अष्टौ च स्थानानि वक्ष्यमाणलक्षणानि यान्याश्रित्य बालोऽपराध्यति-तत्सेवनयाऽपरा-
धमान्नोति, कथम्? आह-तत्राऽन्यतरस्थाने वर्तमानः प्रमादेन निर्गन्धत्वाद् भ्रश्यति ॥ ७ ॥ कानि तानि स्थानानि ?
इत्याह—

वर्यच्छक्कं ६ कायच्छक्कं १२ अकल्पो १३ गिहिभायणं १४ ।

पलिअंकनिसिज्जा य १६ सिणाणं १७ सोभवज्जणं १८ ॥ ८ ॥

छा० वतपट्टं कायपट्टम्, अकल्पो गृहिभाजनम् ।

पर्यङ्कनिपद्ये च, स्नानं शोभावर्जनम् ॥ ८ ॥

१ पृत्तौ न व्याख्याता, निर्युत्तिगतेति स्वीकरणात् ।

दशवे०
॥ १६७ ॥

‘वयच्छकं०’-व्रतपट्टं-प्राणातिश्रुताविरमणादीनि पट्टव्रतानि ६, कायपट्टं-पृथिव्यादयः पट्टजीवनिकायाः १२, अकल्पकः-शिक्षकस्थापनाकल्पादिर्वक्ष्यमाणः १३, गृहिभाजनं-रुस्यभाजनादि १४, पर्यङ्कः-शयनविशेषः १५, निषद्या च-गृहे-एकानेकरूपा १६, स्नानं-सर्वदेशभेदभिन्नम् १७, शोभावर्जनं-विभूषापारित्यागः १८, वर्जन-मिति प्रत्येकं सम्बध्यते, निर्युक्तिगता गाथेयम् ॥ ८ ॥ गुणा अखण्डाऽस्फुटिताः कर्तव्याः, तत्र विधिमाह—

तत्थिमं पट्टमं ठाणं महावीरेण देसिअं ।

अहिंसा निउणा दिट्ठा सव्वभूएसु संजमो ॥ ९ ॥

छा० तत्रेदं प्रथमं स्थानं, महावीरेण देशितम् ।

अहिंसा निपुणा दृष्टा, सर्वभूतेषु संयमः ॥ ९ ॥

‘तत्थिमं०’-तत्रेदं प्रथमं वक्ष्यमाणलक्षणं(स्थानं) महावीरेण-श्रीवर्द्धमानेन देशितं-कथितम्, यदुत-अहिं-
सेति, इयञ्च सामान्यतः प्रमूढैर्देशितेत्यत आह-‘निपुणाः’-आधाकर्माद्यपरिभोगतः कृतकारितादिपरिहारेण सूक्ष्मा,
नाऽऽगमद्वारेण देशिता अपि तु दृष्टा, साक्षाद्धर्मसाधनत्वेनोपलब्धा, किमितीयमेव निपुणेत्याह-यतोऽस्यामेव
महावीरदेशितायां सर्वभूतेषु-सर्वभूतविषयः संयमः, नान्यत्र, उद्दिश्यकृतादिभोगविधानात् ॥ ९ ॥

जावंति लोए पाणा तसा अदुव थावरा ।

ते जाणमजाणं वा न हणे णो वि घायए ॥ १० ॥

अध्य० ६

॥ १६७ ॥

छा० यावन्तो लोके प्राणिनः, त्रसा अथवा स्थावराः ।

ताश्चानन्नजानन्वा, न हन्यान्नो अपि घातयेत् ॥ १० ॥

‘जावन्ति०’—यतो हि भागवत्याज्ञा यावन्तो लोके प्राणिनस्त्रसाः—द्वीन्द्रियादयः, अथवा स्थावराः—पृथिव्यादयस्तान् जानन्—रागाद्यभिभूतोऽजानन् वा, न हन्यात् स्वयम्, नाभिघातयेदन्यैः, एकग्रहणतो घ्नतोऽप्यन्यान् न समनुजानीयात् ॥ १० ॥

सर्वे जीवा वि इच्छन्ति जीवितुं न मरिजितुं ।

तम्हा प्राणवधं घोरं निर्गन्था वर्जयन्ति ॥ ११ ॥

छा० सर्वे जीवा अपीच्छन्ति, जीवितुं न मर्तुम् ।

तस्मात्प्राणवधं घोरं, निर्गन्था वर्जयन्ति ॥ ११ ॥

‘सर्वे जीवा०’—सर्वे जीवा अपीच्छन्ति जीवितुं न मर्तुम् प्राणवल्लभत्वात्, यस्मादेवं तस्मात्प्राणवधं घोरं निर्गन्था वर्जयन्ति ॥ ११ ॥ द्वितीयस्थानविधिमाह—

अप्यणद्धा परद्धा वा कोहा वा जइ वा भया ।

हिंसकं न मृषा ब्रूयात्, णो वि अण्णं वयावए ॥ १२ ॥

छा० आत्मार्थं परार्थं वा, क्रोधाद्वा यदिवा भयात् ।

हिंसकं न मृषा ब्रूयात्, नो अप्यन्यं वादयेत् ॥ १२ ॥

अध्य० ६

॥ १६८ ॥

सूत्रं ०
॥ १६८ ॥

‘भष्णद्व०’—आत्मार्थम्—आत्मान. एव ग्लानोऽहं ममानेन कार्यमित्यादि, (परार्थं वा—एवमेव, तथा कोपादा—त्वं दास इत्यादि), [एरुग्रहणे तज्जातीयग्रहणात्] मायादिपरिग्रहः, यदि वा भयात्किञ्चिद्विहितं कृत्वा पायभिसमयान्न घृतमित्यादि, एवं हास्यादिष्वपि वाच्यम्, हिंसकं—पस्पीडाकारि सर्वमेव न मृषा ब्रूयात् स्वयम्, नाऽप्यन्यं वादयेत्, एरुग्रहणतो ब्रुवतोऽप्यन्यान् समनुजानीयात् ॥ १२ ॥

मुसावाओ अ लोमंमि सव्वसाहूहिं गरिहिओ ।

अविस्सासो अ भूआणं तम्हा मोसं विवज्जए ॥ १३ ॥

उ० मृषावादश्च लोके, सर्वसाधुभिर्गर्हितः ।

अविश्वासश्च भूतानां, तस्मान्मृषां विवर्जयेत् ॥ १३ ॥

‘मुसावाओ’—मृषावादो हि लोके सर्वसाधुभिर्गर्हितः, सर्वत्रतापकारित्वात्, प्रतिज्ञाताऽपालनात्, अवि-
श्वासश्च भूतानां, तस्मान्मृषायां वर्जयेत् ॥ १३ ॥ अथ तृतीयस्थानमाह—

चित्तमंतमचित्तं वा अप्पं वा जइ वा बहुं ।

दंतसोहणमित्तं पि उग्गहंसि अजाइआ ॥ १४ ॥

उ० चित्तवदचित्तं वा, अल्पं वा यदि वा बहु ।

दन्तशोधनमात्रमपि, अवग्रहे अयाचित्वा ॥ १४ ॥

‘चित्तमृत०’—चित्तवत्—दीन्द्रियादि, अचित्तवद्वा—हिरण्यादि, अल्पं वा मूल्यतः प्रमाणतश्च, यदिवा बहु मूल्यप्रमाणाभ्यामेव, किं बहुना ? दन्तशोधनमात्रमपि अवग्रहे यस्य तत्तमयाचित्वा न गृह्णन्ति साधवः कदाचन ॥ १४ ॥

तं अप्पणा न गिण्हंति णो वि गिण्हावए परं ।

अण्णं वा गिण्हमाणं पि नाणुजाणंति संजया ॥ १५ ॥

छा० तदात्मना न गृह्णन्ति, नो अपि ग्राहयन्ति परम् ।

अन्यं वा गृह्णन्तमपि, नाऽनुजानन्ति संयताः ॥ १५ ॥

‘तं अप्पणा०’—तदाऽऽत्मना स्वयं न गृह्णन्ति, विरतत्वात्, नाऽपि ग्राहयन्ति परम्, अन्यं वा गृह्णन्तमपि नानुजानन्ति—नानुमन्यन्ते संयताः ॥ १५ ॥ चतुर्थस्थानविधिमाह—

अवंभचरिअं घोरं पमायं दुरहिट्ठिअं ।

नायरंति मुणी लोए भेआययणवज्जिणो ॥ १६ ॥

छा० अब्रह्मचर्यं घोरं, प्रमादं दुरधिष्ठितम् ।

नाचरन्ति मुनयो लोके, भेदाऽऽयतनवर्जिनः ॥ १६ ॥

‘अवंभ०’—अब्रह्मचर्यं घोरं दुर्गतिहेतुत्वात्, प्रमादं—प्रमादवत्सर्वप्रमादमूलत्वात्, दुराश्रयं—दुस्सेवं, विदित-
जिनवचनेन अनन्तसंसारहेतुत्वात्, यतश्चैवमतो नाचरन्ति मुनयो लोके भेदायतनवर्जिनः—भेदश्चारित्र्यभेदः, तदाऽऽ-
यतनं तत्प्रपन्नमिदमेव, उक्तन्यायात्, तद्वर्जिनः—चारित्र्याऽतिचारभीरव इति ॥ १६ ॥

अध्य० ६

॥ १७० ॥

मूलमेअमहम्मस्स महादोससमुस्सयं ।

तम्हा मेहुणसंसग्गं निग्गंथा वज्जयंति णं ॥ १७ ॥

छा० मूलमेतदधर्मस्य, महादोषसमुच्छ्रयम् ।

तस्मान्मैथुनसंसर्गं, निर्ग्रन्था वर्जयन्ति ॥ १७ ॥

‘मूलमेअ०’—मूलं—बीजमेतदधर्मस्य—पापस्येति पारलौकिकोऽप्रायः, महादोषसमुच्छ्रयं—महतां दोषाणां चौर्यप्रवृत्त्यादीनां समुच्छ्रयं—संघातवदिति—ऐहिकोऽप्रायः, तस्मान्मैथुनसंसर्गं योषिदालापयपि निर्ग्रन्था वर्जयन्ति, ‘न’ इति वाक्याऽलङ्कारे ॥ १७ ॥ अथ पञ्चमस्थानविधिमाह—

विडमुन्हेइमं लोणं तिलं सर्पिं च फाणिअं ।

न ते संनिहिमिच्छंति नायपुत्तवओरया ॥ १८ ॥

छा० विडमुद्देयं लवणं, तैलं सर्पिश्च फाणितम् ।

न ते सन्निधिमिच्छन्ति, ज्ञातपुत्रवचोरताः ॥ १८ ॥

‘विड०’—विडं—गोमूत्रादिपक्वम्, उद्देयं—सामुद्रादि, यदिवा विडं प्रासुकम्, उद्देयमप्रासुकम्, इत्येवं द्वि-
प्रकारं लवणं, तैलं, सर्पिश्च—घृतं, फाणितं—द्रवगुडः, न ते साधवः सन्निधिमिच्छन्ति ज्ञातपुत्रवचोरताः—ज्ञातनिबद्धार्थः
सिद्धार्थस्तत्पुत्रो वर्धमानस्तस्य वचसि रताः ॥ १८ ॥ सन्निधिवोपमाह—

लोहस्सेसणुप्फासो मण्णे अण्णयरामवि ।

जे सिआ संनिहिं कामे, गिही पव्वइए न से ॥ १९ ॥

छा० लोभस्यैपोऽनुस्पर्शः, मन्येऽन्यतरामपि ।

यः स्यात्सन्निधिं कामयते, गृही प्रव्रजितो न सः ॥ १९ ॥

‘लोहस्सेस०’—लोभस्यैपोऽनुस्पर्शोऽनुभावो यदुत (यदे)तत्सन्निधिकरणमिति, यतश्चैवमतो मन्ये—मन्यन्ते

[पाकृतशैल्या एकवचनम्] एवमाहुस्तीर्थकरणधराः, अन्यतरामपि—स्तोकामपि यः कदाचित् सन्निधिं कामयते गृही-
गृहस्थोऽसौ भावतः प्रव्रजितो नेति, दुर्गतिनिमित्ताऽनुष्ठानप्रवृत्तेः ॥ १९ ॥ आह—यद्येवं, वस्त्रादिधारयतां साधूनां
कथमसन्निधिरित्यत्राह—

जं पि वत्थं व पायं वा कंबलं पायपुंछणं ।

तं पि संजमलज्जट्ठा धारंति परिहरंति अ ॥ २० ॥

छा० यदपि वस्त्रं वा पात्रं वा, कम्बलं पादपुच्छनम् ।

तदपि संयमलज्जार्थं, धारयन्ति परिहरन्ति च ॥ २० ॥

‘जं पि०’—यदपि आगमोक्तं वस्त्रं वा, पात्रं वा, कम्बलं, पादपुच्छनं तदपि संयमलज्जार्थमिति, संयमार्थं
पात्रादि, तदव्यतिरेकेण पुरुषमात्रेण गृहस्थभाजने सति संयमपालनाभावात्, लज्जार्थं वस्त्रं, तदव्यतिरेकेण—अङ्गनादी

विशिष्टश्रुतपरिणत्यादिरहितस्य निर्लज्जतोपपत्तेः, पुटालम्बनविधानेन परिहरन्ति च-परिभुञ्जते च मूर्च्छादिरहिताः
॥ २० ॥ अतो नाऽसौ परिग्रहः—

न सो परिग्रहो वुत्तो नायपुत्तेण ताइणा ।

मुच्छा परिग्रहो वुत्तो इअ वुत्तं महेसिणा ॥ २१ ॥

छा० नाऽसौ परिग्रह उक्तः, ज्ञातपुत्रेण त्रायिणा ।

मूर्च्छा परिग्रह उक्तः, इत्युक्तं महर्षिणा ॥ २१ ॥

‘न सो परिग्रहो०’—नाऽसौ वस्त्रधारणादिलक्षणः परिग्रह उक्तो ज्ञातपुत्रेण—वर्द्धमानेन, त्रात्रा—स्वपरपरि-
त्राणसमर्पेन, अपि तु मूर्च्छा—असत्स्वपि वस्त्रादिष्वभिष्वङ्गः परिग्रह उक्तः, बन्धहेतुत्वात्, अर्थतस्तीर्थकरेण ब्रतोऽव-
धार्य इत्येवमुक्तं महर्षिणा गणधरेण, सूत्रे शय्यम्बवेन (शायम्बवे) ॥ २१ ॥ वस्त्राद्यभावेऽपि मूर्च्छा स्यात्, सद्भावे
कथं नेत्याह—

सख्यथुवहिणा बुद्धा संरक्षणपरिग्रहे ।

अवि अप्पणो वि देहम्मि नायरन्ति ममाइअं ॥ २२ ॥

छा० सर्वत्रोपधिना बुद्धाः, संरक्षणपरिग्रहे ।

अप्यात्मनोऽपि देहे, नाचरन्ति ममायितम् ॥ २२ ॥

अध्य० ६

॥ १७३ ॥

दशये०
११७४ ॥

‘सब्वत्थु०’—सर्वत्रोचिते क्षेत्रे काले(च) उपधिना—आगमोक्तेन वस्त्रादिना सहाऽपि बुद्धाः—ज्ञाततत्त्वाः, संरक्षणपरिग्रह इति संरक्षणाय पण्णां जीवनिक्कायानां वस्त्रादिपरिग्रहे सत्यपि नाचरन्ति ममत्वमिति योगः । किञ्चा-
नेन ? ते हि भगवन्तः ‘अप्यात्मनोऽपि देहे’—आत्मनो देहे—इत्यात्मनो धर्मकायेऽपि विशिष्टप्रतिबन्धसङ्गतिं न कुर्वन्ति, ममत्वमाऽऽत्मीयाऽभिधानं, वस्तुतत्त्वावबोधाय, तिष्ठतु तावदन्यत्, ततश्च देहवदपरिग्रह एव तदिति ॥ २२ ॥ अथ पष्ठं स्थानमाह—

अहो निचं तवोकम्मं सब्वबुद्धेहिं वणिणं ।
जा य लज्जासमा वित्ती एगभत्तं च भोजणं ॥ २३ ॥

छा० अहो नित्यं तपःकर्म, सर्वबुद्धैर्वर्णितम् ।
या च लज्जासमा वृत्तिः, एकभक्तं च भोजनम् ॥ २३ ॥

‘अहो०’—‘अहो नित्यं तपःकर्म’—इत्यहो विस्मये, नित्यं नामाऽपायाऽभावेन तदन्यगुणवृद्धिसम्भवात्, अप्रतिपात्येव तपःकर्म—तपोऽनुष्ठानं सर्वबुद्धैर्वर्णितं—देशितं, ‘या च लज्जासमा वृत्तिः’—लज्जा—संयमः, तेन समा-
तुल्या संयमाऽविरोधिनीत्यर्थः, वर्तनं—वृत्तिः—देहपालना, एकभक्तं च भोजनम्—एकं भक्तं द्रव्यतो भावतश्च यस्मि-
न्भोजने तत्तथा, द्रव्यत एकम्—एकसंख्यानुगतं, भावत एकं—कर्मबन्धामावाद्वितीयं, तद्विवस एव रागादिरहितस्य,
अन्यथा भावत एकत्वाऽपावात् ॥ २३ ॥ रात्रिभोजनदोषमाह—

अध्य० ६

॥ १७४ ॥

संतिमे सुहुमा पाणा तसा अदुव थावरा ।

जाई राओ अपासंतो कहमेसणिअं चरे ? ॥ २४ ॥

छा० सन्तीमे सूक्ष्माः प्राणिनः, त्रसा अथवा स्थावराः ।

यान् रात्रावपश्यन्, कथमेपणीयं चरेत् ? ॥ २४ ॥

‘संतिमे०’—सन्त्येते प्रत्यक्षाः सूक्ष्माः—सूक्ष्मप्राणिनो जीवाः, त्रसाः—दीन्द्रियादयः, (वा) स्थावराः पृथिव्या-
दयः, यान् प्राणिनो रात्रावपश्यन् कथमेपणीयं चरिष्यति—भोक्ष्यते च ? असम्भव एव रात्रावेषणीयचरणस्येति ॥ २४ ॥
रात्रिभोजने दोषमभिधायाऽयुना ग्रहणगतं दोषमाह—

उदउल्लं बीअसंसत्तं पाणा निवडिआ महीं ।

दिआ तांइं विवज्जिजा राओ तत्थ कहं चरे ? ॥ २५ ॥

छा० उदकाद्रं बीजसंसक्तं, प्राणिनो निपतिता महीम् ।

दिवा तान्विवर्जयेत्, रात्रौ तत्र कथं चरेत् ? ॥ २५ ॥

‘उदउल्लं०’—उदकाद्रं पूर्ववद्बीजसंसक्तं भक्तादि, (तथा) प्राणिनः सम्पातिमादयो निपातिमां महां

सम्भवन्ति, ननु दिवाऽप्येतत्सम्भवत्येव ? सत्यम्, किन्तु परलोकभीरुश्चक्षुषा पश्यन् दिवा तानि—उदकादीनि विवर्जयेत्, सम्भवत्येतत्, रात्रौ तु तत्र कथञ्चरन्ति संयमानुपरोधेन ? असम्भव एव शुद्धचरणस्य ॥ २५ ॥

अध्य० ६

एअं च दोसं दृष्ट्वा नायपुत्रेण भासिअं ।

सब्बाहारं न भुञ्जेति निर्गन्था रात्रिभोजनम् ॥ २६ ॥

छा० एतं च दोषं दृष्ट्वा, ज्ञातपुत्रेण भाषितम् ।

सर्वाहारं न भुञ्जते, निर्गन्था रात्रिभोजनम् ॥ २६ ॥

‘एअं च०’—पुन(त)श्चानन्तरोदितं प्राणिहिंसारूपमन्यं चाऽऽत्मविरोधनादिलक्षणं दोषं दृष्ट्वा (ज्ञात-पुत्रेण भाषितं) सर्वाहारम्—अशनादिलक्षणं न भुञ्जते निर्गन्था रात्रिभोजनम् ॥ २६ ॥ उक्तं व्रतशृङ्गं, कायपदमुच्यते—

पृथ्वीकार्यं न हिंसन्ति मणसा वचसं कायसा ।

तिविहेण करणजोएण संजया सुसमाहिआ ॥ २७ ॥

छा० पृथ्वीकार्यं न हिंसन्ति, मनसा वचसा कायेन ।

त्रिविधेन करणयोगेन, संयताः सुसमाहिताः ॥ २७ ॥

॥ १७६ ॥

वसवे०
॥ १७७ ॥

‘पृथ्वीकायं०’—पृथिवीकायं न हिंसन्ति, आलेखनादिप्रकारेण मनसा वावा कायेन, उपलक्षणमेतत्, अत एवाह—विविधेन करणयोगेन—मनःप्रभृतिकरणादिरूपेण, संयताः सुसमाहिताः ॥ २७ ॥ हिंसादोषमाह—

अर्घ्य० ६१

पृथ्वीकायं विहिंसन्तो हिंसइ उ तयस्सिए ।

तसे अ विविहे पाणे चक्खुसे अ अचक्खुसे ॥ २८ ॥

छा० पृथ्वीकायं विहिंसन्, हिनस्तिं तु(एव) तदाश्रितान् ।

त्रसांश्च विविधान्प्राणिनः, चाक्षुषांश्चाऽचाक्षुषान् ॥ २८ ॥

‘पृथ्वी०’—पृथ्वीकायं विहिंसन् हिनस्त्येव, तुरवधारणे, तदाश्रितान्—पृथिव्याश्रितान् त्रसांश्च विविधान् प्राणिनो द्वीन्द्रियादीन्, ‘च’—शब्दात् स्थावरांश्च, चाक्षुषान्नाचाक्षुषांश्च ॥ २८ ॥

तम्हा एअं विआणित्ता दोसं दुग्गइवड्डणं ।

पृथ्वीकायसमारंभं जावज्जीवाइ वज्जेए ॥ २९ ॥

छा० तस्मादेतं विज्ञाय, दोषं दुर्गतिवर्धनम् ।

पृथ्वीकायसमारम्भं, यावज्जीवं वर्जयेत् ॥ २९ ॥

॥ १७७ ॥

‘तम्हा०’—तस्मादेवं विज्ञाय दोषं दुर्गतिवर्द्धनं पृथिवीकायसमारम्भं यावज्जीवमेव वर्जयेत् ॥ २९ ॥
अथाऽष्टमस्थानमाह—

आउकायं न हिंसन्ति मणसा वयसं कायसा ।

तिविहेण करणजोएण संजया सुसमाहिआ ॥ ३० ॥

छा० अप्कायं न हिंसन्ति, मनसा वचसा कायेन ।

त्रिविधेन करणयोगेन, संजयाः सुसमाहिताः ॥ ३० ॥

आउकायं विहिंसन्तो हिंसइ उ तयस्सिए ।

तसे अ विविहे पाणे चक्खुसे अ अचक्खुसे ॥ ३१ ॥

छा० अप्कायं विहिंसन्, हिनस्ति तु(एव) तदाश्रितान् ।

त्रसोश्च विविधान्प्राणिनः, चाक्षुषोश्चाऽचाक्षुषान् ॥ ३१ ॥

तम्हा एअं विआणित्ता दोसं दुग्गइवड्डणं ।

आउकायसमारंभं जावज्जीवाइ वज्जए ॥ ३२ ॥

छा० तस्मादेतं विज्ञाय, दोषं दुर्गतिवर्धनम् ।

अप्कायसमारम्भं, यावज्जीवं वर्जयेत् ॥ ३२ ॥

‘आउकाय०’—सुगमा, पृथिव्याः स्थानेऽपकायाऽभिलाषेन् नैयम् ॥ ३० ॥ ‘आउकायं०’—सुगमा ॥ ३१ ॥

‘तम्हा०’—सुगमा, पूर्ववत् ॥ ३२ ॥ अथ नवमस्थानमाह—

१ पूर्ववत् ।

जायतेअं न इच्छन्ति पावगं जलइत्तए ।

तिक्खमण्णयरं सत्थं सव्वओ वि दुरासयं ॥ ३३ ॥

छा० जाततेजसं नेच्छन्ति, पापकं ज्वालयितुम् ।

तीक्ष्णमन्यतरेच्छन्ति, सर्वतोऽपि दुराश्रयम् ॥ ३३ ॥

‘जायतेअं०’—जाततेजसम्—अग्निं, नेच्छन्ति पापमेव पापकं, प्रभूतसच्चापकारित्वेनाऽशुभमित्यर्थः, ज्वल-
यितुम्—उत्पादयितुं तीक्ष्णं—छेदकरणात्मकम् अन्यतरच्छन्ति—सर्वत्रशस्त्रम्—एकधारादिशस्त्रव्यवच्छेदेन सर्वतो धारादि-
(धार)शस्त्रकल्पमिति । अत एव सर्वतोऽपि दुराश्रयं—सर्वतोधारत्वेन अनाश्रयणीयम् ॥ ३३ ॥

पाईणं पडिणं वा वि उट्ठं अणुदिसामवि ।

अहे दाहिणओ वा वि दहे उत्तरओ वि अ ॥ ३४ ॥

छा० प्राच्यां प्रतीच्यां वाऽपि, ऊर्ध्वमनुदिक्वपि ।

अधो दक्षिणतो वाऽपि, दहेदुत्तरतोऽपि च ॥ ३४ ॥

‘पाईणं०’—प्राच्यां—पूर्वायां, प्रतीच्यामपि—पश्चिमायामपि, ऊर्ध्वम्, अनुदिक्वपि [सुपां सुपो भवन्तीति
सम्यर्थे पठ्यते] विदिक्वपि—इत्यर्थः, अधो दक्षिणतश्चाऽपि दहति—दाहं भस्मीकरोति, उत्तरतोऽपि च ॥ ३४ ॥

भूआणमेसमाधाओ हव्यवाहो न संसओ ।

तं पईवपयावट्ठा संजया किंचि नारभे ॥ ३५ ॥

छा० भूतामामेष आघातः, हव्यवाहो न संशयः ।

तं प्रदीपप्रतापार्थं, संयताः किञ्चिन्नारभन्ते ॥ ३५ ॥

‘भूआणमेस०’—भूतानां—स्थावरादीनामेष आघातः—आघातहेतुत्वादाघातः, हव्यवाहोऽग्निर्न संशयः । इत्येवमेवैतदाघात एवेति भावः, येनैवं तेन तं हव्यवाहं प्रदीपप्रतापनार्थम्—आलोकशीतापनोदार्थं संयताः किञ्चित्सं-
घट्टनादि(नाऽपि) नारभन्ते, संयतत्वापगमनप्रसङ्गात् ॥ ३५ ॥

तम्हा एअं विआणित्ता दोसं दुग्गइवट्ठुणं ।

तेउकायसमारंभं जावज्जीवाइ वज्जए ॥ ३६ ॥

छा० तस्मादेतं विज्ञाय, दोषं दुर्गतिवर्धनम् ।

तेजःकायसमारम्भं, यावज्जीवं वर्जयेत् ॥ ३६ ॥

‘तम्हा०’—सुगमा ॥ ३६ ॥ अथ दशमस्थानमाह—

अणिलस्स समारंभं बुद्धा मण्णंति तारिसं ।

सावज्जवहुलं चेअं नेअं ताईहिं सेविअं ॥ ३७ ॥

१ प्रतीप इत्यपि ।

७०० अनिलस्य समारम्भं, बुद्ध्या मन्यन्ते तादृशम् ।
सावद्यबहुलं चैतं, नैनं त्रायिभिः सेवितम् ॥ ३७ ॥

‘अणिलस्त०’—अनिलस्य—वायोः समारम्भं—तालवृन्तादिभिः करणं बुद्ध्या मन्यन्ते तादृशम्—जाततेजः-
समारम्भसदृशं सावद्यबहुलं चैतं(तं)—पापभूयिष्ठं चैनमिति कृत्वा सर्वकालमेव नैनं त्रायिभिः—सुप्ताधुभिः सेवित-
माचरितं मन्यन्ते बुद्ध्याः ॥ ३७ ॥

तालिअंटेण पत्तेण साहाविहुअणेण वा ।
न ते वीइउमिच्छंति वेआवेऊण(उं) वा परं ॥ ३८ ॥

७०० तालवृन्तेन पत्रेण, शाखाविधुननेन वा ।
न ते व्यजितुमिच्छन्ति, व्याजयितुं वा परम् ॥ ३८ ॥

‘तालिअंटेण०’—तालवृन्तेन पत्रेण शाखाविधुननेन वा न ते साधवो वीजितुमिच्छन्ति आत्मानमात्मना,
नाऽपि वीजयन्ते परैरात्मानं तालवृन्तादिभिः, एवं नाऽपि वीजयन्तं परमनुमन्यन्ते ॥ ३८ ॥

जं पि वत्थं व पायं वा कंचलं पायपुंछणं ।
न ते वायमुईरंति जयं परिहरंति अ ॥ ३९ ॥

१ ‘व्यजितुम्’ इति शुद्धरूपम् ।

छा० यदपि घृत्नं वा पात्रं वा, कम्बलं पादप्रोञ्छनम् ।

न ते वातमुदीरयन्ति, यतं परिहरन्ति च ॥ ३९ ॥

‘जं पि०’—यदपि वस्त्रं वा पात्रं वा कम्बलं वा पादप्रोञ्छनम्, अमीषा पूर्वोक्तं धर्मोपकरणं, तेनाऽपि न ते वातमुदीरयन्ति, अयतप्रत्युपेक्षणादिक्रियया । किन्तु यतं परिहरन्ति च परिमोगपरिहारेण धारणापरिहारेण च ॥ ३९ ॥

तम्हा एअं विआणित्ता दोसं दुग्गइवड्डुणं ।

वाउकायसमारम्भं जावज्जीवाइ वज्जए ॥ ४० ॥

छा० तस्मादेतं विज्ञाय, दोषं दुर्गतिवर्धनम् ।

वायुकायसमारम्भं, यावज्जीवं वर्जयेत् ॥ ४० ॥

‘तम्हा०’—सुगमा ॥ ४० ॥ अथ एकादशस्थानमाह—

वणस्सइं न हिंसन्ति मणसा वयसं कायसा ।

तिविहेण करणजोएण संजया सुसमाहिआ ॥ ४१ ॥

छा० वनस्पतिं न हिंसन्ति, मनसा वचसा कायेन ।

त्रिविधेन करणयोगेन, संयताः सुसमाहिताः ॥ ४१ ॥

इशुवे०
॥ १८३ ॥

वणस्सइं विहिंसंतो हिंसइ उ तयस्सिए ।

तसे अ विविहे पाणे चक्खुसे, अ अचक्खुसे ॥ ४२ ॥

छा० वनस्पतिं विहिंसन्, हिंसन्ति तु(एव) तदाश्रितान् ।

त्रसँश्च विविधान्प्राणिनः, चाक्षुषँश्चाऽचाक्षुषान् ॥ ४२ ॥

तम्हा एअं विआणित्ता दोसं दुग्गइवड्डुणं ।

वणस्सइसमारंभं जावज्जीवाइ वज्जए ॥ ४३ ॥

छा० तस्मादेतं विज्ञाय, दोषं दुर्गतिवर्धनम् ।

वनस्पतिसमारम्भं, यावज्जीवं वर्जयेत् ॥ ४३ ॥

‘वणस्सइं०’—सुगमा ॥ ४१ ॥ ‘वणस्सइं०’—सुगमा ॥ ४२ ॥ ‘तम्हा०’—सुगमा ॥ ४३ ॥ अथ

द्वादशस्थानमाह—

तसकायं न हिंसन्ति मणसा वयसं कायसा ।

तिविहेण करणजोएण संजया सुसमाहिआ ॥ ४४ ॥

छा० त्रसकायं न हिंसन्ति, मनसा वचसा कायेन ।

त्रिविधेन करणयोगेन, संयताः सुसमाहिताः ॥ ४४ ॥

१ पूर्ववत् ।

अध्य०६

॥ १८३ ॥

तसकायं विहिंसंतो हिंसइ उ तयस्सिए ।

तसे अ विविहे पाणे चक्खुसे अ अचक्खुसे ॥ ४५ ॥

छा० त्रसकायं विहिंसन्, हिनस्ति तु(एव) तदाश्रितान् ।

त्रसौश्च विविधान्प्राणिनः, चाक्षुषौश्चाऽचाक्षुषान् ॥ ४५ ॥

तम्हा एअं विआणित्ता दोसं दुग्गाइवड्डुणं ।

तसकायसमारंभं जावज्जीवाइ वज्जए ॥ ४६ ॥

छा० तस्मादेतं विज्ञाय, दोषं दुर्गतिवर्धनम् ।

त्रसकायसमारम्भं, यावज्जीवं वर्जयेत् ॥ ४६ ॥

‘तसकायं०’-सुगमा ॥ ४४ ॥ ‘तसकायं०’-सुगमा ॥ ४५ ॥ ‘तम्हा०’-सुगमा ॥ ४६ ॥

उक्तं कायषट्कम्, एतत्पतिपादनादुक्ता मूलगुणाः, अधुनैतद्वृत्तिभूतोत्तरगुणावसरः, तेचाऽकल्पादयः षडुत्तर-
गुणाः, यथोक्तम्-‘अकल्पो गिहिमायणं’ इत्यादि, तत्राऽकल्पो द्विविधः-शिक्षकस्थापनाकल्पः, अकल्प्य(ल्प)स्थापना
कल्पश्च, तत्र शिष्यकस्थापनाकल्पः-अनधीतपिण्डनिर्युक्त्याऽऽविनाऽऽनीतमाहारादि न कल्पते इति, उक्तञ्च-

“अणहीआ खलु ‘जेणं,.....’ ॥ १ ॥

१ शिष्यकस्थापनाकल्प इति दृश्यते ।

२ पिण्डे सणसिज्जवत्यपाएसा । तेणाणियाणि, जइणो, कप्पति ण पिण्डमाईणि ॥१॥ इति-अवशिष्टं वृत्तितः ।

दशवै०
॥ १८५ ॥

“उदबद्धंमि ण अणला, वासावासे उ दोवि णो सेहा ।
दिक्खिज्जंती पायं, ठवणाकप्यो इमो होइ” ॥ २ ॥

अकल्पस्थापनाकल्पं त्वाह—

जाइं चत्तारि भुज्जाइं इसिणाहारमाइणि ।

ताइं तु विवज्जंतो संजमं अणुपालए ॥ ४७ ॥

छा० यानि चत्वार्यभोज्यानि, ऋषीणामाहारादीनि ।

तानि तु विवर्जयन्, संयममनुपालयेत् ॥ ४७ ॥

‘जाइं०’—यानि चत्वारि अभोज्यानि संयमापकारित्वेन अकल्पनीयानि, ऋषीणां—साधूनाम्, आहारा-
दीनि तानि तु विधिना विवर्जयन् संयमं—सप्तदशप्रकारमनुपालयेत् । तदव्यागे संयमाभावात् ॥ ४७ ॥ तदेव स्पष्टयति—

पिण्डं सिज्जं च वत्थं च चउत्थं पायमेव य ।

अकप्पिअं न इच्छिज्जा पडिगाहिज्ज कप्पिअं ॥ ४८ ॥

छा० पिण्डं शय्यां च वस्त्रं च, चतुर्थं पात्रमेव च ।

अकल्पिकं नेच्छेत्, प्रतिगृह्णीयात्कल्पिकम् ॥ ४८ ॥

१ ‘अभुज्जाइं’ इत्यर्थे आर्पित्वाद् भुज्जाइं शेषम् ।

अध्य० ६

॥ १८५ ॥

‘पिण्डं’—पिण्डं शय्यां च वस्त्रं चतुर्थं पात्रमेव चाऽकल्पिकं नेच्छेत्, प्रतिगृहीयात्कल्पिकम् ॥ ४८ ॥

अकल्पिके दोषमाह—

जे निआगं ममायंति कीयमुद्देसियाहडं ।

वहं ते समणुजाणंति इअ वुत्तं महेसिणा ॥ ४९ ॥

छा० ये नियागं (नियोगिकं) ममायन्ति, क्रीतमौद्देशिकाऽऽहतम् ।

वधं ते समनुजानन्ति, इत्युक्तं महर्षिणा ॥ ४९ ॥

‘जे निआगं’—ये द्रव्यसाधवः ‘नियागं’ति—नित्यमान्त्रितं पिण्डं ममायन्ति—गृह्णन्ति, तथा ‘क्रीत-
मौद्देशिकाहतम्’, वधं—स्थावरादिघातं ते द्रव्यसाध्वादयः समनुजानन्ति अनुमोदनेन इत्युक्तं वर्द्धमानेन ॥ ४९ ॥

तम्हा असणपाणाइं कीयमुद्देसियाहडं ।

वज्जयंति ठिअप्पाणो निरगंथा धम्मजीविणो ॥ ५० ॥

छा० तस्मादशनपानादि, क्रीतमौद्देशिकाऽऽहतम् ।

वर्जयन्ति स्थितात्मानः, निर्यन्था धर्मजीविनः ॥ ५० ॥

‘तम्हा’—तस्मादशनपानादि क्रीतमौद्देशिकमाहतं वर्जयन्ति स्थितात्मानः—महासत्त्वाः, निर्यन्थाः,
धर्मजीविनः—संयमैकजीविनः ॥ ५० ॥ इदानीं चतुर्दशस्थानमाह—

दशवे०
॥ १८६ ॥

अध्य० ६

॥ १८६ ॥

कंसेसु कंसपाणसु कुण्डमोएसु वा पुणो ।

भुजंतो असणपाणाइ आयारा परिभस्सइ ॥ ५१ ॥

छा० कांस्येषु कांस्यपात्रेषु, कुण्डमोदेषु वा पुनः ।

भुञ्जानोऽशनपानादि, आचारात्परिभ्रश्यति ॥ ५१ ॥

अध्या० ६

‘कंसेसु०’—कंसेषु—कचोलकादिषु, कांस्यपात्रेषु—स्थालादिषु, कुण्डमोदेषु—हस्तिपादाकारेषु मृण्मयादिषु भाजनेषु, भुञ्जानोऽशनपानादि तदन्यदोपरहितमपि—आचाराच्छ्रमणसम्बन्धिनः परिभ्रश्यति ॥ ५१ ॥ कथमित्याह—

सीभोदकसमारंभे मत्तधोअणछहुणे ।

जाइं छण्णति भूआइं दिट्ठो तत्थ असंजमो ॥ ५२ ॥

छा० शीतोदकसमारम्भे, मात्रकधावनछर्दने ।

यानि क्षण्वन्ति भूतानि, दृष्टस्तत्राऽसंयमः ॥ ५२ ॥

‘सीभोदक०’—अनन्तरोक्तभाजनेषु श्रमणा मोक्षयन्ते, भुक्तं वैतैरिति, शीतोदकेन धावनं कुर्वन्ति, तदा शीतोदकसमारम्भे, तथा मात्रकधावनोञ्जने यानि क्षण्यन्ते—हिंस्यन्ते भूतानि—अपकायादीनि, दृष्टस्तत्र—गृहिभाजन-भोजने असंयमः केवलज्ञानभास्वता ॥ ५२ ॥

॥ १८७ ॥

१ ‘कांस्येषु’ इति शुद्धपदेन भाव्यम् । २ क्षिप्यन्ते इति वा ।

वराह०
॥ १८८ ॥

पच्छाकम्मं पुरेकम्मं सिआ तत्थ न कप्पइ ।
एअसद्वं न भुंजंति निग्गंथा गिहिमायणे ॥ ५३ ॥
छा० पश्चात्कर्म पुरःकर्म, स्यात्तत्र न कल्पते ।
एतदर्थं न भुञ्जते, निर्ग्रन्था गृहिभाजने ॥ ५३ ॥

‘पच्छाकम्मं०’—पश्चात्कर्म पुरःकर्म स्यात्तत्र गृहिभाजनभोजने, एतच्च न कल्पते साधूनाम्, एतदर्थं पश्चात्-
कर्म(र्मादि)परिहारार्थं न भुञ्जते निर्ग्रन्था गृहिभाजने ॥ ५३ ॥ अथ पञ्चदशस्थानमाह—

आसंदी पलिअं मच्चमासालएसु वा ।
अणायरिअमज्जाणं आसइत्तु सइत्तु वा ॥ ५४ ॥
छा० आसन्दी-पर्यङ्कयोः, मच्चाऽऽशालकयोर्वा ।
अनाचरितमार्याणाम्, आसितुं शयितुं वा ॥ ५४ ॥

‘आसंदी०’—आसन्दीपर्यङ्कयोः—आसन्दी—आसनविशेषः, पर्यङ्कः—पल्यङ्कः, तयोः, मच्चाऽऽशालकयोश्च—
मच्चः प्रतीतः, आशालकस्तु—अवष्टम्भसमन्वित आसनविशेषः, एतयोरेनाचरितमार्याणां—साधूनामासितुम्—उपवेशुं,
स्वप्नुं वा—निद्रातिवाहनं वा कर्तुम् ॥ ५४ ॥ अत्रैव अपवादमाह—

अध्य० ६

॥ १८८ ॥

नासंदी पलिअंकेसु न निसिज्जा न पीढए ।

निग्गंथा पडिलेहाए बुद्धवुत्तमहिट्ठगा ॥ ५५ ॥

छा० नासन्दीपर्यङ्कयोः, न निपद्यायां न पीठके ।

निर्ग्रन्था अप्रतिलेख्या(ख्य), बुद्धोक्तमधिष्ठातारः ॥ ५५ ॥

‘नासंदी०’—नासन्दीपर्यङ्कयोर्न निपद्यायां—गदिकायां न पीठके वेत्रमयादी निर्ग्रन्था अप्रत्युपेक्ष्य चक्षुरा-
दिना, न निषदनादि कुर्वन्तीति वाक्यशेषः, बुद्धोक्तमधिष्ठातारः—तीर्थकरोक्ताऽनुष्ठानपराः ॥ ५५ ॥ अत्रैव
दोषमाह—

गंभीरविजया एए पाणा दुप्पडिलेहगा ।

आसंदी पलिअंको अ एयमट्ठं विवज्जिआ ॥ ५६ ॥

छा० गम्भीरविजया एते, प्राणिनो(पाणा) दुप्प्रतिलेख्याः ।

आसन्दीपर्यङ्कश्च, एतदर्थं विवर्जिताः ॥ ५६ ॥

‘गंभीर०’—गम्भीरविजया इति गम्भीरमप्रकाशं, विजयः—आश्रयः, अप्रकाशाश्रयाः, एते प्राणिनामा-
सन्त्यादयः, एवं च प्राणिनो दुप्प्रतिप्रे(त्युपे)क्षणीया एतेषु भवन्ति, पीड्यन्ते चैतदुपवेशनादिना, आसन्दः पर्यङ्कश्च,
‘च’—शब्दान्मन्त्रादयश्च एतदर्थं विवर्जिताः साधुभिः ॥ ५६ ॥ अथ षोडशस्थानमाह—

पच्छाकम्मं पुरेकम्मं सिआ तत्थ न कप्पइ ।

एअमडुं न भुंजंति निग्गंथा गिहिभायणे ॥ ५३ ॥

छा० पश्चात्कर्म पुरःकर्म, स्यात्तत्र न कल्पते ।

एतदर्थं न भुञ्जते, निर्ग्रन्था गृहिभाजने ॥ ५३ ॥

‘पच्छाकम्मं०’—पश्चात्कर्म पुरःकर्म स्यात्तत्र गृहिभाजनभोजने, एतच्च न कल्पते साधूनाम्, एतदर्थं पश्चात्कर्म(मोदि)परिहारार्थं न भुञ्जते निर्ग्रन्था गृहिभाजने ॥ ५३ ॥ अथ पञ्चदशस्थानमाह—

आसंदी पलिअं मच्चमासालएसु वा ।

अणायरिअमज्जाणं आसइत्तु सइत्तु वा ॥ ५४ ॥

छा० आसन्दी-पर्यङ्कयोः, मञ्चाऽऽशालकयोर्वा ।

अनाचरितमार्याणाम्, आसितुं शयितुं वा ॥ ५४ ॥

‘आसंदी०’—आसन्दीपर्यङ्कयोः—आसन्दी—आसनविशेषः, पर्यङ्कः—पल्यङ्कः, तयोः, मञ्चाऽऽशालकयोश्च—मघः प्रतीतः, आशालकस्तु—अवटम्भसमान्वित आसनविशेषः, एतयोरनाचरितमार्याणां—साधूनामासितुम्—उपवेष्टुं, स्वप्नुं वा—निद्रातिवाहनं वा कर्तुम् ॥ ५४ ॥ अत्रैव अपवादमाह—

अगुत्ती बंभचेरस्स इत्थीओ वा वि संकणं ।

कुशीलवड्डुणं ठाणं दूरओ परिवज्जे ॥ ५९ ॥

छा० अगुत्तिर्वह्यचर्यस्य, स्त्रीतो वाऽपि शङ्कनम् ।
कुशीलवर्धनं स्थानं, दूरतः परिवर्जयेत् ॥ ५९ ॥

अध्य० ६

‘अगुत्ती०’—अगुत्तिर्वह्यचर्यस्य, तदिन्द्रियायबलोकनेन, स्त्रीतश्चाऽपि शङ्का स्यात्, तदुत्कुललोचनदर्शना-
दिनाऽनुभूतगुणायाः, (उक्तप्रकारेण) कुशीलवर्धनं स्थानं दूरतः परिवर्जयेत् ॥ ५९ ॥ सूत्रेणैव अपवादमाह—

तिण्हमण्णयरागस्स निसिज्जा जस्स कप्पइ ।

जराए अभिभूअस्स वाहिअस्स तवस्सिणो ॥ ६० ॥

छा० त्रयाणामन्यतमस्य(तरस्य), निषद्या यस्य कल्पते ।

जरसाऽभिभूतस्य, व्याधितस्य तपस्विनः ॥ ६० ॥

‘तिण्ह०’—त्रयाणां वक्ष्यमाणलक्षणानामन्यतरस्यैकस्य निषद्या गोचराग्रपविष्टस्य यस्य कल्पते, तस्य
तदाऽऽसेवने न दोष इति शेषः, कस्य कल्पत इत्याह—जरसाऽभिभूतस्य—अत्यन्तवृद्धस्य, व्याधितः—अत्यन्तमशक्तस्य,
तपस्विनः—विकृष्टक्षपकस्य, एते भिक्षाऽयं न कार्यन्त एव, (ततः) आत्मलब्धिकानामिदं सूत्रम् ॥ ६० ॥ इदानीं
सप्तदशस्थानमाह—

॥ १९१ ॥

गोअरगगविद्वस्स निसिज्जा जस्स कप्पह ।
इमेरिसमणायारं आवज्जइ अबोहिअं ॥ ५७ ॥
छा० गोचराग्रप्रविष्टस्य, निपद्या यस्य कल्पते ।
ईदृशमनाचारम्, आपद्यतेऽबोधिकम् ॥ ५७ ॥

अध्य० ६,

‘गोअरगग०’—गोचराग्रप्रविष्टस्य [प्रथमार्थे पक्षी] निपद्या यस्य कल्पते—करोति स एवमीदृशं वक्ष्यमाण-
लक्षणमनाचारमापद्यते—प्रान्नोति अबोधिकं—मिथ्यात्वफलम् ॥ ५७ ॥ अनाचारमाह—

विवत्ती वंभचेरस्स पाणाणं च वहे वहो ।
वणीमगपडीघाओ पडिकोहो अगारिणं ॥ ५८ ॥
छा० विपत्तिर्ब्रह्मचर्यस्य, प्राणिनां च वधे वधः ।
वनीपकप्रतीघातः, प्रतिक्रोधोऽगारिणाम् ॥ ५८ ॥

‘विवत्ती०’—विपत्तिर्ब्रह्मचर्यस्य—आज्ञाखण्डनादोषतः साधुसमाचारस्य, प्राणिनां च वधे वधो भवति,
तथासम्बन्धादायाकर्मादिकरणेन, वनीपकप्रतीघातः, तदाक्षेपेणाऽदित्ताऽभिधानादिना, प्रतिक्रोधश्चाऽगारिणां तत्स्वजनानां
(च) स्यात् तथाक्षेपदर्शनादिना ॥ ५८ ॥

॥ १९० ॥

तम्हा ते ण सिणायंति सिएण उसिणेण वा ।

यावज्जीवं वयं घोरं असिणाणमहिट्टगा ॥ ६३ ॥

छा० तस्मात्ते न स्नान्ति, शीतेनोष्णेन वा ।

यावज्जीवं व्रतं घोरम्, अस्नानमधिष्ठातारः ॥ ६३ ॥

‘तम्हा०’—तस्मात्ते साधवो न स्नान्ति शीतेनोष्णेन बोदकेन यावज्जीवम्—आजन्मव्रतं घोरमस्नानमाश्रित्याधिष्ठातारः—अस्यैव कर्तारः ॥ ६३ ॥ किञ्च—

सिणाणं अदुवा कक्कं लुद्धं पउमगाणि अ ।

गायस्सुव्वहणट्ठाए नायरंति कयाइ वि ॥ ६४ ॥

छा० स्नानमथवा कल्कं, लोभं पद्मकानि च ।

गात्रस्योद्धर्तनार्थं, नाचरन्ति कदाचिदपि ॥ ६४ ॥

‘सिणाणं०’—स्नानमथवा कल्कं—चन्दनकल्कादि, लोभं—गन्धद्रव्यं, पद्मकानि च—कुङ्कुमकेसराणि, ‘च’—शान्दादन्यथैवंविधं गात्रस्योद्धर्तनार्थम्—उद्धर्तननिमित्तं नाचरन्ति कदाचिदपि ॥ ६४ ॥ साम्प्रतमष्टादशस्थानमाह—
‘शोभायां नास्ति दोषोऽलङ्कृतश्चाऽपि चरेद्धर्मम्’ इत्यादि प्रकीर्णवचनात्, (इति) पराभिप्रायमाशङ्क्याऽऽह—

वाहिओ वा अरोगी वा सिणाणं जो उ पत्थए ।
बुक्कंतो होइ आचारो जढो हवइ संजमो ॥ ६१ ॥

छा० व्याधितो वा, अरोगी वा, स्नानं यस्तु प्रार्थयते ।
व्युत्क्रान्तो भवत्याचारः, त्यक्तो(जढो) भवति संयमः ॥ ६१ ॥

‘वाहिओ०’—व्याधिमान्—व्याधिग्रस्तः, अरोगी वा, स्नानं यस्तु प्रार्थयते—सेवत इत्यर्थः, तेन व्युत्क्रान्तो भवत्याचारो बाह्यतपोरूपः, अस्नानपरीषदाऽनतिसहनात्, जढः—परित्यक्तो भवति संयमः ॥ ६१ ॥ प्रासुकोदकस्नानेन कथं संयमत्यागः ? इत्याह—

संतिमे सुहुमा पाणा घसासु भिलुगासु अ ।
जे अ भिक्खू सिणाअंतो वियडेणुप्पलावए ॥ ६२ ॥

छा० सन्तीमे सूक्ष्माः प्राणाः(प्राणिनः), घसासु भिलुकासु च ।
यौश्च भिक्षुः स्नान्, विकटेनोत्प्लावयति ॥ ६२ ॥

‘संतिमे०’—सन्ति एते प्रत्यक्षोपलभ्यमानस्वरूपाः सूक्ष्माः प्राणाः घसासु—सुषिरभूमिषु, भिलुगासु च—तथा-विधभूमिराजीषु च, यांस्तु भिक्षुः स्नान् विकटेन—प्रासुकोदकेन (विकृतेन वा) उत्प्लावयति ॥ ६२ ॥ निगमयन्नाह—

वृशचि०
॥ १९३ ॥

तम्हा ते ण सिणायंति सीएण उसिणेण वा ।

यावज्जीवं वयं घोरं असिणाणमहिट्ठगा ॥ ६३ ॥

छा० तस्मात्ते न स्नान्ति, शीतेनोष्णेन वा ।

यावज्जीवं व्रतं घोरम्, अस्नानमधिष्ठातारः ॥ ६३ ॥

‘तम्हा०’—तस्मात्ते साधवो न स्नान्ति शीतेनोष्णेन वोदकेन यावज्जीवम्—आजन्मव्रतं घोरमस्नानमाश्रित्याधिष्ठातारः—अस्यैव कर्तारः ॥ ६३ ॥ किञ्च—

सिणाणं अदुवा कक्कं लुद्धं पडमगाणि अ ।

गायस्सुव्वट्ठणट्ठाए नायरंति कयाइ वि ॥ ६४ ॥

छा० स्नानमथवा कल्कं, लोधं पद्मकानि च ।

गात्रस्योद्धर्तनार्थं, नाचरन्ति कदाचिदपि ॥ ६४ ॥

‘सिणाणं०’—स्नानमथवा कल्कं—चन्दनकल्कादि, लोधं—गन्धद्रव्यं, पद्मकानि च—कुङ्कुमकेसराणि, ‘च’—शब्दादन्यच्चैवंविधं गात्रस्योद्धर्तनार्थम्—उद्धर्तनानिमित्तं नाचरन्ति कदाचिदपि ॥ ६४ ॥ साम्प्रतमष्टादशस्थानमाह—
‘शोभायां नास्ति दोषोऽलङ्कृतश्चाऽपि चरेद्धर्मम्’ इत्यादि प्रकीर्णवचनात्, (इति) पराभिप्रायमाशङ्क्याऽऽह—

वृशचि०—१७

अध्या० ६

॥ १९३ ॥

नगिणस्स वा वि मुण्डस्स दीहरोमनहंसिणो ।

मेहुणा उवसंतस्स किं विभूसाइ कारिअं ? ॥ ६५ ॥

छा० नग्नस्य वाऽपि मुण्डस्य, दीर्घरोमनखिनः(नखवतः) ।

मैथुनादुपशान्तस्य, किं विभूषया कार्यम् ॥ ६५ ॥

‘नगिणस्स०’-नग्नस्याऽपि-नग्नः-जिनकल्पी, उपचारात्प्रमाणवासा अपि कुचेलत्वान्नग्नः, जिनकल्पिकस्य वा, मुण्डस्य द्रव्यभावाभ्यां, दीर्घरोमनखवतः-रोमाणि कक्षादिषु, दीर्घनखवतो (हस्ताऽऽदौ) जिनकल्पिकस्य, इतरस्य तु प्रमाणयुक्ता एव नखा भवन्ति, मैथुनादुपशान्तस्य-उपरतस्य, किं विभूषया-राढ्या कार्यम् ? न किञ्चिदिति ॥ ६५ ॥ प्रयोजनाभावमभिधायाऽप्यायमाह—

विभूसावत्तिअं भिक्खू कम्मं बंधइ चिक्कणं ।

संसारसायरे घोरे जेणं पडइ दुरुत्तरे ॥ ६६ ॥

छा० विभूषावृत्तिकं भिक्षुः, कर्म बध्नाति चिक्कणम् ।

संसारसागरे घोरे येन पतति दुरुत्तरे ॥ ६६ ॥

‘विभूसा०’-विभूषाप्रत्ययं-विभूषानिमित्तं भिक्षुः कर्म बध्नाति चिक्कणं-दारुणम्, संसारसागरे घोरे

येन कारणेन पतति दुरुत्तरे—अकुशलानुबन्धतोऽन्यन्तदीर्घे इति ॥ ६६ ॥ इत्थं बाह्यविभूषाऽपायमुक्त्वा प्रकल्पविभू-
षाऽपायमाह—

वर्षादं
॥ १९५ ॥

विभूसावत्तिअं चेअं बुद्धा मण्णांति तारिसं ।

सावज्जबहुलं चेअं नेअं ताईहिं सेविअं ॥ ६७ ॥

छा० विभूषावृत्तिकं चेतत्, बुद्धा मन्यन्ते तादृशम् ।

सावद्यबहुलं चेतत्, नैतत्त्रायिभिः सेवितम् ॥ ६७ ॥

‘विभूसावत्तिअं०’—विभूषाप्रत्ययवतः—एवं चैवं च यदि मम विभूषा सम्पद्यत इति, तत्प्रवृत्त्यङ्गं चित्त-
मित्यर्थः, बुद्धास्तीर्थकरा मन्यन्ते तादृशं—रौद्रकर्मबन्धहेतुभूतं विभूषाक्रियासदृशं सावद्यबहुलं चेतद् आर्तध्यानानुगतं
चेतः, नैतदित्यम्भूतं त्रातृभिः सेवितमाचरितम् ॥ ६७ ॥ फलप्रदर्शनेन उपसंहरन्नाह—

खवंति अप्पाणममोहदंसिणो ।

तवे रपा संजम-अज्जवे गुणे ॥

धुणांति पावाइं पुरेकडाइं ।

नवाइं पावाइं न ते करिंति ॥ ६८ ॥

छा० क्षपयन्त्यात्मानममोहदर्शिनः ।

तपसि रताः संमयाऽऽर्जवे गुणे ॥

अध्य० ६

॥ १९५ ॥

नगिणस्स वा वि मुण्डस्स दीहरोमनहंसिणो ।
मेहुणा उवसंतस्स किं विभूसाइ कारिअं ? ॥ ६५ ॥

छा० नग्नस्य वाऽपि मुण्डस्य, दीर्घरोमनखिनः(नखवतः) ।
मैथुनादुपशान्तस्य, किं विभूषया कार्यम् ॥ ६५ ॥

‘नगिणस्स०’—नग्नस्याऽपि—नग्नः—जिनकल्पी, उपचारात्प्रमाणवासा अपि कुचेलत्वान्नग्नः, जिनकल्पिकस्य
वा, मुण्डस्य द्रव्यमावाभ्यां, दीर्घरोमनखवतः—रोमाणि कक्षादिषु, दीर्घनखवतो (हस्ताऽऽदौ) जिनकल्पिकस्य,
इतरस्य तु प्रमाणयुक्ता एव नखा भवन्ति, मैथुनादुपशान्तस्य—उपरतस्य, किं विभूषया—राढ्या कार्यम् ? न
किञ्चिदिति ॥ ६५ ॥ प्रयोजनाभावमभिधायाऽपाद्यमाह—

विभूसावत्तिअं भिक्खु कम्मं बंधइ चिक्कणं ।
संसारसागरे घोरे जेणं पडइ दुरुत्तरे ॥ ६६ ॥

छा० विभूषावृत्तिकं भिक्षुः, कर्म बध्नाति चिक्कणम् ।
संसारसागरे घोरे येन पतति दुरुत्तरे ॥ ६६ ॥

‘विभूसा०’—विभूषापत्ययं—विभूषानिमित्तं भिक्षुः कर्म बध्नाति चिक्कणं—दारुणम्, संसारसागरे घोरे

येन कारणेन पतति दुरुत्तरे—अकुशलानुबन्धतोऽत्यन्तदीर्घे इति ॥ ६६ ॥ इत्थं बाह्यविभूषाऽप्रायमुक्त्वा प्रकल्पविभूषाऽप्रायमाह—

वृशवे०
॥ १९५ ॥

विभूसावत्तिअं चेअं बुद्धा मण्णांति तारिसं ।

सावज्जबहुलं चेअं नेअं ताईहिं सेविअं ॥ ६७ ॥

छा० विभूषावृत्तिकं चेतत्, बुद्धा मन्यन्ते तादृशम् ।

सावद्यबहुलं चेतत्, नैतत्त्रायिभिः सेवितम् ॥ ६७ ॥

‘विभूसावत्तिअं०’—विभूषाप्रत्ययवतः—एवं चैवं च यदि मम विभूषा सम्पद्यत इति, तत्प्रवृत्त्यङ्गं चित्तमित्यर्थः, बुद्धास्तीर्थकरा मन्यन्ते तादृशं—रौद्रकर्मबन्धहेतुभूतं विभूषाक्रियासदृशं सावद्यबहुलं चेतद् आर्तध्यानानुगतं चेतः, नैतदित्यम्भूतं त्रानुभिः सेवितमाचरितम् ॥ ६७ ॥ फलप्रदर्शनेन उपसंहरन्नाह—

खवंति अप्पाणममोहदंसिणो ।

तवे रया संजम-अज्जवे गुणे ॥

धुणांति पावाइं पुरेकडाइं ।

नवाइं पावाइं न ते करिंति ॥ ६८ ॥

छा० क्षययन्त्यात्मानममोहदर्शिनः ।

तपसि रताः संमयाऽऽर्जवे गुणे ॥

अध्य० ६

॥ १९५ ॥

धुन्वन्ति पापानि पुराकृतानि ।

नवानि पापानि न ते कुर्वन्ति ॥ ६८ ॥

‘खवंति०’—क्षयन्त्यात्मानम् अमोहदर्शिनः—यथावस्थितार्थदर्शिनः, तपसि रताः, किंविशिष्टे तपसि ? संयमार्जवे गुणौ यस्य तपसस्तस्मिन् [प्राकृतत्वादेकारः,] धुन्वन्ति—कम्पयन्ति पापानि पुराकृतानि, (नवानि)पापानि न ते साधवः कुर्वन्ति ॥ ६८ ॥

सओवसंता अममा अकिंचणा ।

सविज्जविज्जाणुगया जसंसिणो ॥

उउप्पसण्णे विमले व चंदिमा ।

सिद्धिं विमाणाहं उर्वन्ति ताइणो ॥ ६९ ॥ त्ति वेमि ।

छा० सदोपशान्ता अममा अकिञ्चनाः ।

स्वविद्या—विद्याऽनुगता यशस्विनः ॥

ऋतुप्रसन्ने विमलो व चन्द्रमाः ।

सिद्धिं विमानान्युपयान्ति त्रायिणः ॥ ६९ ॥ इति ब्रवीमि ।

वशवे०
॥ १९७ ॥

‘सओवसंता०’-सदोपशान्ताः-नित्यं क्रोधरहिताः, अममाः-ममत्वशून्याः, अकिञ्चनाः-स्वर्णमिथ्यात्वा-
दिद्रव्यभावकिञ्चनमुक्ताः, स्वा-आत्मीया विद्या स्वविद्या-परलोकोपकारिणी, केवलश्रुतरूपा, तथा स्वविद्यया विद्यानु-
मताः-युक्ताः, न पुनः परविद्यया-इहलोकोपकारिण्येति, यशस्विनः(ते), ऋतौ प्रसन्ने शरत्कालादौ विमल इव
चन्द्रमाः-चन्द्रमा इव विमलाः, इत्येवंकल्पास्ते भावमलरहिताः सिद्धि-निर्वृति(वा) सावशेषकर्माणो विमानानि
सौधर्मावतंसकादीनि व्रजन्ति त्रातारः-साधवः । ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥ ६९ ॥ इति धर्मार्थकामाध्ययनस्य महाचारस्य
वा अचूर्णिः ।

अध्य० ६

॥ धम्मत्थकामज्झयणं छट्ठं ॥

॥ इति धर्मार्थकामाध्ययनं पष्ठम् ॥



॥ १९७ ॥

॥ अथ सप्तमाध्ययनम् ॥



वसति०
॥ १९८ ॥

महाऽऽचारकथायाम् आलयगतेनैव स्वाऽऽचारो वाच्य इत्युक्तम् । इह त्वालयगतेनाऽपि गुरुणा साधुना वा वचनदोषगुणाऽभिज्ञेन निरवयवचसा कथयितव्य इत्येतदुच्यते । उक्तञ्च—

“सावज्जणवज्जाणं वयणाणं जो ण जाणइ विसेसं ।

वोत्तुं पि तस्स न खमं, किमंग ! पुण देसणं काउं ? ” ॥ १ ॥

इत्यनेन सम्बन्धेनाऽऽयातमिदमध्ययनम्, तथा च—

चउण्हं खलु भासाणं परिसंखाय पण्णवं ।

दुण्हं तु विणयं सिक्खं दो न भासिज्ज सव्वसो ॥ १ ॥

छा० चतसृणां सल्लु भापाणां, परिसंख्याय प्रज्ञावान् ।

द्वाभ्यां तु विनयं शिक्षेत, द्वे न भापेत सर्वशः ॥ १ ॥

‘चउण्हं०’—चतसृणा ‘खलु’—शब्दोऽवधारणे, भापाणां परिसंख्याय—सर्वैः प्रकारैर्ज्ञात्वा स्वरूपमिति शेषः, प्रज्ञावान् द्वाभ्यामेव सत्याऽसत्यामृषाभ्याम्, तुरवधारणे, विनयं—धुद्धप्रयोगं शिक्षेत—जानीयात्, द्वे असत्यसत्यामृषे न भापेत, सर्वशः—सर्वैः प्रकारैरिति ॥ १ ॥ विनयमेवाऽऽह—

अध्य० ७

॥ १९८ ॥

दशवि०
॥ १९९ ॥

जा य सच्चा अवक्तव्या सच्चामोसा य जा मुसा ।

जा य बुद्धेहिं णाइण्णा न तं भासिज्ज पण्णवं ॥ २ ॥

छा० या च सत्याऽवक्तव्या, सत्यामृषा च या मृषा ।

या च बुद्धैरनाचीर्णा, न तां भाषेत प्रज्ञावान् ॥ २ ॥

‘जा य०’—या च सत्या पदार्थतत्त्वमङ्गीकृत्याऽवक्तव्या साऽव्यवहारेण, अमुत्र स्थिता पल्लीति कौशिक-
भाषावत्, सत्यामृषा वा—यथा—दश दारका जाताः, इत्येवंलक्षणा, मृषा च सम्पूर्णेव, ‘च’-शब्दस्य व्यवहितः सम्बन्धः,
या च बुद्धैस्तीर्थकरादिगिरिनाचरिता, असत्यामृषा—आमन्त्रणी—आज्ञापन्यादिलक्षणा, अविधिपूर्वकं स्वरादिना
प्रकारेण नैना भाषेत प्रज्ञावान् ॥ २ ॥ उक्ताऽवाच्या, अथ वाच्यमाह—

असच्चमोसं सच्चं च अणवज्जमककसं ।

समुप्पेहमसंदिद्धं गिरं भासिज्ज पण्णवं ॥ ३ ॥

छा० असत्यामृषां सत्यां च, अनवद्यामकर्कशाम् ।

समुत्प्रेक्ष्याऽसन्दिग्धां, गिरं भाषेत प्रज्ञावान् ॥ ३ ॥

‘असच्चमोसं०’—असत्यामृषा, सत्या वक्तृलक्षणाम्, इयं साऽवद्या कर्कशाऽपि भवत्यत आह—‘असाऽ-
वद्यामपापामकर्कशाम्’—अतिशयोक्त्या ह्यमत्सरपूर्वा, सम्प्रेक्ष्य—स्वारोपकारिणीमिति बुद्ध्याऽऽलोच्य, असन्दिग्धां—
स्पष्टा गिरं—वाच भाषेत प्रज्ञावान् ॥ ३ ॥ अथ सत्यासत्यामृषाप्रतिषेधार्थमाह—

अध्य० ७

॥ १९९ ॥

एअं च अट्टमणं वा जं तु णामेइ सासयं ।
स भासं सच्चमोसं पि तं पि धीरो विवज्जए ॥ ४ ॥

छा० एतं चार्थमन्यं वा, यस्तु नमयति शाश्वतम् ।
स भाषां सत्यामृषामपि, तामपि धीरो विवर्जयेत् ॥ ४ ॥

‘एअं च०’—एतं चाऽर्थमनन्तरप्रतिषिद्धं साऽवयवं सकर्कशमन्यं वैतज्जातीयं यं [प्राकृतशैल्या] यस्तु नमयति शाश्वतम्, य एव कश्चिदर्थो नमयति—अननुगुणं करोति शाश्वतं—मोक्षम्, तमाश्रित्य स साधुर्भाषां सत्या-मृषामपि, अपिशब्दात्सत्याऽपि या तथाभूता तामपि धीरो विवर्जयेत् । आह—सत्यामृषाया ओघत एव प्रतिषेधात् तथाभूतसत्यायाश्च साऽवयवत्वेन गताऽर्थं सूत्रमिति ? उच्यते—‘मोक्षपीडाकरं सूक्ष्ममप्यर्थमङ्गीकृत्य—अन्यतरभाषाया अपि भाषणं न कर्तव्यमित्यतिशयप्रदर्शनपरमेतदवुष्टमेव ॥ ४ ॥ साम्प्रतं मृषामापासंरक्षणाऽर्थमाह—

वितहं पि तहामुत्तिं जं गिरं भासए नरो ।
तम्हा सो पुट्ठो पावेण किं पुणं जो मुसं वए ॥ ५ ॥

छा० वितथामपि तथामूर्तिं, यां गिरं भाषते नरः ।
तस्मात्स पृष्टः पापेन, किं पुनर्यो मृषां वदेत्(वक्ति) ॥ ५ ॥

‘वितहं पि०’—वितथम्—अतध्यम्, तथामूर्त्यपि कथञ्चित् तत्स्वरूपमपि वस्तु, अपिर्भिन्नक्रमे, एतदुक्तं स्यात्—

पुरुषनेपथ्यास्थितवनिताद्यपि—अङ्गीकृत्य यां गिरं भाषते नरः—‘ इयं स्त्री—आगच्छति गायति वेत्यादिरूपाम्’, तस्माद् भाषणात्पूर्वमेवाऽसौ वक्ता स्पृष्टः पापेन, किं पुनर्यो मृषां वक्ति ? ॥ ५ ॥

अध्या० ७.

वृशवि०
॥ २०१ ॥

तम्हा गच्छामो वक्खामो अमुगं वा णे भविस्सइ ।

अहं वा णं करिस्सामि एसो वा णं करिस्सइ ॥ ६ ॥

छा० तस्माद्गमिष्यामो वक्ष्यामः, अमुकं वा नो भविष्यति ।

अहं वा करिष्यामि, एष वा करिष्यति ॥ ६ ॥

‘तम्हा०’—यस्माद् वितथं तथाभूत्यपि वस्त्वङ्गीकृत्य भाषमाणो बध्यते, तस्माद् गमिष्याम एव श्व इतोऽन्यत्र, वक्ष्याम एव श्वस्तत्र तदौषधीनिमित्तमिति, अमुकं वा नोऽस्माक वसत्यादिकं भविष्यत्येव, अहं चेदं लोचाऽदि करिष्यामि नियमेन, एष वा साधुरस्माकं विश्रमणादि करिष्यत्येव ॥ ६ ॥

एवमाइ उ जा भासा एसकालम्मि संकिआ ।

संपयार्इअमट्ठे वा तं पि धीरो विवज्जए ॥ ७ ॥

छा० एवमाद्या तु या भाषा, एष्यत्काले शङ्किता ।

साम्प्रताऽतीतार्थयोः, तामपि धीरो विवर्जयेत् ॥ ७ ॥

॥ २०१ ॥

‘एवमाइ०’—एवमाद्या तु या भाषा एष्यत्काले—भविष्यत्काले शङ्किता बहुविघ्नत्वान्मुहूर्ताऽऽवनिम्, तथा

साम्प्रताऽतीताऽर्थयोरपि या शङ्किता तामपि धीरो विवर्जयेत्, तत्तथाभावनिश्चयाऽभावेन व्यभिचारतो मृषात्वोपपत्तेः,
विघ्नतोऽगमनादौ गृहस्थमध्ये लाघवाऽऽदिप्रसङ्गात् सर्वमेव साऽवसरं वक्तव्यम् ॥ ७ ॥

वराधि०
॥ १०१ ॥

अध्य० ७

अईअंमि अ कालंमि पच्चुप्पणमणागए ।

जमट्ठं तु न जाणिज्जा एवमेअं ति णो वए ॥ ८ ॥

छा० अतीते च काले, प्रत्युत्पन्नेऽनागते ।

यमर्थं तु न जानीयात्, एवमेतदिति नो वदेत् ॥ ८ ॥

‘अईअंमि०’—अतीते च काले तथा प्रत्युत्पन्ने—वर्तमानेऽनागते च काले यमर्थन्तु न जानीयात्—तमङ्गी-
कृत्येवमेतदिति नो वदेत् ॥ ८ ॥

अईअंमि अ कालंमि पच्चुप्पणमणागए ।

जत्थ संका भवे तं तु एवमेअं ति णो वए ॥ ९ ॥

छा० अतीते च काले, प्रत्युत्पन्नेऽनागते ।

यत्र शङ्का भवेत्तत्तु, एवमेतदिति नो वदेत् ॥ ९ ॥

‘अईअंमि०’—यत्राऽर्थे शङ्का भवेत्, तमर्थमाश्रित्य, ‘तु’ अप्यर्थः (न ब्रूयात्) ॥ ९ ॥

॥ १०१ ॥

अईअंमि अ कालंमि पच्चुप्पणमणागए ।

णिस्संकिअं भवे जं तु एवमेअं ति णिद्दिसे ॥ १० ॥

छा० अतीते च काले प्रत्युत्पन्नेऽनागते ।

निश्शङ्कितं भवेद्यत्तु, एवमेतदिति निर्दिशेत् ॥ १० ॥

‘अर्द्धमि०’—यदर्थजातं निश्शङ्कितं भवेत्, ‘तु’—शब्दादनवयं भवेत्, तदेवमेतदिति निर्दिशेत् ॥ १० ॥

अध्य०, ७

तद्देव परुषा भासा गुरुभूओवघाट्णी ।

सत्त्वा वि सा न वक्तव्या जओ पावस्स आगमो ॥ ११ ॥

छा० तथैव परुषा भाषा, गुरुभूतोपघातिनी ।

सत्याऽपि सा न वक्तव्या, यतः पापस्याऽऽगमः ॥ ११ ॥

‘तद्देव०’—तथैव परुषा भाषा निष्ठुरा, गुरुभूतोपघातिनी—महामूतोपघातिनी सत्याऽपि सा न वक्तव्या,

यतः—यस्या भाषायाः सकाशात् पापस्याऽऽगमो भवति ॥ ११ ॥

तद्देव काणं काणत्ति पंडगं पंडगत्ति वा ।

वाहिअं वा वि रोगित्ति तेणं चोरत्ति णो वए ॥ १२ ॥

छा० तथैव काणं काण इति, पण्डकं पण्डक इति वा ।

व्याधितं वाऽपि रोगीति, स्तेनं चौर इति नो वदेत् ॥ १२ ॥

‘तद्देव०’—तथैव ‘काणं’ति—भिन्नाऽक्षं काण इति, पण्डकं—नपुंसकं पण्डक इति वा, व्याधिमन्तं वा

रोगीति, स्तेनं—चौरं चौर इति नो वदेत्, अश्लीलज्ज्ञानाश्रयिरोगबुद्धिविराधनादिदोषप्रसङ्गात् ॥ १२ ॥

॥ २०३ ॥

एएणण्णेण अट्टेण परो जेणुवहम्मइ ।

आचारभावदोसण्णू न तं भासिज्ज पण्णवं ॥ १३ ॥

छा० एतेनाऽन्येनार्थेन, परो येनोपहन्यते ।

आचारभावदोषज्ञः, न तं भाषेत प्रज्ञावान् ॥ १३ ॥

‘एएण०’—एतेनाऽन्येन वाऽर्थेनोक्तेन सता परो येनोपहन्यते, आचारभावदोषज्ञो यातिर्न तं भाषेत प्रज्ञावान् ॥ १३ ॥

तहेव होले गोलित्ति साणे वा वसुलित्ति अ ।

दमए दूहए वा वि न तं भासिज्ज पण्णवं ॥ १४ ॥

छा० तथैव होल गोल इति, श्वा वा वसुल इति च ।

द्रमको दुर्भगश्चापि, नैवं भाषेत प्रज्ञावान् ॥ १४ ॥

‘तहेव०’—तथैव होलः—रे मूर्ख, हानिकः । गोलः—जारजातः, देशाऽन्तररूढनैष्ठुर्यसम्बोधने होलाऽऽदि-
शब्दाः, न वाच्याः । श्वानो वा वसुल इति वा छीनालः, द्रमको दुर्भगो वाऽपि नैवं भाषेत प्रज्ञावान् ॥ १४ ॥

स्त्रीपुरुषयोः सामान्येन भाषणप्रतिषेधं कृत्वा, अथ स्त्रियमधिकृत्याऽऽह—

अज्जिए पज्जिए वा वि अम्मो माउस्सिअत्ति अ ।

पिउस्सिए भाइणिज्जित्ति धूए नत्तुणित्ति अ ॥ १५ ॥

छा० आर्यिके प्रार्यिके वाऽपि, अम्ब मातृष्वसः ! इति च ।

पितृष्वसः ! भागिनेयीति, दुहितः ! नप्तः ! इति च ॥ १५ ॥

अध्य० ७

‘अजिए०’—आर्यिके ! प्रार्यिके ! वाऽपि अम्ब ! मातृष्वसः ! इति च पितृष्वसः ! भागिनेयीति दुहितः । नप्त इति च, एतानि रुयामन्त्रणवचनानि, तत्र मातुः पितुर्वा माता—आर्यिका, तस्या अपि याऽन्या माता सा प्रार्यिका, शेषाणि प्रकटार्थानि ॥ १५ ॥

हले हलित्ति अणित्ति भट्टे सामिणि गोमिणि ।

होले गोले वसुलित्ति इत्थिअं नैवमालवे ॥ १६ ॥

छा० हले हले इति, अन्ये इति, भट्टे स्वामिनि गोमिनि ।

होले गोले वसुले इति, स्त्रियं नैवमालपेत् ॥ १६ ॥

‘हले०’—हले हले ! इत्येवम्, अन्ये ! इत्येवम्, तथा भट्टे ! स्वामिनि ! गोमिनि ! तथा होले ! गोले ! वसुले ! इत्येतान्यपि नानादेशाऽपेक्षयाऽऽमन्त्रणवचनानि गौरवकुत्साऽऽदिगर्भाणि वर्तन्ते, यतश्चैवमतः स्त्रियं नैवं होलादिशब्दैरालपेत्, दोषाश्चैवमालपनं कुर्वतः सङ्गर्हात्तत्प्रद्वेषवचनलाघवाद्दयः ॥ १६ ॥ कथं तर्ह्यलपेदित्याह—

॥ २०५ ॥

नामधिज्जेण णं बूआ इत्थीगुत्तेण वा पुणो ।

जहारिहमभिगिज्झ आलविज्ज लविज्ज वा ॥ १७ ॥

छा० नामधेयेन ब्रूयात्, स्त्रीगोत्रेण वा पुनः ।

यथार्हमभिगृह्य, आलपेल्लपेद्वा ॥ १७ ॥

हरवि०
॥ १०६ ॥

अध्य० ७

‘नामधिजेण०’—नामधेयेन ‘णं’ एवाऽर्थे नान्वैव एनां ब्रूयात्, कश्चित् कारणे यथा देवदत्ते ! इत्ये-
वमादि, नामाऽस्मरणे स्त्रीगोत्रेण वा पुनर्ब्रूयात्, यथा काश्यपगोत्रे ! इत्येवमादि, यथाऽर्हं—यथायोग्यं वयोदेशैश्वर्य-
जात्यायपेक्षया अभिगृह्य—गुणदोषानालोच्य आलपेत्, लपेद्वा, ईषत् सकृद्वा लपनमालपनम्, अतोऽन्यथा लपनम्,
वयोवृद्धा मध्यदेशे ‘ईश्वरा’ ‘धर्मप्रिया’, अन्यत्रोच्यते—‘धर्मशीला’ इत्यादिना वा, अन्यथा यथा न लोको-
तः ॥ १७ ॥ अथ पुरुषमाश्रित्याऽऽह—

अज्जए पज्जए वा वि बप्पा चुल्लपिउत्ति अ ।

माडला भाइणिज्जत्ति पुत्ते नत्तुणित्ति अ ॥ १८ ॥

छा० आर्यक प्रार्थक वाऽपि, बप्प चुल्लपितः ! इति च ।

मातुल भागिनेयेति, पुत्र नप्तः ! इति च ॥ १८ ॥

‘अज्जए०’—आर्यक ! प्रार्थक ! इत्यादि, आर्यकः—पिता, पितामहश्च, प्रार्थकश्चापि प्रपितामहः प्रमाता-
महश्च, ‘बप्पो’—पितेत्यर्थः, चुल्लपिउत्ति—चुल्लपिता इति, वा पितृव्यः, मातुल ! भागिनेय ! इति, पुत्र ! नप्तः ! इति च,
नप्ता—पौत्रः प्रपौत्रो वा ॥ १८ ॥

॥ १०६ ॥

धरावे०
॥ २०७ ॥

हे हो हलित्ति अणिणात्ति भट्टा सामिअ गोमिअ ।
होल गोल वसुलित्ति पुरिसं नेवमालवे ॥ १९ ॥
छा० हे भो हलेति अन्येति, भट्ट, स्वामिन् गोमिन् ।
होल गोल वसुलेति, पुरुषं नैवमालपेत् ॥ १९ ॥

अध्य० ७

‘हे हो०’—हे भो ! हल इति, अन्य ! इति, भर्तः ! स्वामिन् ! गोमिन् ! होल ! गोल ! वसुल ! इति
पुरुषं नैवमालपेत् ॥ १९ ॥ यथा लपेत् तथाऽऽह—

नामधिज्जेण णं बूआ पुरिसगुत्तेण वा पुणो ।
जहारिहमभिगिज्झ आलविज्ज लविज्ज वा ॥ २० ॥
छा० नामधेयेन ब्रूयात्, पुरुषगोत्रेण वा पुनः ।
यथार्हमभिगृह्य, आलपेत्लपेद्वा ॥ २० ॥

‘नामधिज्जेण०’—पूर्ववत्, पुरुषाभिलाषेन योजना कार्या, इति विशेषः ॥ २० ॥ अथ पञ्चेन्द्रियतिर्यग्गतं
वाग्विधिमाह—

॥ २०७ ॥

पंचिंदिआण पाणाणं एस इत्थी अयं पुमं ।
जाव णं न विजाणिज्जा ताव जाइत्ति आलवे ॥ २१ ॥

छा० पञ्चेन्द्रियाणां प्राणिनाम्, एषा स्त्री, अयं पुमान् ।

यावन्न विजानीयात्, तावज्जातिमित्यालपेत् ॥ २१ ॥

अध्य० ७

‘पंचिन्द्रियाण०’—‘पञ्चेन्द्रियाणां प्राणिनां गवादीनां च विदूरदेशेऽवस्थितानां यथा-इयं स्त्री गौः, अयं पुमान् बलीवर्दः, यावदेतद् विशेषेण न जानीयात्, तावन्मार्गप्रश्नाऽऽदौ प्रयोजन उत्पन्ने सति ‘जातिमिति’—जातिमाश्रित्याऽऽलपेत्, अस्मात्पशुटोलिकात् कियदूरे यथा इत्येवमादि, अन्यथा लिङ्गव्यत्ययसम्भवान्मृषावादाऽऽपत्तिः, गोपालादीनामपि विपरिणामः, इत्येवमादयो दोषाः, आक्षेपपरिहारौ वृद्धविवरणादवसेयौ, तच्चेदम्—‘जइ लिंगवच्चए दोसो ता कीस पुढवाइणं नपुंसगत्ते वि पुरिसिस्थिणिदेसो पयदइ, जहा पत्थरो, मट्टिआ, करओ, उस्सा, मुम्मुरो, जाला, वाओ, वाउली, अंबओ, अंबिलिआ, किमिओ, जलूगा, मकोडओ, कीडिआ, इच्चेवमादि ?’ आयरिओ आह—‘जणवय-सच्चेण ववहारसच्चेण य एवं पयदइहि पत्थि दोसो, पंचिंदिएसु पुण ण एअमंगीकीरइ, गोवालाईण वि ण सुदिट्ठ-धम्मात्ति विपरिणामसंभवाओ, पुच्छिअसामायारीकहणे वा’ गुणसम्भवात् ॥ २१ ॥

तदेव मणुसं पसुं पक्खि वा वि सरीसवं ।

धूले पमेइले वज्जे पायमिति अ णो वए ॥ २२ ॥

छा० तथैव मानुषं पशुं, पक्षिणं वाऽपि सरीसृपम् ।

स्थूलः प्रमेदुरो वध्यः, पाक्य इति च नो वदेत् ॥ २२ ॥

‘तदेव०’—तथैव मनुष्यं, पशुमजाऽऽदिकं, पक्षिणं वाऽपि हंसादिकं, सरीसृपम् अजगरादिकम्, स्थूलोऽत्यन्त-

॥ २०८

मांसलोऽयं मनुष्यादिः, तथा प्रमेदुरः—प्रकर्षेण मेदःसम्पन्नः, वक्ष्यः—व्यापादनीयः, पाक्य इति च न वदेत्, पाक्यः—
पाक्ययोग्यः, फालमास इत्यन्ये । न वदेत्, तदमीतिव्यापत्याशङ्कादिदोषप्रसङ्गात् ॥ २२ ॥ कारणे पुनरुत्पन्ने—एवं
वदेदित्याह—

परिवृद्धात्ति णं ब्रूआ, ब्रूआ उवचिअत्ति अ ।

संजाए पीणिए वा चि महाकाइत्ति आलवे ॥ २३ ॥

छा० परिवृद्ध इत्येनं ब्रूयात्, ब्रूयादुपचित इति च ।

संजातः प्रीणितो वाऽपि, महाकाय इत्यालपेत् ॥ २३ ॥

‘परिवृद्ध०’—परिवृद्ध इत्येनं स्थूलं मनुष्यादि ब्रूयात्, तथा ब्रूयादुपचित इति, संजातः प्रीणितश्चेति, महा-
काय इति चाऽऽलपेत् परिवृद्धं, उपचितं परिहरेदित्यादौ ॥ २३ ॥

तहेव गाओ दुज्झाओ, दम्मा गोरहगत्ति अ ।

वाहिमा रहजोगत्ति, नेवं भासिज्ज पण्णवं ॥ २४ ॥

छा० तथैव गावो दोहाः, दम्या गोरथका इति च ।

वाह्या रथयोग्या इति, नैवं भाषेत प्रज्ञावान् ॥ २४ ॥

‘तहेव०’—तथैव गावो दोहाः—दोहाऽर्हाः, दम्याः—दमनयोग्या गोरथका इति च, गोरथकाः—कल्हो-

डकाः, तथा बाह्याः सामान्येन ये केचित्तानाश्रित्य रथयोग्या इति नैवं भाषेत प्रज्ञावान्, अधिकरणलाघवादिबोधात्
॥ २४ ॥ प्रयोजने त्वेवं भाषेत—इत्याह—

अध्य० ७

जुवं गवित्ति णं ब्रूआ धेणुं रसदेहति अ ।

रहस्से महल्लए, वा वि वए संवहणित्ति अ ॥ २५ ॥

छा० युवा गौरिति ब्रूयात्, धेनुं रसदेति च ।

ह्रस्वं महल्लकं वाऽपि, वदेत् संवहनमिति च ॥ २५ ॥

‘जुवं०’—युवा गौरिति दम्भे गां युवेति ब्रूयात्, धेनुं—गां रसदेति ब्रूयात्, तथा ह्रस्वं महल्लकं वाऽपि—
गोरपकं ह्रस्वं बाह्यं महल्लकं वदेत्, संवहनमिति रथयोग्यं संवहनं वदेत्, कचिद् दिगुपलक्षणादौ प्रयोजने ॥ २५ ॥

तहेव गंतुमुज्जाणं पव्वयाणि वण्णाणि अ ।

रुक्खा महल्ल पेहाए नेवं भासिज्ज पण्णवं ॥ २६ ॥

छा० तथैव गत्वोद्यानं, पर्वतान्वनानि च ।

वृक्षान्महतः प्रेक्ष्य, नैवं भाषेत प्रज्ञावान् ॥ २६ ॥

॥ २१० ॥

‘तहेव०’—तथैव गत्वोद्यानं—जनकीर्डास्थानं तथा पर्वतान् गत्वा तथा वनानि च, तत्र वृक्षान् महतो
महाप्रमाणान् प्रेक्ष्य नैवं भाषेत प्रज्ञावान् ॥ २६ ॥ कथमित्याह—

अलं प्रासादस्तम्भयोः तोरणाण गृहाण य ।

फलहृगलनावाणं अलं उदगदोणिणं ॥ २७ ॥

छा० अलं प्रासादस्तम्भयोः, तोरणानां गृहाणां च ।

परिघागलानावाम्, अलमुदकद्रोणीनाम् ॥ २७ ॥

'अल०'—अल—समर्थाः प्रासादस्तम्भयोः, अत्र एकस्तम्भः प्रासादः, स्तम्भस्तु स्तम्भ एव, तोरणानां गृहाणां च, अल सर्वत्र योज्यम्, परिघागलानावाम्, तत्र नगरद्वारे परिघा, गोपुरकपाटादिष्वगला, नौः प्रतीता, आसा-
मलमेते वृक्षाः, उदकद्रोणीनामलम्, उदकद्रोण्योऽरहद्वजलधारिकाः ॥ २७ ॥

पीठे चंगवेरे अ नंगले मइअं सिआ ।

जंतलट्टी व नामी वा गंडिआ व अलं सिआ ॥ २८ ॥

छा० पीठेकं चङ्गवेरं च, लाङ्गलं मयिकं स्यात् ।

यन्त्रयष्टिर्वा नाभिर्वा गण्डिका वाऽलं स्यात् ॥ २८ ॥

'पीठे०'—[सुषु सुषो भवन्तीति न्यायाच्चतुर्थ्यर्थे प्रथमा] पीठकाय—काष्ठासनाय, चंगवेराय (चंगवेरः)—
काष्ठानी, तथा लाङ्गलाय—हलाय, मयिकाय—उत्तमीजाच्छादनाय, यन्त्रयष्टये वा यन्त्रयष्टिः प्रसिद्धा, नाभये वा-

१ चतुर्थ्यर्थे प्रथमा—एवं सर्वेषु पदेषु ।

नाभिः—शक्रतुम्बं—चक्रं तस्मै, गण्डिकायै वा अलं स्युरेते वृक्षा इति, नैवं भाषेत प्रज्ञावान् इति वर्तते, गण्डिका—
सुवर्णकाराणामधिकारणी—स्थापनी भवतीति ॥ २८ ॥

आसणं सयणं जाणं हुज्जा वा किञ्चुवस्सए ।

भूओवघाडणिं भासं नैवं भासिज्ज पण्णवं ॥ २९ ॥

छा० आसनं शयनं यानं, भवेद्वा किञ्चिदुपाश्रये ।

भूतोपघातिनीं भाषां नैवं भाषेत प्रज्ञावान् ॥ २९ ॥

‘आसणं०’—आसनमासन्दकादि, शयनं पर्यङ्कादि, यानं वाहनादि, भवेद्वा किञ्चिदुपाश्रये—वसती
द्वाररूपाद्यादि—एतेषु—वृक्षेषु, इति भूतोपघातिनीं भाषां नैवं भाषेत प्रज्ञावान् । दोषांश्चात्र तद्धनस्वामी कुप्येद् व्यन्तरादिः,
सलक्षणो वा वृक्ष इति गृह्णीयात्, अनियमितभाषिणो लाघवश्चेत्येवमादयो योग्याः ॥ २९ ॥ अत्रैव विधिमाह—

तहेव गंतुमुज्जाणं पव्वयाणि वणाणि अ ।

रुक्खा महल्ल पेहाए एवं भासिज्ज पण्णवं ॥ ३० ॥

छा० तथैव गत्वोद्यानं, पर्वतान्वनानि च ।

वृक्षान्महतः प्रेक्ष्य, एवं भाषेत प्रज्ञावान् ॥ ३० ॥

‘तहेव०’—तथैव गत्वोद्यानं पर्वतान् वनानि च, तत्र वृक्षान् महाप्रमाणान् वक्ष्य एवं भाषेत प्रज्ञावान् ॥ ३० ॥

जाइमंता इमे रुक्सा दीहवृक्षा महालया ।

पयायसाला विडिमा वए वरिसणित्ति अ ॥ ३१ ॥

छा० जातिमन्त इमे वृक्षाः, दीर्घवृक्षा महालयाः ।

प्रजातशाखा विटपिनः, वदेदर्शनीया इति च ॥ ३१ ॥

‘जाइमंता०’—जातिमन्तः—उत्तमजातयोऽशोकादयोऽनेकप्रकारा एत उपलभ्यमानस्वरूपा वृक्षाः, ‘दीर्घवृक्षा महालयाः’—दीर्घा नालिकेरीप्रभृतयः, वृक्षा नन्दिबुशद्वयः, महालया वृक्षाद्वयः, प्रजातशाखाः—उत्पन्नडालाः, विटपिनः—पशाखावन्तः, वदेद् दर्शनीया इति च, एतदपि प्रयोजन उत्पन्ने विश्रमणतया वाऽऽसन्नमार्गकथनादौ वदेन्नाऽन्यदेति ॥ ३१ ॥

तहा फलाइं पकाइं पायसज्जाइं णो वए ।

वेलोइआइं टालाइं वेहिमाइत्ति णो वए ॥ ३२ ॥

छा० तथा फलानि पकानि, पाकसाद्यानि नो वदेत् ।

वेलोचितानि टालानि, द्वैधिकानीति नो वदेत् ॥ ३२ ॥

‘तहा फलाइं०’—तथा फलानि—आम्रफलादीनि पकानि—पाकप्राप्तानि, पाकसाद्यानि—बद्धाऽस्थीनीति, गर्तप्रक्षेपकोद्रवपलालादिना विपाच्य भक्षणयोग्यानीति नो वदेत्, तथा वेलोचितानि—पाकाऽतिशयतो ग्रहणकालोचितानि, अतः परं न फलं विहन्त इत्यर्थः, टालानि—अबद्धास्थीनि—अद्यापि कोमलानि, द्वैधिकानि इति पेशीसम्पा-

दनेन द्वैधीभावकरणयोग्यानि चेति नो वदेत्, दोषाः पुनरत्र—अत ऊर्ध्वं नाश एवाऽस्मीषां, न शोभनानि वा प्रका-
रान्तरभोगेन—इत्यवधार्य गृहिप्रवृत्तावधिकरणादयः ॥ ३२ ॥ प्रयोजने पुनर्मार्गदर्शनादौ—एवंवदेदित्याह—

असंथडा इमे अंवा बहु निव्वट्टिमा फला ।

वड्ज्ज बहुसंभूआ भूअरुवित्ति वा पुणो ॥ ३३ ॥

छा० असमर्था इमे आम्राः, बहुनिर्वर्तितफलाः ।

वदेद्बहुसंभूताः, भूतरूपा इति वा पुनः ॥ ३३ ॥

‘असंथडा०’—असमर्था एते आम्राः, अतिभरेण न शक्नुवन्ति फलानि धारयितुमित्यर्थः, आम्रग्रहणं
प्रधानवृक्षोपलक्षणम्, एतेन पक्काऽर्थ उक्तः, बहुनिर्वर्तितफलाः—बहूनि निर्वर्तितानि बद्धाऽऽस्थीनि फलानि येषु ते
बहुनिर्वर्तितफलाः, अनेन पाकखाद्याऽर्थ उक्तः, वदेत्—‘बहुसंभूताः’—बहूनि सम्भूतानि पाकाऽतिशयतो ग्रहण-
कालोचितानि फलानि येषु ते तथा, अनेन वेलोचिताऽर्थ उक्तः, तथा भूतरूपा इति वा पुनर्वदेत्, भूतानि रूपाणि—
अबद्धाऽऽस्थीनि कोमलफलरूपाणि येषु ते तथा, अनेन टालाद्यर्थ उपलक्षितः ॥ ३३ ॥

तहेवोसहिओ पक्काओ नीलिआओ छवीइ अ ।

लाइमा भज्जिमाउत्ति पिहुखज्जत्ति णो वए ॥ ३४ ॥

छा० तथैवौषधयः पक्काः, नीलिकाश्छवय इति च ।

लवनीया भर्जनीया इति, पृथुकखाद्या इति नो वदेत् ॥ ३४ ॥

'तदेवो०'—तथैवोपपद्यः शास्त्रादिरूपाः पक्वा इति, नीलाभ्यवय इति वा बल्लवल्कादिकल्लक्षणाः, तथा लयनवत्यः—लयनयोग्याः, भर्जनवत्यः—भर्जनयोग्याः, पृथुकभक्ष्या इति नो. वदेत्—बालकभक्षणयोग्या इति न कथयेत् ॥ ३४ ॥ प्रयोजने पुनर्मार्गदर्शनादावेवमालपेदित्याह—

रूढा बहुसंभूता थिरा ऊसदा वि अ ।

गर्भिमाओ प्रसूआओ ससाराउत्ति आलवे ॥ ३५ ॥

छा० रूढा बहुसंभूताः, स्थिरा उत्सृता अपि च ।

गर्भिताः प्रसूताः, ससारा इत्यालपेत् ॥ ३५ ॥

'रूढा०'—रूढाः स्मेति रूढाः—प्रादुर्भूताः, बहुसंभूताः—निष्पन्नप्रायाः, स्थिराः—निष्पन्नाः, उत्सृता इति उपपादेभ्यो निर्गता इति वा, गर्भिताः—अनिर्गतशीर्षकाः, प्रसूताः—निर्गतशीर्षकाः, ससाराः—संजाततन्दुलाऽऽदिसाराः, इत्येवमादि लपेत् पक्वाऽऽर्थाद्यर्थयोजना स्वधिया कार्या ॥ ३५ ॥ वाग्विधिप्रतिषेधाऽधिकारेऽनुवर्तमान इदमपरमाह—

तदेव संखडिं नच्चा किच्चं कज्जं ति णो वए ।

तेणगं वा वि वज्झित्ति सुत्तिथित्ति अ आवगा ॥ ३६ ॥

छा० तथैव संखडीं ज्ञात्वा, कृत्यं कार्यमिति नो वदेत् ।

स्तेनरं वाऽपि वध्य इति, सुतीर्था इति चाऽऽपगाः ॥ ३६ ॥

'तदेव०'—तथैव संखडीं ज्ञात्वा—संखण्डयन्ते प्राणिनामायुं यस्यां सा संखडी तां ज्ञात्वा, करणीयेति

पित्रादिनिमित्तं कृत्यैवैषेति नो वदेत्, मिथ्यात्वोपबृंहणदोषात्, तथा स्तेनकं वापि वक्ष्ये इति नो वदेत्, तदनुमतत्वेन निश्चयादिन्दोषप्रसङ्गात्, सुतीर्था इति च, 'च'—शब्दाद् दुस्तीर्था इति वा, आपगाः—नयः केनचित्पृष्ठः सन् न वदेत्, अधिकरणविघातादिदोषप्रसङ्गात् ॥ ३६ ॥ प्रयोजन एवं वदेदित्याह—

संखडिं संखडिं ब्रूया पणिअट्ठित्ति तेणगं ।

बहुसमाणि तित्थाणि आवगाणं विआगरे ॥ ३७ ॥

छा० संखडीं संखडीं ब्रूयात्, पणितार्थ इति स्तेनकम् ।

बहुसमानि तीर्थानि, आपगानां व्यागृणीयात् ॥ ३७ ॥

'संखडिं०'—संखडीं संखडीं ब्रूयात् साधु कथनादौ सङ्कीर्णां संखडीत्येवमादि, पणिताऽथ इति स्तेनकं वदेत्, शिक्षकादिकर्मविपाकदर्शनादौ पणितेनाऽर्थोऽस्येति पणिताऽर्थः, प्राण(पण)युतप्रयोजन इत्यर्थः, बहुसमानि तीर्था-न्यापगानां—नदीनां व्यागृणीयात्साध्यादिविषये ॥ ३७ ॥ अत्रैवाऽधिकारे चेदमाह—

तहा नईओ पुण्णाओ कायतिज्जत्ति णो वए ।

नावाहिं तारिमाउत्ति पाणिपिज्जत्ति णो वए ॥ ३८ ॥

छा० तथा नद्यः पूर्णाः, कायतार्या इति नो वदेत् ।

नौभिस्तरणीया इति, प्राणिपेया इति नो वदेत् ॥ ३८ ॥

'तहा०'—तथा नद्यः पूर्णा भूता इति नो वदेत्, प्रवृत्तश्रमणनिवर्तनादिदोषात्, कायतरणीयाः—शरीर-

तरणयोग्या इत्येवं नो वदेत्, साधुवचनतोऽविघ्न इति प्रवर्तनादिदोषप्रसङ्गात्, तथा नौभिस्तरणयोग्या इत्येवं नो वदेत्, प्राणिपेयाः—तदस्यप्राणिपेया इति नो वदेत्, तथैव प्रवर्तनादिदोषात् ॥ ३८ ॥ साधुमार्गकथनादावेवं वदेदित्याह—

अध्य० ७

बहुवाहटा अगाहा बहुसलिलुप्पिलोदगा ।

बहुविस्थडोदगा या वि एवं भासिज्ज पण्णवं ॥ ३९ ॥

छा० बहुमृता अगाधाः, बहुसलिलोत्पीडोदकाः ।

बहुविस्तृतोदकाश्चाऽपि, एवं भापेत प्रज्ञावान् ॥ ३९ ॥

‘बहु०’—बहुमृताः—प्रायशो मृताः, अगाधाश्च—प्रायो गम्भीराः, बहुसलीलोत्पीलोदकाः—बहुसलिलानामुत्पीलं—पश्चादुद्वलमुदकं यासां ता बहुसलिलोत्पीलोदकाः, पश्चान्मुखं बाहिताः परनय इत्यर्थः । बहुविस्तीर्णोदकाश्च—स्वतीरप्रावनप्रवृत्तजलाश्च, एवं भापेत प्रज्ञावान्, न तु तदागतपृष्ठे न वेद्मि—अहमिति ब्रूयात्, प्रत्यक्षमृतावादित्वेन तत्प्रद्वेषादिदोषप्रसङ्गात् ॥ ३९ ॥ बागुविधिप्रतिषेधाऽधिकार एवेदमाह—

तहेव सावज्जं जोगं परस्सट्ठाए णिट्ठिअं ।

कीरमाणं ति वा नच्चा सावज्जं न लवे मुणी ॥ ४० ॥

छा० तथैव सावद्यं योगं, परस्यार्थाय निष्ठितम् ।

क्रियमाणमिति वा ज्ञात्वा, सावद्यं नालपेन्मुनिः ॥ ४० ॥

॥ ३९ ॥

‘तद्देव०’—तथैव सावयं योगं—व्यापारं परस्यार्थाय—परनिमित्तं निष्ठितं, तथा क्रियमाणं वा—वर्तमानं,
 ‘वा’—शब्दाद् भविष्यत्काले भाविनं वा ज्ञात्वा सावयं नालपेन्मुनिः ॥ ४० ॥ तत्र निष्ठितं नैवं ब्रूयादित्याह—

अध्य० ७

सुकडित्ति सुपक्वित्ति सुच्छिण्णे सुहृडे मडे ।

सुणिट्ठिए सुलट्ठित्ति सावज्जं वज्जए मुणी ॥ ४१ ॥

छा० सुकृतमिति सुपक्वमिति, सुच्छिन्नं सुहृतं मृतः(तम्) ।

सुनिष्ठितं सुलट्ठेति, सावयं वर्जयेन्मुनिः ॥ ४१ ॥

‘सुकडित्ति०’—सुकृतमिति—सुष्ठु कृतं सभादि, सुपक्वमिति—सहस्रपाकादि, सुच्छिन्नमिति वनादि, सुहृत-
 मिति—शुद्रस्य चि(वि)त्तम्, समृतः प्रत्यनीकः, सुरत्राऽप्यनुवर्तते, सुनिष्ठितमिति वित्ताऽभिमानिनां वित्तम्, सुल-
 ट्ठेति सुन्दरी कन्या, एवं साऽवयं वर्जयेन्मुनिः, अनुमत्यादिदोषप्रसङ्गात्, निरवयं तु न वर्जयेत्, यथा—सुकृतमिति—
 सुकृतमनेन वैय्यावृत्त्यादि, सुपक्वं ब्रह्मवर्यं साधोः, सुच्छिन्नं स्नेहबन्धनमनेन, सुहृतमुपकरणम् उपसर्गे, समृतः
 पाण्डितमरणेन, सुनिष्ठितं कर्म अप्रमत्तसाधोः, सुलट्ठा क्रिया ते, इत्येवमादीनि असावयानि ब्रूयात् ॥ ४१ ॥
 उक्ताऽनुक्ताऽपवादाविधिमाह—

पयत्तपक्वित्ति अ पक्वमालवे ।

पयत्तच्छिण्णित्ति अ छिण्णमालवे ॥

॥ २१८ ॥

५२५०
॥ २१८ ॥

पयत्तलद्विष्टि व कम्महेउअं ।
पहारगाढिस्ति व गाढमालपेत् ॥ ४२ ॥

छा० प्रयत्नपकमिति च पकमालपेत् ।
प्रयत्नच्छिन्नमिति च छिन्नमालपेत् ॥
प्रयत्नलपेति वा कर्महेतुकम् ।
प्रहारगाढमिति वा गाढमालपेत् ॥ ४२ ॥

‘पयत्त०’—प्रयत्नपकमेतत् पक सहस्रपाकादि ग्लानप्रयोजने एवमालपेत्, प्रयत्नच्छिन्नमिति वा छिन्नमालपेत्, प्रयत्नच्छिन्न व्रणा(वना)ऽऽदि, प्रयत्नलपेति वा प्रयत्नसुन्दरी कन्या दीक्षिता सती सम्यक् पालनीया, कर्महेतुकमिति सर्वमेव फृताऽऽदि कर्मनिमित्तमालपेत्, गाढप्रहारमिति वा गाढमालपेत्—गाढप्रहारं ब्रूयात् कचित्प्रयोजने, एवं हि तदधीत्यादयो दोषाः परिहृताः स्युः ॥ ४२ ॥ व्यवहारे केनाऽपि पृष्टोऽपृष्टो वा नैव वदेदित्याह—

सच्चुक्कसं परग्घं वा अउलं णत्थि एरिसं ।
अविक्किअमवत्तच्चं अचिअत्तं चेव णो वए ॥ ४३ ॥

छा० सर्वोत्कर्षं परार्थं वा, अतुलं नास्तीदृशम् ।
अविकृतमवक्तव्यम्, अप्रीतिकरं चेव नो वदेत् ॥ ४३ ॥

‘सन्वृक्तसं०’—सर्वोत्कृष्टमिदं स्वभावेन सुन्दरमित्यर्थः, पराऽर्घं वा उत्तमाऽर्घं वा महाऽर्घं क्रीतमिति भावः, अतुलं—नाऽस्तीदृशमन्यत्राऽपि कश्चित्, ‘अविक्रिएत्ति’—असंस्कृत सुलभमीदृशं सर्वत्राऽपि, अवक्तव्यम्—अनन्तगुण-
मेतत्, ‘अचियत्तं’ वा—अप्रीतिकरं चैतदिति नो वदेत्, अधिकरणाऽन्तरायाऽऽदिदोषप्रसङ्गात् ॥ ४३ ॥

सव्वमेअं वइस्सामि सव्वमेअं ति णो वए ।

अणुवीअ सव्वं सव्वत्थ एवं भासिज्ज पण्णवं ॥ ४४ ॥

छा० सर्वमेतद्वदिष्यामि, सर्वमेतदिति नो वदेत् ।

अनुविचिच्य सर्वं सर्वत्र, एवं भाषेत प्रज्ञावान् ॥ ४४ ॥

‘सन्वमेअं०’—‘सर्वमेतत्सन्देशाऽऽदिकं कथयेः साधोः’ इति परेण सन्दिष्टे सर्वमेतद्वदिष्यामीति नो वदेत्, सर्वस्य स्वरव्यञ्जनाद्युपेतस्य वक्तुमशक्यत्वात्, सर्वमेतदित्येवं वक्तव्यमिति नो वदेत्, सर्वस्य स्वरादियुक्तस्य वक्तुमशक्यत्वात्, (असंभवाऽभिधाने मृषावादः), अतः—‘अणुवीअ’—‘अनुविचिन्त्य सर्वं वाच्यं सर्वत्र—कार्येषु यथाऽ-
संभवाऽभिधानादिना मृषावादो न भवत्येवं भाषेत प्रज्ञावान् ॥ ४४ ॥ किञ्च—

सुक्कीअं वा सुविक्कीअं अकिज्जं किज्जमेव वा ।

इमं गिण्ह इमं मुंच पणिअं णो विआगरे ॥ ४५ ॥

छा० सुक्रीतं वा सुविक्रीतम्, अक्रेयं क्रेयमेव वा ।

इदं गृहाणेदं मुञ्च, पणितं नो व्यागृणीयात् ॥ ४५ ॥

‘सुक्रीयं०’—सुक्रीतं वेति किञ्चित् केनचित् क्रीतं दर्शितं सत् क्रीतमिति न व्यागृणीयात्, सुविक्रीत-
मिति न व्यागृणीयात्, अक्रेयं क्रेयमेव वा, इदं पण्यं गृहाण—महर्घ्यं भविष्यति, इदं मुञ्च समर्घ्यं भावीति पणितं—पण्यं
न व्यागृणीयात्, अप्रीत्यधिकरणादिदोषप्रसङ्गात् ॥ ४५ ॥

अप्पग्घे वा महग्घे वा कए वा विक्कए वि वा ।

पणिअट्ठे समुप्पण्णे अणवज्जं विआगरे ॥ ४६ ॥

छा० अल्पार्घं वा महार्घं वा, क्रये वा विक्रयेऽपि वा ।

पणितार्घं समुत्पन्ने, अनवद्यं व्यागृणीयात् ॥ ४६ ॥

‘अप्पग्घे०’—अल्पाऽर्घं वा महाऽर्घं वा, कस्मिन्नित्याह, क्रये वा विक्रयेऽपि वा, पणितार्घं—पण्यवस्तुनि
उत्पन्ने केनचित्सृष्टः सन्, अनवद्यं व्यागृणीयात्, यथा—नाऽधिकारोऽत्र तपस्विनां व्यापाराऽभावात् ॥ ४६ ॥

तहेवासंजयं धीरो आस एहि करेहि वा ।

सय च्छिद्व वयाहित्ति नेवं भासिज्ज पण्णवं ॥ ४७ ॥

छा० तथैवाऽसंपतं धीरः, आस्वैहि कुरु वा ।

शेष्य तिष्ठ व्रजेति, नेवं भाषेत प्रज्ञावान् ॥ ४७ ॥

‘तद्देवा०’—तथैवाऽसंयतं प्रति धीरः—संयतः—आस्व इहैव, एहि इतोऽत्र, कुरु वेदं सञ्चयादि, शेष्वा
निद्रया, तिष्ठोर्द्धस्थानेन, व्रज ग्राममिति, नैवं भाषेत प्रज्ञावान् ॥ ४७ ॥

बहवे इमे असाहू लोए वृद्धंति साहुणो ।

न लवे असाहुं साहुत्ति साहुं साहुत्ति आलवे ॥ ४८ ॥

छा० बहव इमेऽसाधवः, लोके उच्यन्ते साधवः ।

न लपेदसाधुं साधुरिति, साधुं साधुरित्यालपेत् ॥ ४८ ॥

‘बहवे०’—बहव एते उपलभ्यमानस्वरूपा आजीवकादयोऽसाधवो निर्वाणसाधकयोगाऽपेक्षया, लोकेऽत्र
प्राणिसंघाते उच्यन्ते साधवः, सामान्येन तत्र नाऽऽसपेक्षं असाधुं साधुं, मृषावादप्रसङ्गात्, अपि तु साधुं साधुमालपेत्,
न तु तमपि नाऽऽलपेत्, उपबृंहणाऽतिचारदोषप्रसङ्गात् ॥ ४८ ॥ किंविशिष्टं साधुं साधुमालपेदित्याह—

नाणदंसणसंपण्णं संजमे अ तवे रयं ।

एवंगुणसमाउत्तं संजयं साहुमालवे ॥ ४९ ॥

छा० ज्ञानदर्शनसम्पन्नं, संयमे च तपसि रतम् ।

एवंगुणसमायुक्तं, संयतं साधुमालपेत् ॥ ४९ ॥

‘नाण०’—ज्ञानदर्शनसम्पन्नं, संयमे तपसि च रतम्—एवंगुणसमायुक्तं संयतं साधुमालपेत् ॥ ४९ ॥

देवाणं मणुआणं च तिरिआणं च विग्रहे ।

अमुआणं जओ होउ मा वा होउत्ति णो वए ॥ ५० ॥

छा० देवानां मनुजानाञ्च, तिरश्चां च विग्रहे ।

अमुकेषां जयो भवतु, मा वा भवतु, इति नो वदेत् ॥ ५० ॥

‘देवाणं०’—देवानां मनुजानाञ्च तिरश्चां च—महिष्यादीनां विग्रहे—संग्रामे सति ‘अमुकानां (अमुकेषां) देवादीनां जयो भवतु’ इति नो वदेत्, अधिकरणतत्स्वाम्यादिद्वेषदोषप्रसङ्गात् ॥ ५० ॥ किञ्च—

वाओ वुट्ठं च सीउण्हं सेमं धायं सिवं ति वा ।

कयाणु हुज्ज एआणि मा वा होउत्ति णो वए ॥ ५१ ॥

छा० वातो वृष्टं च शीतोष्णं, क्षेमं धातं शिवमिति वा ।

कदानु भवेयुरेतानि, मा वा भवेयुरिति नो वदेत् ॥ ५१ ॥

‘वाओ०’—वातः—मलयमारुतादिः, वृष्टं वा—वर्षणं, शीतोष्णं, क्षेमं—राजविद्वरशून्यं, धातं—सुभिक्षं, शिव-मिति वा—उपसर्गरहितं, कदानु भवेयुरेतानि वातादीनि, मा वा भवेयुरिति नो वदेद् घर्माविभिभूतः, अधिकरणादि-दोषप्रसङ्गात्, वातादिषु सन्तु सत्त्वपीडाऽऽपत्तेः, तद्वचनतस्तथाऽऽसेवनेऽप्यार्तध्यानभावादिति ॥ ५१ ॥ *

तहेव मेहं व णहं व माणवं ।
न देव देवत्ति गिरं वइज्जा ॥
समुच्छिण्ण उण्णए वा पओए ।
वइज्ज वा वुट्ठे बलाहइत्ति ॥ ५२ ॥
छा० तथैव मेघं वा नभो वा मानवं ।
न देव देव इति गिरं वदेत् ॥
सम्मूर्छित उन्नतो वा पयोदः ।
वदेद्वा वृष्टो बलाहक इति ॥ ५२ ॥

‘तहेव०’-तथैव मेघं वा नभो वा मानवं वा आश्रित्य नो देव देव इति गिरं वदेत्, मिथ्यावादलाघवादि-
दोषप्रसङ्गात् । कथं वदेदित्याह- उन्नतं दृष्ट्वा ‘सम्मूर्छित उन्नतो वा पयोदः’, वदेद्वा-वृष्टो बलाहक इति ॥ ५२ ॥
नम आश्रित्याह-

अंतलिक्खत्ति णं बूआ गुज्झाणुचरिअत्ति अ ।
रिद्धिमंतं नरं दिस्स रिद्धिमंतं ति आलवे ॥ ५३ ॥
छा० अन्तरिक्षमिति ब्रूयात्, गुह्यानुचरितमिति च ।
ऋद्धिमन्तं नरं दृष्ट्वा, ऋद्धिमन्तमित्यालपेत् ॥ ५३ ॥

‘अंतलिख०’—अन्तरिक्ष इति ब्रूयात्, गुह्याऽनुचरितमिति वा, सुरसेवितमित्यर्थः, ऋद्धिमन्तं—सम्पदुपेतं
नरं दृष्ट्वा ऋद्धिमन्तमित्यालपेत् ॥ ५३ ॥

अध्य० ७

सूत्रार्थ०
॥ २२५ ॥

तथैव सावज्जणुमोदणी गिरा ।
ओहारिणी जा य परोवघादणी ॥
से कोह लोह भयसा व माणवो ।
न हासमाणो वि गिरं वदज्जा ॥ ५४ ॥

छा० तथैव सावद्याऽनुमोदिनी गीः ।
अवधारिणी या च परोपघातिनी ॥
तां क्रोधाहोभाद्भयाद्वा मानवः ।
न हसन्नपि गिरं वदेत् ॥ ५४ ॥

‘तथैव०’—तथैव सावद्याऽनुमोदिनी गीः—वाक्, यथा—सुष्ठु हतो ग्राम इति, अवधारिणी—इदमित्यमेवेति,
या च परोपघातिनी, यथा—मांसपदोपाय सेव्यताम्, एवम्भूतां क्रोधाहोभाद् भयाद्वासाद्वा, मानप्रेमादीनामुपलक्षणमेतत्,
मानवः—साधुर्न हसन्नपि गिरं वदेत्, प्रभूतकर्मबन्धहेतुत्वात् ॥ ५४ ॥ वाक्यशुद्धिफलमाह—

॥ २२५ ॥

सवक्कसुद्धिं समुपेहिआ मुणी ।

गिरं च दुट्ठं परिवज्जए सया ॥

मिअं अदुट्ठं अणुवीअ भासए ।

सयाणमज्जे लहइ पसंसणं ॥ ५५ ॥

छा० सद्वा(स्ववा)क्यशुद्धिं सम्पेक्ष्य मुनिः ।

गिरं च दुष्टां परिवर्जयेत्सदा ॥

मितमदुष्टमनुविविच्य भाषकः ।

सतां मध्ये लभते प्रशंसनम् ॥ ५५ ॥

‘सवक्कसुद्धिं०’—सद्वाक्यशुद्धिं स्ववाक्यशुद्धिं सवाक्यशुद्धिं वा, सतीं—शोभनां, स्वामात्मीयां, स इति वक्ता, वाक्यशुद्धिं सम्पेक्ष्य मुनिः, ‘गिरं तु दुष्टां परिवर्जयेत्सदा’, मितमदुष्टमनुचिन्त्य भाषमाणः सन् सतां—साधूनां मध्ये लभते प्रशंसनम् ॥ ५५ ॥

भासाइ दोसे अ गुणे अ जाणिआ ।

तीसे अ दुट्ठे परिवज्जए सया ॥

छसु संजए सामणिए सया जए ।

वइज्ज बुद्धे हिअमाणुलोमिअं ॥ ५६ ॥

६२वि०
॥ २२७ ॥

छा० भाषाया दोषाँश्च गुणाँश्च ज्ञात्वा ।
तस्याश्च दुष्टान्परिवर्जयेत्सदा ॥
पदसु संयतः श्रामण्ये सदा यतः ।
वदेद्बुद्धो हितमानुलोमिकम् ॥ ५६ ॥

अध्या० ७

‘भासाद०’—अतो भाषाया दोषाँश्च गुणाँश्च ज्ञात्वा तस्याश्च दुष्टाया भाषायाः परिवर्जकः सदा एवम्भूतः
पदसु जीवनिकायेषु संयतः, श्रामण्ये—श्रमणभावे (सदा यतः सन्, हितं—) चरणपरिणामसुन्दरम्, आनुलोमं—मनोहारि
वदेत् ॥ ५६ ॥ उपसंहरन्नाह—

परिक्खभासी सुसमाहिद्दिणं ।
चउक्कसायावगए अणित्थिए ॥
स णिन्दुणे धुण्णमलं पुरेकडं ।
आराहए लोगमिणं तहा परं ॥ ५७ ॥ त्ति वेमि ।
छा० परीक्ष्यभापी सुसमाहितेन्द्रियः ।
चतुष्कपायापगतोऽनिश्चितः ॥
स निर्धुनुयात्(निर्धूय) धुतमलं पुराकृतम् ।
आराधयेल्लोकमिमं तथा परम् ॥ ५७ ॥ इति ब्रवीमि ।

॥ २२७ ॥

‘परिक्ख०’—परीक्ष्यभाषी सुसमाहितेन्द्रियः, अपगतचतुष्कषायः, क्रोधादिनिरोधकर्तृतिभावः, अनिश्रितः—
निश्चरहितः, स इत्थम्भूतो निर्धूय—प्रस्फोट्य धूनमलं—पापमलं पुराकृतम्, आराधयति लोकमेनं—मनुष्यलोकम्, तथा
परम्—परलोकमाराधयति—निर्वाणं प्रगुणीकरोति । ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥५७॥ इति वाक्यशुद्ध्यध्ययनस्य सप्तमस्याऽवचूरिः ।

॥ वक्कसुद्धि अज्झयणं सत्तमं ॥

॥ इति वाक्यशुद्ध्यध्ययनं सप्तमम् ॥



॥ अथाऽष्टमाध्ययनम् ॥

अनन्तराऽध्ययने साधुना निरवद्यवचसा वक्तव्यमित्युक्तम्, इह तु तन्निरवद्यं वच आचारे प्रणिहितस्य भवतीति तत्र मलवता भवितव्यमित्येतदुच्यते, उक्तञ्च—

“पणिहाणरहिअस्सेह, निरवज्ज पि भासिअं ।
सावज्जतुल्लं विण्णेअं, अज्झत्थेणेह संबुडं” ॥ १ ॥

इत्यनेन सम्बन्धेनाऽऽयातमिदमध्ययनम् ।

आयारप्पणिहिं लब्धुं जहा कायव्य भिक्षुणा ।
तं मे उदाहरिस्सामि आणुपुब्बिं सुणेह मे ॥ १ ॥

छा० आचारप्रणिधिं लब्ध्वा, यथा कर्तव्यं भिक्षुणा ।
तं भवद्भ्य उदाहरिष्यामि, आनुपूर्व्यां शृणुत मत् ॥ १ ॥

‘आयार०’—आचारस्य प्रकृतो निधिः—प्रणिधिः, तं लब्ध्वा यथा येन प्रकारेण कर्तव्यं विहिताऽनुष्ठानं भिक्षुणा, तं प्रकारं मे—भवद्भ्य उदाहरिष्यामि, आनुपूर्व्यां शृणुत ममेति गौतमादयः स्वशिष्यानाहुः ॥ १ ॥ तं प्रकारमाह—

पृथ्वी-दग्-अगणि-मारुत-तण-रुक्ख सवीअगा ।

तसा य पाणा जीवत्ति इअं वुत्तं महेसिणा ॥ २ ॥

छा० पृथ्व्युदकाऽग्निमारुततृणवृक्षाः सवीजकाः ।

त्रसाश्च प्राणिनो जीवा इति, इत्युक्तं महर्षिणा ॥ २ ॥

‘पृथ्वी०’—पृथिव्युदकाऽग्निवायुतृणवृक्षसर्वाजाः, त्रसाश्च प्राणिनो जीवा इत्युक्तं महर्षिणा—वर्द्धमानेन ॥ २ ॥

यतश्चैवमतः—

तेसिं अच्छणजोएण निच्चं होअव्वअं सिआ ।

मणसा काय वक्केण एवं भवइ संजए ॥ ३ ॥

छा० तेषामक्षणयोगेन, नित्यं भवितव्यं स्यात् ।

मनसा कायेन वाक्येन, एवं भवति संयतः ॥ ३ ॥

‘तेसिं०’—तेषां पृथिव्यादीनामक्षणयोगेन—अहिंसाव्यापारेण नित्यं भवितव्यं स्याद् भिक्षुणा मनसा कायेन वाक्येन, एभिः करणैरित्यर्थः, एवं वर्तमानः संयतो भवति नाऽन्यः ॥ ३ ॥ षड्जीवैस्वरूपं सामान्येनाऽभिधाय विशेषेणाऽऽह—

१ ‘इतेः इय वाक्यात्मने’ अस्मात्सूत्रात् ‘इइ’ इति स्थाने ‘इअ’ इति भवति ।

२ ‘षड्जीवनिकायाऽहिंसया संयतत्वमभिधायाऽधुना तद्वृत्तिविधीन्विधानतो विशेषेणाह’ इत्यपि प्रत्यन्तरे ।

पृथ्वीं भित्तिं सिलं लेष्टुं नैव भिन्दे न संलिहे ।

त्रिविहेण करणजोएण संजए सुसमाहिए ॥ ४ ॥

छा० पृथ्वीं भित्तिं शिलां लेष्टुं, नैव भिन्द्यान्न संलिखेत् ।

त्रिविधेन करणयोगेन, संयतः सुसमाहितः ॥ ४ ॥

'पृथ्वी०'—पृथिवीं भित्तिं शिलां लेष्टुं नैव भिन्द्यात्, न संलिखेत् त्रिविधेन करणयोगेन संयतः सुसमाहितः ॥ ४ ॥

शुद्धपृथ्वीं न निपीए ससरक्खम्मि अ आसणे ।

एमज्जित्तु निपीइज्जा जाइत्ता जस्स उग्गहं ॥ ५ ॥

छा० शुद्धपृथ्व्यां न निपीदेत्, सरजस्के चाऽऽसने ।

'प्रमार्ज्य निपीदेत्, याचित्वा यस्याऽवग्रहम् ॥ ५ ॥

'शुद्धपृथ्वी०'—शुद्धपृथिव्यामशस्त्रोपहतायां न निपीदेत्, निषीदनग्रहणात् स्थानत्वगवर्तनपरिग्रहः, सरजस्के वा (च) आसने—पीठकादौ, अघेतनायां तु प्रमृज्य तां रजोहरणेन निपीदेत्, याचयित्वा यस्याऽवग्रहम् ॥ ५ ॥
अपूजाये विधिमाह—

सीओदगं न सेविज्जा सिलावुट्ठं हिमाणि अ ।

उसिणोदगं तत्तफासुअं पडिगाहिज्ज संजए ॥ ६ ॥

छा० शीतोदकं न सेवेत, शिलावृष्टं हिमानि च ।

उष्णोदकं तप्तप्राशुकं, प्रतिगृह्णीयात् संयतः ॥ ६ ॥

‘सीओदगं०’—शीतोदकं—पृथिव्युद्भवं राचितोदकं न सेवेत, शिलावृष्टं हिमानि च—शिलाः—करकाः, वृष्ट—वर्षणम्, हिमं प्रतीतम्, यद्येवं कथमयं वर्तेत ? इत्याह—उष्णोदकं—कथितोदकं, तप्तप्रासुकं—त्रिदण्डोद्धृतं, नोष्णोदकमात्रं, परिगृह्णीयात्—वृत्त्यर्थं संयतः, एतच्च सौवीरायुषलक्षणमिति ॥ ६ ॥

उदउल्लं अप्पणो कायं नेव पुंछे न संलिहे ।

समुप्पेह तहामूअं णो णं संघट्टए मुणी ॥ ७ ॥

छा० उदकार्द्रमात्मनः कायं, नैव प्रोञ्छयेन्न संलिखेत् ।

समुत्प्रेक्ष्य तथामूत, नो संघट्टयेन्मुनिः ॥ ७ ॥

‘उदउल्लं०’—उदकार्द्रमात्मनः कायं नैव प्रोञ्छयेद्ब्रह्मवृणादिभिः, न संलिखेत्पाणिना, अपि तु संप्रेक्ष्य तथामूतं नैनं कायं संघट्टयेत्—मुनिर्मनागपि न स्पृशेत् ॥ ७ ॥ तेजःकायविधिमाह—

इंगालं अगणिं अन्विं अलायं वा सजोद्वअं ।
न उंजिजा न घट्टिजा णो णं निच्चावए मुणी ॥ ८ ॥

छा० अङ्गारमग्निमर्चिः, अलातं वा सज्योतिः ।
नोत्तिश्चेन्न घट्टयेत्, नो निर्वापयेन्मुनिः ॥ ८ ॥

‘इंगालं०’—अङ्गारं—ज्वालारहितम्, अग्निम्—अयःपिण्डाऽनुगतम्, अर्चिः—छिन्नज्वालम्, अलातं वा—
उल्मुकम्, सज्योतिः—साऽग्निकमित्यर्थः, नोत्तिश्चेत्, न घट्टयेत्, नैनं निर्वापयेन्मुनिः ॥ ८ ॥ वायुकायविधिमाह—

तालिअंटेण पत्तेण साहाविहुअणेण वा ।
न वीइज्ज अप्पणो कायं बाहिरं वा वि पुग्गलं ॥ ९ ॥

छा० तालवृन्तेन पत्रेण, शाखाविधुननेन वा ।
न व्यजेदात्मनः कायं, बाह्यं वाऽपि पुद्गलम् ॥ ९ ॥

‘तालिअं०’—तालवृन्तेन—व्यजनविशेषेण, पत्रेण—पत्रिणीपत्रादिना, शाखया—वृक्षडालरूपया, विधुननेन
व्यजनेन वा न व्यजेदात्मनः कायं बाह्यं वाऽपि पुद्गलेमुष्णोदकादि ॥ ९ ॥ वनस्पतिकायविधिमाह—

तणरुक्खं न छिंदिजा फलं मूलं व कस्सइ ।
आमगं विविहं बीअं मणसा वि न पत्थए ॥ १० ॥

छा० तृणवृक्षं न छिन्यात्, फलं मूलं वा कस्यचित् ।

आमकं विविधं बीजं, मनसाऽपि न प्रार्थयेत् ॥ १० ॥

अध्या० ८

‘तृण०’—तृणवृक्षमित्येकवद्भावः, तृणानि—दर्भादीनि, वृक्षाः—कदम्बादयः, एतान् न छिन्यात्, फलं मूलं वा कस्यचिद्वृक्षादेर्न छिन्यात्, आमकम्—अशस्त्रोपहतं विविधं बीजं मनसाऽपि न प्रार्थयेत् ॥ १० ॥

गहनेषु न चिद्विज्ञा बीजेषु हरिणेषु वा ।

उदगाम्नि तथा निच्चं उत्तिगपनगेषु वा ॥ ११ ॥

छा० गहनेषु न तिष्ठेत्, बीजेषु हरितेषु वा ।

उदके तथा नित्यम्, उत्तिङ्गपणकेषु वा ॥ ११ ॥

‘गहनेषु०’—गहनेषु—वननिकुक्षेषु न तिष्ठेत्, संघट्टनादिदोषप्रसङ्गात्, बीजेषु—प्रसारितशाल्यादिषु हरितेषु—दूर्वादिषु न तिष्ठेत्, उदके तथा नित्यम्, अत्रोदकमनन्तवनस्पतिविशेषः, यथोक्तम्—“उदए अवए पणए” इत्यादि, उदकमेवाऽन्ये, तत्र नियमतो वनस्पतिभावात्, उत्तिङ्गपनकयोर्वा न तिष्ठेत्, तत्रोत्तिङ्गः—सर्पच्छत्राऽऽदिः पनकः—उल्लिवनस्पतिः ॥ ११ ॥ असकायविधिमाह—

तसे पाणे न हिंसिज्जा वाया अदुव कम्मुणा ।

उवरओ सव्वभूएसु पासिज्ज विविहं जगं ॥ १२ ॥

॥ २३४ ॥

छा० ब्रह्मान्प्राणिनो न हिंस्यात्, वाचाऽथवा कर्मणा ।

उपरतः सर्वभूतेषु, पश्येद्विविधं जगत् ॥ १२ ॥

अध्याय ८

‘तत्ते०’-ब्रह्मान् प्राणिनो न हिंस्यात्, वाचाऽथवा कर्मणा-कार्येन, मृगस्तदन्तर्गतत्वावग्रहणम्,
उपरतः-निवृत्तो हिंसातः सर्वभूतेषु, पश्येद्विविधं जगत्कर्मपरतन्त्रं निवेद्यायेति ॥ १२ ॥ उक्तः स्थूलविधिः,
सूक्ष्मविधिमाह—

अट्ट सुहुमाईं पेहाइ जाई जाणित्तु संजए ।

दयाहिणारी भूएसु आस चिट्ठ सएहि वा ॥ १३ ॥

छा० अष्टौ सूक्ष्माणि प्रेक्ष्य (प्रेक्षया), यानि ज्ञात्वा संयतः ।

दयाधिकारी भूतेषु, आस्तां तिष्ठतु शेतां वा ॥ १३ ॥

‘अट्ट०’-अष्टौ सूक्ष्माणि वक्ष्यमाणानि प्रेक्षयोपयोगत आसीत्, तिष्ठेत्, शयीत वेतियोगः, किं
विशिष्टानीत्याह-यानि ज्ञात्वा संयतो दयाऽधिकारी भूतेषु भवति ॥ १३ ॥ आह—

॥ २३५ ॥

कयराईं अट्टसुहुमाईं जाई पुच्छिज्ज संजए ।

इमाईं ताईं मेहावी आपक्खिज्ज विअक्खणो ॥ १४ ॥

छा० कतरान्यटसूक्ष्माणि, यानि पृच्छेत् संयतः ।

एतानि तानि मेधावी, आचक्षीत विचक्षणः ॥ १४ ॥

‘कयरा०’—कतरान्यटौ सूक्ष्माणि यानि दयाऽधिकारित्वाऽभावमयात्पृच्छेत्संयतः ? अमूनि तान्यनन्तरं वक्ष्यमाणानि मेधावी—आचक्षीत, विचक्षण इत्यनेनैतदाह—मर्यादावर्तिना तज्ज्ञेन तत्परूपणा कार्या, एवं हि श्रोतुस्तत्रोपादेयबुद्धिर्मवति, अन्यथा विपर्ययः ॥ १४ ॥

सिणेहं पुष्पसुह्रुमं च पाणुत्तिगं तथैव य ।

पणगं बीजहरिअं च अण्डसुह्रुमं च अट्टमं ॥ १५ ॥

छा० स्नेहं पुष्पसूक्ष्मं च, प्राणोत्तिङ्गं तथैव च ।

पणकं बीजहरितं च, अण्डसूक्ष्मं चाष्टमम् ॥ १५ ॥

‘सिणेहं०’—स्नेहमिति स्नेहसूक्ष्मम्—अवश्यायहिममिहिकाकरकहरतनुरूपम्, पुष्पसूक्ष्मञ्चेति—वटोदुम्बराणां पुष्पाणि, तानि तद्वर्णानि सूक्ष्माणि न लक्ष्यन्ते, ‘पाणी’ति—प्राणिसूक्ष्मम्—अनुद्धरिः कुन्धुः, स हि चलन् विभाव्यते, न स्थितः, सूक्ष्मत्वात्, ‘उत्तिङ्गं तथैव च’—उत्तिङ्गसूक्ष्मं—कीटिकानगरम्, तत्र कीटिकानगरेऽन्ये च सूक्ष्मसत्त्वा भवन्ति, पनकमिति पनकसूक्ष्मं, प्रायः प्राकृष्टकाले भूमिकाद्यादिषु पञ्चवर्णस्तद्द्रव्यजीवः(लीनः) पनक इति । तथा बीजसूक्ष्मम्—शाक्यादिबीजस्य मुखमूले कणिका, या लोके तुपमुखमुच्यते, हरितं चेति—हरितसूक्ष्मं च, तथाऽत्य-

अध्य० ८

॥ २३६ ॥

न्ताऽभिनवोद्भिन्नं पृथिवीसमानवर्णमेवेति । अण्डसूक्ष्मं चाष्टमम् इति, एतच्च मक्षिकाकीटिकापृष्ठकोकिलबाह्यणीककला-
सायण्डमिति ॥ १५ ॥

अत्राह परः—पट्टजीवनिकायिकाऽध्ययने विस्तरेण, महाऽऽचारकथायां संक्षेपेण च पट्टजीवनिकायरक्षा
साधूनामुक्ता, किम्पुनरत्रोच्यते ?—चारित्रहस्यं पट्टजीवनिकाय-रक्षैव, अतोऽत्राऽऽदरख्यापनार्थं द्वित्रिरुक्तेऽपि न दोषः ।

अध्य० ६

एवमेआणि जाणित्ता सच्चभावेण संजए ।

अप्पमत्तो जए निच्चं सच्चिदिअसमाहिए ॥ १६ ॥

छा० एवमेतानि ज्ञात्वा, सर्वभावेन संयतः ।

अप्रमत्तो यतेत नित्यं, सर्वेन्द्रियसमाहितः ॥ १६ ॥

'एव०'—एवमेतानि ज्ञात्वा सर्वभावेन—शक्त्यनुरूपेण—स्वरूपसंरक्षणादिना संयतः—अप्रमत्तः—निद्रादि-
प्रमादरहितो यतेत नित्यं सर्वेन्द्रियसमाहितः ॥ १६ ॥

धुवं च पडिलेहिज्जा जोगसा पायकंचलं ।

सिज्जमुच्चारभूमिं च संथारं अदुवासणं ॥ १७ ॥

॥ २३७ ॥

छा० ध्रुवं च प्रतिलेखयेत्, योगेन पात्रकम्बलम् ।

शय्यामुच्चारभूमिं च, संस्तारमथवाऽऽसनम् ॥ १७ ॥

‘ध्रुवं०’—ध्रुवश्च—नित्यश्च प्रत्युपेक्षेत सिद्धान्तोक्तविधिना योगे सति—सति सामर्थ्ये, पात्रकम्बलं—पात्रग्रह-
णाच्छेदोपधि शय्यां—वसतिं द्विकालम्, वर्षासु त्रिकालम्, उच्चारभूमिं, चात् कालभूमि च, संस्तारकं—तृणमयादिरूपम्,
अथवाऽऽसनं—काठासनं पादप्रोज्जनं वा प्रत्युपेक्षेत ॥ १७ ॥

उच्चारं पासवणं खेलं सिंघाण जल्लिभं ।

फासुअं पडिलेहिता पड्डाविज्ज संजए ॥ १८ ॥

छा० उच्चारं प्रस्रवणं, श्लेष्म सिङ्घाणं जल्लकम् ।

प्रासुकं प्रतिलेख्य, परिष्ठापयेत् संयतः ॥ १८ ॥

‘उच्चारं०’—उच्चारं प्रस्रवणं श्लेष्म सिंघाणं जल्लम्, एतानि प्रासुकं प्रत्युपेक्ष्य, स्थण्डिलमिति शेषः,
परिष्ठापयेत् संयतः ॥ १८ ॥ गोचरप्रवेशमधिकृत्याऽऽह—

पविसित्तु परागारं पाण्डा भोजणस्स वा ।

जयं चिट्ठे मिअं भासे न य रूवेसु मणं करे ॥ १९ ॥

छा० प्रविश्य परागारं, पानार्थं भोजनाय वा ।

यतं तिष्ठेन्मितं भापेत, न च रूपेषु मनः कुर्यात् ॥ १९ ॥

१ ‘पात्रग्रहणादलावुद्राभयादिग्रहणम्, कम्बलादानादूर्णासूत्रमयग्रहणम्’ इति प्रत्यन्तरेऽयंविशिष्टः पाठः ।

‘पविशितुः’—पविश्य पराऽगारं—परगृहं पानार्थं भोजनस्य वा यतं—गवाक्षादीन्यनेवलोकयन्-तिष्ठेत्, मितं
भाषेत, न रूपेषु—दातु-कान्तादिषु मनः कुर्यात् ॥ १९ ॥

अध्य० ८

बहुं शृणोइ कण्णेहिं बहुं अच्छीहिं पिच्छइ ।

न य दिट्ठं सुअं सव्वं भिक्खू अक्खाउमरिहइ ॥ २० ॥

छा० बहु शृणोति कर्णैः, बहुक्षीभिः प्रेक्षते ।

न च दृष्टं भुतं सर्वं, भिक्षुराख्यातुमर्हति ॥ २० ॥

‘बहुः’—बहु शोभनाऽशोभनं शृणोति शब्दजातमिति शेषः, अक्षिभ्यां पश्यति रूपजातमिति, न च दृष्टं
भुतं सर्वं स्वपरोभयाऽहितमपि भिक्षुराख्यातुमर्हति, चारित्र्योपघातित्वात् ॥ २० ॥

सुअं वा जइवा दिट्ठं न लविज्जोवघाइअं ।

न य केण उवाएण गिहिजोगं समाअरे ॥ २१ ॥

छा० भुतं वा यदिवा दृष्टं, न लपेदौपघातिकम् ।

न च केनोपायेन, गृहियोगं समाचरेत् ॥ २१ ॥

‘सुअः’—भुतं वाऽन्यतो यदि वा दृष्टं स्वयमेव नाऽऽलपेत्, औपघातिकं यथा—चौरस्त्वमित्यादिरूपम्,
न च केनोपायेन—उपरोधादिना गृहियोगं—बालक्रीडनगृहस्थादिकं समाचरेत् ॥ २१ ॥

॥ २३३ ॥

निद्राणं रसणिज्जूढं भद्रं पावणं ति वा ।

पुष्टो वा वि अपुष्टो वा लाभालाभं न निदिसे ॥ २२ ॥

छा० निष्ठानं रसनिर्व्यूढं, भद्रकं पापकमिति वा ।

पुष्टो वाऽप्यपुष्टो वा, लाभालाभौ न निर्दिशेत् ॥ २२ ॥

‘निद्राणं०’-निष्ठानं-सर्वगुणोपेतं, रसनिर्व्यूढम्-एतद्विपरीतं कदशनम्, एतदाश्रित्याद्यं भद्रकम्, द्वितीयं पापकमिति वा, पुष्टो वाऽपि परेण, अपुष्टो वा स्वयमेव लाभमलाभं न निर्दिशेत् ॥ २२ ॥

न य भोअणम्मि गिद्धो चरे उच्छं अयंपिरो ।

अफासुअं न भुंजिज्जा कीयमुद्देशिआहडं ॥ २३ ॥

छा० न च भोजने गृद्धः, चरेदुच्छमजल्पन् ।

अप्रासुकं न भुञ्जीत, क्रीतमौद्देशिकमाहृतम् ॥ २३ ॥

‘न य ०’-न च भोजने गृद्धः सन्-ईश्वरादिषु कुलेषु चरेत्, अपि तु उच्छं-भावतो ज्ञाताऽज्ञात-मजल्पनशीलः-धर्मलाभमात्राऽभिधायी चरेत्, तत्राऽपि अप्रासुकं-सचित्तमिश्रादि कथञ्चिद् गृहीतमपि न भुञ्जीत । क्रीतमौद्देशिकाऽऽहृतं प्रासुकमपि ॥ २३ ॥

संनिहिं च न कुर्विज्जा अणुमायं पि संजए ।
मुहाजीवी असंबद्धे हविज्ज जगणिस्सिए ॥ २४ ॥

छा० सन्निधिं च न कुर्यात्, अणुमात्रमपि संयतः ।
मुधाजीव्यसम्बद्धः, भवेज्जगन्निश्चितः ॥ २४ ॥

‘संनिहिं०’-सन्निधिं च प्राङ्निक्षपितस्वरूपं न कुर्यादणुमात्रमपि संयतः, मुधाजीवी तु पूर्ववत्,
असम्बद्धः-गमिनीपनवद्गुह्यैः, एवम्भूतः सन् जगन्निश्चितः-चराचरसंरक्षणप्रतिबद्धो भवेत् ॥ २४ ॥

लूहवित्ती सुसंतुटे अप्पिच्छे सुहरे सिआ ।
आसुरत्तं न गच्छिज्जा सुच्चाणं जिणसासणं ॥ २५ ॥

छा० रूक्षवृत्तिः सुसंतुष्टः, अल्पेच्छः सुभरः स्यात् ।
आसुरत्वं न गच्छेत्, श्रुत्वा जिनशासनम् ॥ २५ ॥

‘लूहवित्ती०’-रूक्षैः-बलचणकादिभिर्वृत्तिरस्येति रूक्षवृत्तिः, सुसन्तुष्टो येन तेन वा, अल्पेच्छुरल्पाऽऽहारः,
सुभरः स्यात्, अल्पेच्छुत्वात्, तथा आसुरत्वं न गच्छेत्-क्रोधभावं न गच्छेत् कश्चित्, ‘सुच्चा’-श्रुत्वा जिनशासनं
क्रोधविषाकप्रतिपादकं वीतरागवचनम् ॥ २५ ॥

१ ‘क्रोधविषाकस्यापकर्महृदचनं श्रुत्वा’ इति पाठान्तरम् ।

कण्णसुखेहिं सदेहिं पेमं नाभिनिवेशेए ।

दारुणं कक्कसं फासं काएण अहिआसए ॥ २६ ॥

छा० कर्णसुखेषु शब्देषु, प्रेम नाभिनिवेशयेत् ।

दारुणं कर्कशं स्पर्शं, कायेनाध्यासीत् ॥ २६ ॥

‘कण्णसुखेहिं०’—कर्णसौख्यहेतवः—कर्णसौख्याः शब्दाः—वेणुवीणादिसम्बन्धिनः, तेषु प्रेमरागं नाभि-
निवेशयेत्, तथा दारुणम्—अनिष्टं कर्कशं—कठिनं स्पर्शमुपनतं सन्तं कायेनाऽतिसहेत, न तत्र द्वेषं कुर्यात् ॥ २६ ॥

खुहं पिवासं दुस्सिज्जं सीउण्हं अरहं भयं ।

अहिआसे अव्वहिओ देहे दुक्खं महाफलं ॥ २७ ॥

छा० क्षुधां पिपासां दुश्शय्यां, शीतोष्णमरतिं भयम् ।

अध्यासीताऽव्यथितः, देहे दुःखं महाफलम् ॥ २७ ॥

‘खुहं०’—क्षुधां पिपासां दुश्शय्यां शीतोष्णमरतिं भयमतिसहेत, एतत्सर्वमव्यथितः—अदीनमनाः स्मरन्
(सन्)—‘देहे दुःखं महाफलं’, सञ्चिन्त्येति वाक्यशेषः ॥ २७ ॥

अत्थंगयम्मि आइच्चे प(पु)रत्था य अणुग्गए ।

आहारमइअं सव्वं मणसा वि न पत्थए ॥ २८ ॥

दृश्यं
॥ २४३ ॥

छा० अस्तद्गत आदित्ये, प(पु)रस्ताच्चाऽनुद्वते ।
आहारमादिकं सर्वं, मनसाऽपि न प्रार्थयेत् ॥ २८ ॥

अध्या० ८

‘अर्थं०’—अस्तद्गत आदित्ये पुरस्ताच्चाऽनुद्वते प्रभातेऽनुद्वत इत्यर्थः, आहारात्मकं सर्वं मनसाऽपि न प्रार्थयेत् ॥ २८ ॥ दिवाऽप्यलभ्यमाने आहारे किं कुर्यादित्याह—

अतिंतिणे अचवले अप्पभासी मिआसणे ।
हविज्ज उअरे दंते थोवं लद्धुं न खिसए ॥ २९ ॥

छा० अतिन्तिणोऽचपलः, अल्पभाषी मिताऽशनः ।
भवेदुदरे दान्तः, स्तोकं लब्ध्वा न खिसयेत् ॥ २९ ॥

‘अतिंतिणे०’—अतिंतिणो नाम अलाभेऽपि नेपत्—यत्किञ्चिद् भाषी, अचपलः—सर्वत्र स्थिरः, अल्पभाषी—
फारणेऽपि मितभाषी, मिताऽशनः—अल्पभोजी, इत्येवम्भूतो भवेत्, तथा—उदरे दान्तः—येन तेन वा तृप्तः, स्तोकं लब्ध्वा
न खिसयेत्—वेयं वातारं वा न हीलयेत् ॥ २९ ॥ मदवर्जनाऽर्थमाह—

॥ २४३ ॥

न बाहिरं परिभवे अत्ताणं न समुक्कसे ।
सुअलाभे न मज्जिज्जा अच्चा तवस्सिबुद्धिए ॥ ३० ॥

छा० न बाह्यं परिभवेत्, आत्मानं न समुत्कर्षयेत् ।

श्रुतलाभेन न माद्येत, जात्या तपस्वि-बुद्ध्या ॥ ३० ॥

दशवि०
॥ २४४ ॥

‘न बाहिरं०’—न बाह्यमात्मनोऽन्यं परिभवेत्, आत्मानं न समुत्कर्षयेत्, इत्यम्भूतोऽहमिति, श्रुतलाभाभ्यां न माद्येत, श्रुतवानहम्, लाभवानहम्, जात्या तपस्येन (तपस्वितया) बुद्ध्या न माद्येत इति वर्तते, उपलक्षणं चैतत्कुलबलरूपाणाम्, ततश्चाष्टविधेनाऽपि मदेन न माद्येत ॥ ३० ॥ ओषत आमोगाऽनामोगसेवितार्थमाह—

से जाणमजाणं वा कट्टु आहम्मिअं पयं ।

संवरे खिप्पमप्पाणं बीअं तं न समाअरे ॥ ३१ ॥

छा० स जानन्नजानन्वा, कृत्वाऽधार्मिकं पदम् ।

संवृणुयात्क्षिप्रमात्मानं, द्वितीयं तं न समाचरेत् ॥ ३१ ॥

‘से जाण०’—स साधुर्जानन्—अजानन् वा कृत्वाऽधार्मिकं पदं कथञ्चिद्रागदोषाभ्यां मूलोत्तरगुणविराधनामितिभावः, संवरेत् क्षिप्रमात्मानमालोचनादिना, द्वितीयं पुनस्तत्र समाचरेत् ॥ ३१ ॥ एतदेवाह—

अणायारं परक्कम्म नेव गूहे न निण्हवे ।

सुई सया विअडभावे असंसत्ते जिइंदिए ॥ ३२ ॥

अध्य० ८

॥ २४४ ॥

वाराणसी
॥ २४५ ॥

छ० अनाचारं पराक्रम्य, नैव गूहयेन्न निद्रुवीत ।

शुचिः सदा विकटभावः, असंसक्तो जितेन्द्रियः ॥ ३२ ॥

अध्य० ८

‘अणाचारं०’—अनाचारं—सावययोगं पराक्रम्य—आसेव्य गुरोः सकाश आलोचयन् न निगूहेत किञ्चित्
किञ्चित् कथनात्, न निद्रुवीत सर्वथाऽपलापात्, किंविशिष्टः सन्? शुचिरकलुषमतिः सदा विकटभावः—प्रकटभावः,
असंसक्तः—गृहस्थसंसक्तिरहितः, जितेन्द्रियः ॥ ३२ ॥

अमोहं वचनं कुञ्जा आयरिअस्स महप्पणो ।

तं परिमिज्झ वायाए कम्मणा उववाअए ॥ ३३ ॥

छ० अमोहं वचनं कुर्यात्, आचार्यस्य महात्मनः ।

तत्परिगृह्य वाचा, कर्मणोपपादयेत् ॥ ३३ ॥

‘अमोहं०’—अमोपम्—अवन्ध्यं वचनं कुर्याद् आचार्याणां महात्मनाम्, तद्वचनं परिगृह्य वाचा कर्मणा—
क्रियोपपादयेत्—सम्पादयेत् ॥ ३३ ॥

अधुवं जीविअं नच्चा सिद्धिमगं विआणिआ ।

विणिअट्ठिज्ज भोएसु आउं परिमिअमप्पणो ॥ ३४ ॥

॥ २४५ ॥

छा० अधुवं जीवितं ज्ञात्वा, सिद्धिमार्गं विज्ञाय ।

विनिवर्तयेद्भोगेभ्यः, आयुः परिमितमात्मनः ॥ ३४ ॥

‘अधुवं०’—अधुवमनित्यं जीवनं ज्ञात्वा सिद्धिमार्गं—ज्ञानादिरूपं विज्ञाय विनिवर्तेत भोगेभ्यः, आयुः परिमितं—वर्षशतमितमात्मनो विज्ञाय निवर्तेत भोगेभ्यः ॥ ३४ ॥ उपदेशाऽधिकारे प्रकान्तमेव समर्थयन्नाह—

बलं थामं च पेहाए सन्ध्यामारोग्यमपणो ।

खित्तं कालं च विण्णाय तहप्पाणं निजुंजए ॥ ३५ ॥

छा० बलं स्थाम च प्रेक्ष्य, श्रद्धामारोग्यमात्मनः ।

क्षेत्रं कालं च विज्ञाय, तथाऽऽत्मानं नियुञ्जीत ॥ ३५ ॥

‘बलं०’— ॥ ३५ ॥

जरा जाव न पीलेइ वाही जाव न वड्डइ ।

जाविंदिआ न हायंति ताव धम्मं समाअरे ॥ ३६ ॥

छा० जरा यावन्न पीडयति, व्याधिर्यावन्न वर्धते ।

यावदिन्द्रियाणि न हीयन्ते, तावद्धर्मं समाचरेत् ॥ ३६ ॥

१ ‘भोगेभ्यः कर्मबन्धहेतुभ्यः’ इत्यन्यत्र ।

२ ‘इयं गाथा लघुबृहद्वृत्तौ नोक्ता’ अवचूयन्तरस्पष्टीकरणम् ।

‘जरा जाव०’—जरा यावन्न पीडयति व्याधिर्यावन्न वर्द्धते, यावदिन्द्रियाणि न हीयन्ते, तावदत्राऽन्तरे धर्मं समाचरेत् ॥ ३६ ॥ धर्मोपायमाह—

कोहं माणं च मायं च लोभं च पापवद्धुर्ण ।

यमे चत्तारि दोसे उ, इच्छंतो हिअमप्पणो ॥ ३७ ॥

छा० क्रोधं मानं च मायां च, लोभं च पापवर्द्धनम् ।

यमेच्चतुरो दोषास्तु, इच्छन् हितमात्मनः ॥ ३७ ॥

‘कोहं०’—क्रोधं मानं च मायां च लोभं च पापवर्द्धनम्, नियमयेच्चतुरो दोषान्—एतानेव क्रोधादीन् हितमिच्छन्नात्मनः ॥ ३७ ॥ अवमाने त्विहलोक एवाऽऽपयमाह—

कोहो पीइं पणासेइ माणो विणयणासणो ।

माया मित्ताणि णासेइ लोभो सव्वविणासणो ॥ ३८ ॥

छा० क्रोधः प्रीतिं प्रणाशयति, मानो विनयनाशनः ।

माया मित्राणि नाशयति, लोभः सर्वविनाशनः ॥ ३८ ॥

‘कोहो०’—क्रोधः प्रीतिं प्रणाशयति मानो विनयनाशनः, माया मित्राणि नाशयति लोभः सर्वविनाशनः ॥ ३८ ॥ अतः—

उवसमेण हणे कोहं माणं मद्वया जिणे ।
मायं चज्जवभावेण लोभं संतोसओ जिणे ॥ ३९ ॥

छा० उपशमेन हन्यात्क्रोधं, मानं मार्दवेन जयेत् ।
मायां चाऽऽर्जवभावेन, लोभं सन्तोषतो जयेत् ॥ ३९ ॥

‘उवसमेण०’- उपशमेन क्षान्तिरूपेण हन्यात् क्रोधम्, मानं मार्दवेन-अनुच्छिन्नतया जयेत्, मायां च ऋजुभावेन लोभं सन्तोषतो जयेत् ॥ ३९ ॥ परलोकाऽप्यायमाह-

कोहो अ माणो अ अणिग्गहिआ ।
माया य लोभो अ पवड्डमाणा ॥
चत्तारि एए कसिणा कसाया ।
सिंचन्ति मूलाइं पुणब्भवस्स ॥ ४० ॥

छा० क्रोधश्च मानश्चाऽनिर्गृहीतौ ।
माया च लोभश्च प्रवर्धमानौ ॥
चत्वार एते कृष्णाः (कृत्स्नाः) कपायाः ।
सिञ्चन्ति मूलानि पुनर्मवस्य ॥ ४० ॥

‘कोहो अ०’—क्रोधश्च मानश्च अनिगृहीतो माया च लोभश्च प्रवर्द्धमानौ, चत्वार एते कृत्स्नाः—सम्पूर्णाः
कपायाः सिद्ध्यन्ति—अशुभभावजलेन मूलानि पुनर्भवस्य—पुनर्जन्मतरोः ॥ ४० ॥ कपायनिग्रहार्थमिदं कुर्यादित्याह—

अध्या० ८

रायणिषु विणयं पठंजे ।
ध्रुवशीलयं सययं न हावइज्जा ॥
कुम्मुच्च अलीणपलीणगुत्तो ।
परक्कमिज्जा तवसंजमम्मि ॥ ४१ ॥

छा० रात्रिकेषु विनयं प्रयुञ्जीत ।
ध्रुवशीलितां सततं न हापयेत् ॥
कूर्म इवाऽऽलीनपलीनगुप्तः ।
पराक्रामेत्तपःसंयमयोः ॥ ४१ ॥

‘रायणिषु०’—रत्नाऽधिकेषु—चिरदीक्षितेषु विनयमभ्युत्थानादिकं प्रयुञ्जीत, तथा ध्रुवशीलिताम्—
भटादराशीलाऽऽज्ञसहस्रपालनरूपां सततं न हापयेत्, कूर्म इव—कच्छप इवाऽऽलीनपलीनगुप्तः—अज्ञोपाङ्गानि सम्यक्
संयम्य—इत्यर्थः, पराक्रामेत्—प्रवर्तेत तपःसंयमे—तपःप्रधानसंयमे ॥ ४१ ॥

॥ २४९ ॥

निद्रं च न बहुमणिज्जा सप्पहासं विवज्जए ।

मिहीकहाहिं न रमे सज्झायम्मि रओ सया ॥ ४२ ॥

छा० निद्रां च न बहुमन्येत, सप्रहासं विवर्जयेत् ।

मिथःकथासु न रमेत, स्वाध्याये रतः सदा ॥ ४२ ॥

‘निद्रं०’— निद्रां च न बहुमन्येत, सप्रहासं वा—अतीवप्रहासरूपं विवर्जयेत्, मिथःकथासु—राहस्य-
कीषु न रमेत, स्वाध्याये रतः सदा भवेदिति ॥ ४२ ॥

जोगं च समणधम्मंमि जुंजे अणलसो धुवं ।

जुत्तो अ समणधम्मंमि अट्ठं लहइ अणुत्तरं ॥ ४३ ॥

छा० योगं च श्रमणधर्मे, युञ्जीताऽनलसो ध्रुवम् ।

युक्तश्च श्रमणधर्मे, अर्थं लभतेऽनुत्तरम् ॥ ४३ ॥

‘जोगं०’— योगं च मनोवाकायरूपं, श्रमणधर्मे—शान्त्यादिरूपे युञ्जीत, अनलसः, ध्रुवं—निश्चितम्,
सामान्येन सर्वत्राऽविशेषतोऽनुपेक्षाकाले मनोयोगम्, अध्ययनकाले वाग्योगम्, प्रत्युपेक्षणाकाले काययोगम्, फलमाह
—एवं युक्तः—व्यापृतः श्रमणधर्मेऽर्थं लभतेऽनुत्तरम् ॥ ४३ ॥ एतदेवाह—

इहलोकपारस्तहिअं जेणं गच्छइ सुग्गइं ।

बहुस्सुअं पज्जुवासिज्जा पुच्छिज्जत्थविणिच्छयं ॥ ४४ ॥

छा० इहलोकपरत्रहितं, येन गच्छति सुगतिम् ।

बहुश्रुतं पर्युपासीत, पृच्छेदर्थविनिश्चयम् ॥ ४४ ॥

‘इह०’— इहलोकपरत्रहितं येनाऽर्थेन ज्ञानादिना करणभूतेन गच्छति सुगतिम् । उक्तस्वरूपसाधनो-
पायमाह—बहुश्रुतमागमबुद्धं पर्युपासीत—सेवेत, सेवमानश्च पृच्छेदर्थविनिश्चयम् ॥ ४४ ॥

हत्थं पायं च कायं च पणिहाय जिइंदिए ।

अलीणगुत्तो निसीए सगासे गुरुणो मुणी ॥ ४५ ॥

छा० हस्तौ पादौ च कायं च, प्रणिधाय जितेन्द्रियः ।

आलीनगुप्तो निषीदेत्, सकाशे गुरोर्मुनिः ॥ ४५ ॥

‘हत्थं०’—हस्तं पादं च कायं च प्रणिधाय—सङ्कोच्य जितेन्द्रिय आसामस्त्येन लीनः—उपयुक्तः, गुप्तो
गुमिभिर्निषीदेत् सकाशे गुरोर्मुनिः ॥ ४५ ॥

न पक्सओ न पुरओ नेव किच्चाण पिठुओ ।

न य ऊरुं समासिज्जा(त्ता) चिट्ठिज्जा गुरुणतिए ॥ ४६ ॥

छा० न पक्षतो न पुरतः, नैव कृत्यानां पृष्ठतः ।

न च ऊरु समाश्रित्य, तिष्ठेदुर्वान्तिके ॥ ४६ ॥

अध्य० ८

‘न पक्षतो०’—न पक्षतः—पार्श्वतः, न पुरतोऽग्रतः, नैव कृत्यानामाचार्याणां पृष्ठतो निषीदेदिति वतते, अविनयवन्दमानाऽन्तरायाऽदर्शनादिदोषात्, न चोरं समाश्रित्य—ऊरुरुपरि ऊरुं कृत्वा तिष्ठेद् गुर्वान्तिक ॥ ४६ ॥
उक्तः फायप्रणिधिः, वाक्प्रणिधिमाह—

अपुच्छिओ न भासिज्जा भासमाणस्स अंतरा ।

पिड्ढिमंसं न खाइज्जा मायामोसं विवज्जए ॥ ४७ ॥

छा० अपृष्टो न भापेत, भाषमाणस्याऽन्तरा ।

पृष्ठमांसं न खादेत्, मायामृषां विवर्जयेत् ॥ ४७ ॥

‘अपुच्छिओ०’—अपृष्टो न भापेत भाषमाणस्य चाऽन्तरे, तथा पृष्ठमांसं—परोक्षदोषकीर्तिरूपं न खादेत्—न भापेत मायां मृषां विवर्जयेत् ॥ ४७ ॥

॥ २५२ ॥

अप्पत्तिअं जेण सिआ आसु. कुप्पिज्ज वा परो ।

सव्वसो तं न भासिज्जा भासं अहिअगामिणिं ॥ ४८ ॥

दशवं
॥ ५५३ ॥

छा० अप्रीतिर्येन स्यात्, आशु कुप्येद्वा परः ।

सर्वशस्तां न भाषेत, भाषामहितगामिनीम् ॥ ४८ ॥

‘अप्यात्तिअं०’—‘अप्रीतिर्येनेति [प्राकृतत्वाद्] यया भाषितया स्यात्, आशु कुप्येद्वा नरः, सर्वशस्तां भाषां न भाषेत, अहितगामिनीम्—अहिते नरकादौ गमयतीत्येवंशीलाम् ॥ ४८ ॥ यथा भाषेत तथाऽऽह—

द्विट्वं मिअं असंदिद्धं पड्डिपुण्णं विअं जिअं ।

अयंपिरमणुब्बिगं भासं णिसिर अत्तवं ॥ ४९ ॥

छा० दृष्टां मितामसन्दिग्धां, प्रतिपूर्णां व्यक्तां जिताम् ।

अजल्पाकीमनुद्विग्नां, भाषां निसृजेदात्मवान् ॥ ४९ ॥

‘द्विट्वं०’—दृष्टार्थविषयां दृष्टां मितां—स्तोकामसन्दिग्धां—स्फुटां प्रतिपूर्णां—स्वरादिभिर्व्यक्त्याम्—अलङ्घ्यां जितां—परिचिताम् अजल्पनशीलां—नोद्देशनाऽतिनीचैरनुद्विग्नां—नोद्देशकारिणीम्, एवम्भूतां भाषां निसृजेत्—वदेत्, आत्मवान्—सचेतनः ॥ ४९ ॥ पुनश्च—

आयारपण्णत्तिधरं दिट्ठिवायमहिज्जगं ।

वायविक्खल्लिअं नच्चा न तं उवहसे मुणी ॥ ५० ॥

छा० आचारप्रज्ञातिधरं, दृष्टिवादमध्येतारम् ।

वाग्विस्खलितं ज्ञात्वा, न तमुपहसेन्मुनिः ॥ ५० ॥

‘आचार०’—आचारप्रज्ञप्तिधरं—आचारधरः स्त्रीलिङ्गादीनि जानाति प्रज्ञप्तिधरस्तु तान्येव सविशेष-
णानीत्येवम्भूतं, दृष्टिवादमधीयानं—प्रकृतिप्रत्ययलोपाऽऽगमवर्णविकारकालकारकादिवेदिनं वाग्विस्खलितं ज्ञात्वा न
तम्—आचारादिधरमुपहसेन्मुनिः ॥ ५० ॥

अध्य० ८-

नक्षत्रं सुमिणं जोगं निमित्तं मन्त्रभेदजं ।

गिहिणो तं न आइक्खे भूआहिगणं पयं ॥ ५१ ॥

छा० नक्षत्रं स्वप्नं योगं, निमित्तं मन्त्रभेदजम् ।

गृहिणस्तन्नाऽऽचक्षीत, भूताधिकरणं पदम् ॥ ५१ ॥

‘नक्षत्रं०’—नक्षत्रमभिव्यादि यात्राद्यर्थं, स्वप्नं शुभाशुभफलम्, अनुभूतादि, योगं वशीकरणादि,
निमित्तमतीतादि, मन्त्रं वृश्चिकमन्त्रादि, भेदजमतीसारार्थपदम्, गृहिणः पृच्छतस्तन्नक्षत्रादि नाऽचक्षीत, किंविशि-
ष्टम् ? भूताऽधिकरणं पदम्—भूतान्येकेन्द्रियादीनि संघट्टनादिना अधिक्रियन्ते—व्यापाद्यन्तेऽस्मिन्निति भूताऽधिकरणम्,
ततश्च तेषां प्रश्ने एवं ब्रूयात्—‘अनाधिकारोऽत्र साधूनाम्’ ॥ ५१ ॥

अण्णट्ठं पगढं लयणं भइज्ज सयणासणं ।

उच्चारभूमिसंपण्णं इत्थीपसुविवज्जिअं ॥ ५२ ॥

छा० अन्यार्थं प्रकृतं लयनं, भजेत शयनाऽऽसनम् ।

उच्चारभूमिसम्पन्नं, स्त्रीपशुविवर्जितम् ॥ ५२ ॥

॥ २५४ ॥

‘अण्णट्टं०’—अन्यदर्थं न साध्वर्थं प्रकृतं—निर्वर्तितं लयनं—स्थानं—वसतिरूपं भजेत—सेवेत, तथा शयनाऽऽ-
सनमिति—अन्यार्थं प्रकृतं संस्तारकपीठकादि सेवेतेत्यर्थः, उच्चार-भूमिसम्पन्नम्—उच्चार-प्रसवणादिभूमियुक्तं स्त्री-
पराविवर्जितम् ॥ ५२ ॥ ईदृशं लयनं सेवमानस्य धर्मकथाविधिमाह—

विविक्ता य भवे सिज्जा नारीणं न लेवे कहं ।

गिहिसंथवं न कुज्जा कुज्जा साहूहिं संथवं ॥ ५३ ॥

छा० विविक्ता च भवेच्छय्या, नारीणां न लेपेत्कथाम् ।

गृहिसंस्तवं न कुर्यात्, कुर्यात्साधुभिः संस्तवम् ॥ ५३ ॥

‘विविक्ता०’—विविक्ता च तदन्यसाधुभी रहिता ‘च’—शब्दात्तथाविधभुजङ्गमायैकपुरुषयुक्ता च भवेच्छय्या—
वसतिः, यदि ततो नारीणा न लेपेत्कथाम्, शङ्कादिदोषप्रसङ्गात्, पुंसान्तु कथेयत्, अविविक्ताया नारीणामपीति,
गृहिसंस्तव—गृहपरिचयं न कुर्यात्, कुर्यात्साधुभिः संस्तवम् ॥ ५३ ॥ विशेषतः स्त्रीसंस्तवो न कर्तव्य एव, अत्र
कारणमाह—

जहा कुक्कुटपोअस्स निच्चं कुललओ भयं ।

एवं खु बंभयारिस्स इत्थीविग्गहओ भयं ॥ ५४ ॥

छा० यथा कुक्कुटपोतस्य, सदा कुललतो भयम् ।

एवं सत्तु ब्रह्मचारिणः, स्त्रीविग्रहतो भयम् ॥ ५४ ॥

‘जहा०’—यथा कुक्कुटपोतस्य नित्यं कुललतो भयं—मार्जारद्वयम्, एवमेव ब्रह्मचारिणः साधोः स्त्रीविग्र-
हात्—स्त्रीशरीराद् भयम्, विग्रहग्रहणं मृतविग्रहादपि भयव्यापनाऽर्थम् ॥ ५४ ॥ अतः—

चित्तभित्तिं न निज्ज्ञाए नारिं वा सुअलंकिअं ।

भक्स्वरं पिव ददुणं दिट्ठिं पडिसमाहरे ॥ ५५ ॥

छा० चित्रभित्तिं न निध्यायेत्, नारीं वा स्वलङ्कृताम् ।

भास्करमिव दृष्ट्वा, दृष्टिं प्रतिसमाहरेत् ॥ ५५ ॥

‘चित्त०’—चित्रगतां स्त्रियं न निरीक्षेत, नारीं वा सचेतनामेव स्वलङ्कृताम्, उपलक्षणमेतत्, अनलङ्कृतां वा
न निरीक्षेत, कथञ्चिद्दर्शनयोगेऽपि भास्करमिव—आदित्यमिव दृष्ट्वा दृष्टिं प्रतिसमाहरेत्—द्रागेव निवर्तयेत् ॥ ५५ ॥

किंचिदुना—

हत्थपायपडिच्छिण्णं कण्णणासविगप्पिअं ।

अवि वाससयं नारिं वंभयारी विवज्जए ॥ ५६ ॥

छा० हस्तपादप्रतिच्छिन्नां, कर्णनासाविकल्पिताम् ।

अपि वर्षशतां नारीं, ब्रह्मचारी विवर्जयेत् ॥ ५६ ॥

‘हत्थ०’—हस्तपादप्रतिच्छिन्नामिति प्रतिच्छिन्नहस्तपादां कर्णनासाविकृतां—विकृतकर्णनासाम्, अपि वर्ष-
शतिकां विकृतां नारीं ब्रह्मचारी विवर्जयेत् ॥ ५६ ॥ अपि च—

अध्य० ८

॥ २५६ ॥

विभूसा इत्थिसंसर्गो पणीअं रसभोजनं ।

नरस्सत्तगवेसिस्स विसं तालउडं जहा ॥ ५७ ॥

छा० विभूपा स्त्रीसंसर्गः, प्रणीतं रसभोजनम् ।

नरस्याऽऽत्मगवेपिणः, विपं तालपुटं यथा ॥ ५७ ॥

‘विभूसा०’—विभूपा—नखकेशादिसत्काररूपा, स्त्रीसंसर्गः, प्रणीतरसभोजनं—गलत्स्नेहम्, एतत्सर्वमेव विभूपादि नरस्याऽऽत्मगवेपिणः—आत्महिताऽन्वेषणपरस्य विपं तालपुटं यथा ॥ ५७ ॥

अंगपच्चंगसंठाणं चारुल्लविअपेहिअं ।

इत्थीणं तं न निज्झाए कामरागविवट्ठणं ॥ ५८ ॥

छा० अङ्गप्रत्यङ्गसंस्थानं, चारुल्लपितप्रेक्षितम् ।

स्त्रीणां तं न निर्ध्यायेत्, कामरागविवर्द्धनम् ॥ ५८ ॥

‘अंगपच्चंग०’—अङ्गप्रत्यङ्गसंस्थानम्—अङ्गानि—शिरःप्रभृतीनि प्रत्यङ्गानि—नयनादीनि, एतेषां संस्थानं—विन्यासविशेषं चारु लपितप्रेक्षितं स्त्रीणामङ्गादीनि न निरीक्षेत कामरागविवर्द्धनमिति ॥ ५८ ॥

विसएसु मणुण्णेषु पेमं नाभिनिवेसए ।

अणिच्चं तेसिं विण्णाय परिणामं पोग्गलाण उ ॥ ५९ ॥

छा० विषयेषु मनोज्ञेषु, प्रेम नाभिनिवेशयेत् ।
अनित्यं तेषां विज्ञाय, परिणामं पुद्गलानां तु ॥ ५९ ॥

‘विसृष्टं’—विषयेषु मनोज्ञेषु प्रेमरागं नाभिनिवेशयेत्—न कुर्यात्, अमनोज्ञेषु द्वेषं न कुर्यात्, आह—
उक्तमेवेदं प्राक् ‘कण्ठगुक्खेहिं सदेहिं’ इत्यादि, किमर्थः पुनरुपन्यासः ? इत्युच्यते—कारणविशेषाऽभिधानेन
विशेषोपलम्भार्थमिति, आह च—अनित्यमेव परिणामाऽनित्यतया तेषां पुद्गलानान्तु शब्दादिविषय—सम्बन्धिना-
मिति योगः, विज्ञाय जिनवचनानुसारेण, किमित्याह—परिणामं—पर्यायान्तराऽऽपत्तिलक्षणम् ॥ ५९ ॥ इदमेव स्पष्टयन्नाह—

पुग्गलाण परीणामं तेसिं नच्चा जहा तथा ।

विणीयतिण्हे विहरे सीईभूएण अप्पणा ॥ ६० ॥

छा० पुद्गलानां परिणामं, तेषां ज्ञात्वा यथा तथा ।

विनीततृष्णो विहरेत्, शीतीभूतेनाऽऽत्मना ॥ ६० ॥

‘पुग्गलाण०’—पुद्गलानां—शब्दादिविषयान्तर्गतानां परिणामं तेषां ज्ञात्वा, यथा मनोज्ञेतरूपतया
भवन्ति तथा ज्ञात्वा, विनीततृष्णोऽपेताऽमिलापो विहरेत्, शीतीभूतेन—क्रोधाद्यग्न्यभावात्प्रशान्तेनाऽऽत्मना ॥ ६० ॥
किञ्च—

जाइ सद्धाइ निक्खंतो परिआयट्ठाणमुत्तमं ।

तमेव अणुपालिज्जा गुणे आयरियसम्मए ॥ ६१ ॥

छा० यया श्रद्धया निष्क्रान्तः, पर्यायस्थानमुत्तमम् ।
तामेवाऽनुपालयेत्, गुणानाऽऽचार्यसम्मतान् ॥ ६१ ॥

अध्य० ८

‘जा६०’-यया श्रद्धया प्रधानगुणस्वीकरणरूपया निष्क्रान्तो गृहवासात्-पर्यायस्थानमुत्तमं प्राप्तः, तामेव
भक्षामनुपालयेत्-प्रवर्द्धमानां कुर्यात्, फेत्याह गुणे-लोकोत्तररूपे-आचार्यसम्मते ॥ ६१ ॥ कलमाह-

तत्तं चिमं संजमजोगयं च ।
सज्ज्ञायजोगं च सया अहिङ्गए ॥
सूरुव्य सेणाइ समत्तमाउहे ।
अलमप्पणो होइ अलं परेसिं ॥ ६२ ॥

छा० तपश्चेदं संयमयोगं च ।
स्वाध्याययोगं च सदाऽधितिष्ठेत् ॥
शूर इव सेनया समस्ताऽऽ(समात्ताऽऽ)युधः ।
अलमात्मने भवत्यलं परेभ्यः ॥ ६२ ॥

॥ १५९ ॥

‘तत्तं०’-तपश्चेदमनशानादिरूपं संयमयोगं च-संयमव्यापारम्, स्वाध्याययोगं च-वाचनाऽदि सदाऽधि-
ष्ठाता-तपःप्रभृतीनां कर्ता इत्यर्थः, स एवभूतः शूर इव सेनया चतुरङ्गरूपया-इन्द्रियरूपायादिरूपया सेनया निरुद्धः

सन् समावायुधः-सम्पूर्णतपःप्रभृतिखट्वाद्यायुधः, अलमात्मनो भवति संरक्षणाय, अलं परेषां च ॥ ६२ ॥
एतदेव स्पष्टयन्नाह—

सज्ज्ञाय-सज्ज्ञाणस्यस्त ताडणो ।

अपावभावस्त तवे स्यस्त ॥

विसुज्झइ जंसि मलं पुरेकडं ।

समीरिअं रूपमलं व जोइणा ॥ ६३ ॥

छा० स्वाध्याय-सद्ब्रह्मचरतस्य त्रायिणः ।

अपावभावस्य तपसि रतस्य ॥

विशुद्ध्यते यस्मिन्(यदस्य) मलं पुराकृतम् ।

समीरितं रूप्यमलमिव ज्योतिषा ॥ ६३ ॥

‘सज्ज्ञाय०’-स्वाध्याय सद्ब्रह्मचरतस्य त्रातुरपावभावस्य-लब्ध्यायपेक्षारहितया शुद्धचित्तस्य तपसि रतस्य विशुद्ध्यते-अपेति यदस्य साधोर्मलं-कर्ममलं पुराकृतम्-जन्मान्तरोपाचम्, दृष्टान्तमाह-समीरितं-प्रेरितं रूप्य-मलमिव ज्योतिषाऽग्निना ॥ ६३ ॥ ततश्च—

से तारिसे दुक्खसहे जिइंदिए ।

सुएण जुत्ते अममे अकिंचणे ॥

वशवि०
॥ २६० ॥

अध्या० ८

॥ २६० ॥

विराजद् कर्मघणामि अवगए ।

कसिणम्भपुडावगमे 'व चंदिमे ॥ ६४ ॥ ति बेमि ।

छा० स तादृशो दुःखसहो जितेन्द्रियः ।

श्रुतेन युक्तोऽममोऽकिञ्चनः ॥

विराजते कर्मघनेऽपगते ।

कृष्णाभ्रपुटाऽपगम इव चन्द्रमसि ॥ ६४ ॥ इति ब्रवीमि ।

‘से तारिसे०’—स तादृशः पूर्वोदितगुणयुक्तः साधुर्दुःखसहः—परीपहजेता जितेन्द्रियः, श्रुतेन युक्तः, अममः, अकिञ्चनः, विराजते कर्मघने—ज्ञानाऽवरणीयादिमेघेऽपगते सति कृत्स्नाऽभ्रपुटापगमे इव चन्द्रमा इति यथा कृत्स्ने कृष्णे वाऽभ्रपुटे अपगते चन्द्रो विराजते शरदि तद्दसौ अपेतकर्मघनः—समासादित—केवलाऽऽलोको विराजते । इति ब्रवी-
मीति पूर्ववत् ॥ ६४ ॥ इति आचारप्रणिध्यध्ययनस्याऽष्टमस्याऽवचूरिः ।

॥ आचारप्पणिहि-अज्झयणं अट्ठमं ॥

॥ इति आचारप्रणिध्यध्ययनमष्टमम् ॥



॥ अथ नवमाध्ययनम् ॥



दशमै०
॥ २६२ ॥

इहानन्तराध्ययने निरवयं वच आचारप्रणिहितस्य भवतीति तत्र येनवता भवितव्यमित्येतदुक्तम्, इह-
त्वाचारप्रणिहितो यथोचितविनयसम्पन्न एव भवतीत्येतदुच्यते, उक्तञ्च—

“आचारप्रणिहाणंमि, से सम्मं वट्टइ बुहे ।

णाणादीण विणीए जे, मोक्खट्टा निव्विगिच्छए ॥ १ ॥

इत्यनेन सम्बन्धेनायातमिदमध्ययनम् । तथा च सूत्रम्

थंभा व कोहा व मयप्पमाया ।

गुरुस्सगासे विणयं न सिक्खे ॥

सो चेव उ तस्स अभूइभावो ।

फलं व कीयस्स वहाय होइ ॥ १ ॥

छा० स्तम्भाद्वा क्रोधाद्वा मायाप्रमादात् ।

गुरोः सकाशे विनयं न शिक्षेत ॥

स चैव तु तस्याऽभूतिभावः ।

फलमिव कीचकस्य वधाय भवति ॥ १ ॥

अध्य०१(१)

॥ २६२ ॥

‘थंभा०’-ज्ञात्यादिभिरुत्तमोऽहमिति स्तम्भाद्वा, अहं गुरुभिराकुक्ष इति क्रोधाद्वा, मायाप्रमादात्-
शक्तोऽपि न शक्नोमीति मायातः, प्रमादात्-निद्रादेः, गुरोः सकाशे विनयं-ग्रहणाऽऽसेवनरूपं न शिक्षेत, स एव तु
स्तम्भादिर्विनयशिक्षाविघ्नहेतुस्तस्य जडमतेरभूतिभावः-असम्पद्भावः, वधाय भवति-गुणलक्षणभावप्राणविनाशाय
भवति, दृष्टान्तमाह-फलमिव कीचकस्य वधाय भवति, वंशो हि फले संजाते सति विनश्यतीत्यर्थः ॥ १ ॥ किञ्च-

अध्य०९(१)

जे आवि मांदित्ति गुरुं विइत्ता ।
टहरे इमे अप्पसुअत्ति नच्चा ॥
हीलंति मिच्छं पडिवज्जमाणा ।
करंति आसायण ते गुरूणं ॥ २ ॥

छा० ये चाऽपि मन्द इति गुरुं विदित्वा ।
टहरो(अल्पवयाः)ऽयमल्पश्रुत इति ज्ञात्वा ॥
हीलयन्ति(अनाद्वियन्ते) मिथ्यात्वं प्रतिपद्यमानाः ।
कुर्वन्त्याशातर्ना ते गुरूणाम् ॥ २ ॥

‘जे आवि०’-ये चाऽपि केचन द्रव्यसाधवो मन्द इति गुरुं विदित्वा-क्षयोपशमवैचित्र्यात् तन्त्रयुक्त्या-
ऽऽप्नोषनाऽऽद्यमर्थः सत्त्वशाविकल इति स्वमाचार्यं ज्ञात्वा, तथा कारणानन्तरस्थापितमप्राप्तवयसं ‘टहरोऽयम्’-

॥ १६३ ॥

अप्राप्तवया खल्वयम्, तथाऽल्पश्रुत इत्यनधीतागम इति विज्ञाय, किमित्याह—“हीलयन्ति असूर्यया ‘महाप्रज्ञस्त्वम्, बहुश्रुतस्त्वम्’ इत्येवं मिथ्यात्वं प्रतिपद्यमानाः”—इति गुरुर्न हीलनीय इति तत्त्वमन्यथाऽवगच्छतः कुर्वन्त्याशातनां—लघुतापादनरूपां ते द्रव्यसाधवो गुरुणामाचार्याणां तत्स्थापनाया अबहुमानेन, एकगुर्वाशातनायां सर्वेषामाशातनेति बहुवचनम्, अथवा कुर्वन्त्याशातनाम्—सम्यग्दर्शनादिभावापन्नासरूपां, ते गुरुणां सम्बन्धिनीं, तन्निमित्तत्वात् ॥ २ ॥ अतो न कार्या हीलनेत्याह—

एगर्द्ध मंदा वि भवंति एगे ।

डहरा वि अ जे सुअबुद्धोववेआ ॥

आयारमंता गुणसुद्धिअप्पा ।

जे हीलिआ सिहिरिव भास कुज्जा ॥ ३ ॥

छा० प्रकृत्या मन्दा अपि भवन्त्येके ।

अल्पवयसोऽपि च ये श्रुतबोधोपपेताः ॥

आचारवन्तो गुणसुस्थितात्मानः ।

येऽनादृताः शिखीव भस्म कुर्युः ॥ ३ ॥

१ ‘सूययाऽसूयया खिसयन्ति, सूययाऽतिप्रज्ञस्त्वं वयोवृद्धो बहुश्रुत इति, असूयया वा मन्दप्रज्ञस्त्वमित्यादि’ प्रत्यन्तरे ।

‘पगई०’—प्रकृत्या—स्वभावेन मन्दा अपि—सद्बुद्धिरहिता अपि भवन्त्येके केचन वयोवृद्धा अपि, तथा डहरा अपि चाऽपरिणता अपि च वयसाऽन्येऽमन्दा भवन्तीति वाक्यशेषः । किंविशिष्टाः? इत्याह—ये श्रुतबुद्ध्यु-
पेताः, तथा सत्प्रज्ञावन्तः श्रुतेन बुद्धिभावेन (वा) भाविनीं वृत्तिमाश्रित्य अल्पश्रुता इति, द्वयेऽप्याचारवन्तः—ज्ञानाद्या-
चारसमन्विताः, गुणसुस्थितात्मानः—संग्रहोपग्रहादिषु गुणेषु सुष्टु—भावसारं स्थित आत्मा येषां ते तथाविधा न
हीलनीयाः, ये हीलिताः शिखीव—अग्निरिव (इन्धनं) ‘भास’—भस्मसात्कुर्युः ॥ ३ ॥ विशेषेण डहरहीलनादोपमाह—

जे आवि नागं डहरं ति नच्चा ।

आसायए से अहिआय होइ ॥

एवापरिअं पि हू हीलयंतो ।

निअच्छइ जाइपहं खु मदे ॥ ४ ॥

छा० ये चाऽपि नागमल्पवयसमिति ज्ञात्वा ।

आशातयेयुः सोऽहिताय भवति ॥

एवमाचार्यमप्यनाद्रियमाणः ।

नियच्छति जातिपन्थानं खलु मन्दः ॥ ४ ॥

‘जे आवि०’—यश्चाऽपि कश्चिदज्ञो नागं डहरमिति ज्ञात्वा आशातयति—किलिञ्चादिना कदर्थयति स
दशवे०—२३

कदर्थ्यमानो नागः से-तस्य कदर्थकस्य अहिताय भवति, एवमाचार्यमपि हीलयन् आतिथ्यं(पन्थानं)-हीन्द्रिया-
विजातिमार्गं मन्दः-अज्ञः संसारे परिभ्रमतीति ॥ ४ ॥

आसीविसो वा वि परं सुरुद्धो ।
किं जीवनाशात् परं नु कुज्जा ॥
आयरिअपाया पुण अप्पसण्णा ।
अन्नोहि आसायण णत्थि मुक्खो ॥ ५ ॥
छा० आशीविपो वाऽपि परं सुरुद्धः ।
किं जीवनाशात् परं नु कुर्यात् ॥
आचार्यपादाः पुनरप्रसन्नाः ।
अन्नोधिमाशातनया नाऽस्ति मोक्षः ॥ ५ ॥

‘आसीविसो०’-आशीविपश्चाऽपि-सर्पोऽपि परं सुरुद्धः सन् किं जीवितनाशात्परं कुर्यात् ? आचार्य-
पादाः पुनरप्रसन्नाः किं कुर्वन्तीत्याह-अन्नोधिं-मिथ्यात्वं यतश्चैवमत आशातनया गुरोर्नाऽस्ति मोक्षः ॥ ५ ॥

जो पावगं जलिअमवक्कमिज्जा ।
आसीविसं वा वि नु कोवइज्जा ॥

इशवि०
॥ २६७ ॥

जो वा विसं खायइ जीविअट्ठी ।
एसोवमासायणया गुरूणं ॥ ६ ॥
छा० यः पावकं ज्वलितमपक्राम्येत् ।
आशीविषं वाऽपि हि कोपयेत् ॥
यो वा विषं खादति जीवितार्थी ।
एषोपमाऽऽशातनाया गुरूणाम् ॥ ६ ॥

‘जो पावकं’-यः पावकं ज्वलितम् सन्तमवक्रामेत्-अवष्टभ्य तिष्ठति, आशीविषं वाऽपि (हि) कोप-
येद्यो वा विषं खादति जीवितार्थी, एषा उपमा आशातनया गुरूणां सम्बन्धिन्या ॥ ६ ॥

सिआ हु से पावय णो डहिज्जा ।
आसीविसो वा कुविओ न भक्खे ॥
सिआ विसं हालहलं न मारे ।
न यावि मुक्खो गुरुहीलणाए ॥ ७ ॥
छा० स्याद्धि स पावको न दहेत् ।
आशीविषो वा कुपितो न भक्षयेत् ॥

अध्य०९(१)

॥ २६७ ॥

स्याद्विपं हालाहलं न मारयेत् ।

न चाऽपि मोक्षो गुर्ववज्ञया(गुरुहीलनातः) ॥ ७ ॥

‘सिआ०’—स्यात्कदाचिन्मन्त्रादिप्रतिबन्धादसौ पावको न दहेत्, आशीविषो वा कुपितो न मक्षयेत्,

स्यात्कदाचिद्विपं हालाहलम्—अतिरौद्रं न मारयेत्, एवमेतत्कदाचिद्भवति, न चाऽपि मोक्षो गुरुहीलनया ॥ ७ ॥

जो पव्वयं शिरसा भित्तुमिच्छे ।

सुप्तं च सिंहं प्रतिबोधयेत् ॥

जो वा दए सत्तिअग्गे पहारं ।

एसोवमासायणया गुरुणं ॥ ८ ॥

छा० यः पर्वतं शिरसा भेत्तुमिच्छेत् ।

सुप्तं च सिंहं प्रतिबोधयेत् ॥

यो वा ददीत शक्त्यग्रे प्रहारम् ।

एषोपमाऽऽशातनाया गुरुणाम् ॥ ८ ॥

‘जो पव्वयं०’—यः पर्वतं शिरसा भेत्तुमिच्छेत्, सुप्तं च सिंहं प्रतिबोधयेत्, यो वा शक्त्यग्रे प्रहारं ददाति हस्तेन, एषोपमाऽऽशातनाया गुरुणाम् ॥ ८ ॥ अत्र विशेषमाह—

अध्य०९(१)

॥ २६८

वशवि०
॥ २६९ ॥

सिआ हु सीसेण गिरिं पि भिंदे ।
सिआ हु सीहो कुविओ न भक्खे ॥
सिआ न भिंदिज्ज व सत्तिअग्गं ।
न यावि मुक्खो गुरुहीलणाए ॥ ९ ॥

छा० स्याद्धि शीर्षेण गिरिमपि भिन्द्यात् ।
स्याद्धि सिंहः कुपितो न भक्षयेत् ॥
स्यान्न भिन्द्याद्वा शक्त्यग्रम् ।
न चाऽपि मोक्षो गुर्ववज्ञया(गुरुहीलनातः) ॥ ९ ॥

‘सिआ हु०’—स्यात्कदाचित्प्रभावाच्छिरसा गिरिमपि भिन्द्यात्, स्यान्मन्त्रादिप्रभावात् सिंहः कुपितो न भक्षयेत्, स्याद्देवताऽनुग्रहादेर्न भिन्द्यात्—शक्त्यग्रे प्रहारं दत्तेऽपि, एवमेतत्कदाचिद्भवति, न चाऽपि मोक्षो गुरुहील-
नया ॥ ९ ॥

आयरियपाया पुण अप्पसण्णा ।
अवोहि आसायण णत्थि मुक्खो ॥

१ वासुदेवादिः (प्रभावातिशया) ।

अध्य०९(१)

॥ २६९ ॥

तम्हा अणाबाहसुहाभिकंखी ।
गुरुप्पसांयाभिमुहो रमिज्जा ॥ १० ॥
छा० आचार्यपादाः पुनरप्रसन्नाः ।
अबोधिमाशातनया नाऽस्ति मोक्षः ॥
तस्मादनाबाधसुखाभिकांक्षी ।
गुरुप्रसादाभिमुखो रमेत ॥ १० ॥

‘आयरिय०’—पूर्वार्द्धः पूर्ववत्, यस्मादेवं तस्मादनाबाधसुखाभिकांक्षी—मोक्षसुखाभिलाषी (साधुः) गुरु-
प्रसादाभिमुखो रमेत—वर्तेत ॥ १० ॥ कथं रमेत ? इत्याह—

जहाहिअग्गी जलणं नमंसे ।
नाणाहुइमंतपयाभिसित्तं ॥
एवायरिअं उवचिद्वइज्जा ।
अणंतणाणोवगओ वि संतो ॥ ११ ॥
छा० यथाऽऽहिताग्निर्ज्वलनं नमस्यति ।
नानाऽऽहुतिमन्त्रपदाभिषिक्तम् ॥

एवमाचार्यमुपतिष्ठेत् ।

अनन्तज्ञानोपगतोऽपि सन् ॥ ११ ॥

अध्य०९(१)

‘जहाद्विअग्गी०’—यथाऽऽहिताग्निर्ब्रह्मणोऽनलं नमस्यति ‘नाणाहुइ०’—नानाऽऽहुतिमन्त्रपदाभिषिक्तम्—
(तत्र) आहुतयो घृताद्याः, मन्त्रपदानि—‘अग्नये स्वाहा’ इत्यादीनि, तैरभिषिक्तम्, एवमग्निमिवाचार्यमुपतिष्ठेत्—
सेवेत, अनन्तज्ञानोपगतोऽपि सन् ॥ ११ ॥ एतदेव स्पष्टयति—

जस्सतिए धम्मपयाइं सिक्खे ।

तस्संतिए वेणइयं पउंजे ॥

सक्कारए सिरसा पंजलीओ ।

कायगिरा भो मणसा य निच्चं ॥ १२ ॥

छा० यस्यान्तिके धर्मपदानि शिक्षेत ।

तस्यान्तिके वैनयिकं प्रयुञ्जीत ॥

सत्कारयेच्छिरसा प्राञ्जलिकः ।

कायेन गिरा ‘भो’ मनसा च नित्यम् ॥ १२ ॥

‘जस्संतिए०’—यस्याऽन्तिके धर्मपदानि शिक्षेत तस्याऽन्तिके वैनयिकं प्रयुञ्जीत, सत्कारयेदभ्युत्थाना-

॥ २७१ ॥

तम्हा अणाबाहसुहाभिकंखी ।
गुरुप्पसायाभिमुहो रमिज्जा ॥ १० ॥

छा० आचार्यपादाः पुनरप्रसन्नाः ।
अबोधिमाशातनया नाऽस्ति मोक्षः ॥
तस्मादनाबाधसुखाभिकांक्षी ।
गुरुप्रसादाभिमुखो रमेत ॥ १० ॥

अध्या० ९ (१)

‘आयरिय०’—पूर्वाद्धिः पूर्ववत्, यस्मादेवं तस्मादनाबाधसुखाभिकांक्षी—मोक्षसुखामिलापी (साधुः) गुरु-
प्रसादाभिमुखो रमेत—वर्तेत ॥ १० ॥ कथं रमेत ? इत्याह—

जहाहिअग्गी जलणं नमंसे ।
नाणाहुइमंतपयाभिसित्तं ॥
एवायरिअं उवचिहुइज्जा ।
अणंतणाणोवगओ वि संतो ॥ ११ ॥

छा० यथाऽऽहिताग्निर्ज्वलनं नमस्यति ।
नानाऽऽहुतिमन्त्रपदाभिपिक्तम् ॥

॥ १७० ॥

एवमाचार्यमुपतिष्ठेत् ।
अनन्तज्ञानोपगतोऽपि सन् ॥ ११ ॥

अध्य० ९(१)

‘जहाहिभग्मी०’—यथाऽऽहिताभिर्बाह्विणोऽनलं नमस्यति ‘नाणाहुइ०’—नानाऽऽहुतिमन्त्रपदाभिषिक्तम्—
(तत्र) आहुतयो धृतायाः, मन्त्रपदानि—‘अमये स्वाहा’ इत्यादीनि, तैरभिषिक्तम्, एवमभिभिवाचार्यमुपतिष्ठेत्—
सेवेत, अनन्तज्ञानोपगतोऽपि सन् ॥ ११ ॥ एतदेव स्पष्टयति—

जस्सतिए धम्मपयाइं सिक्खे ।
तस्संतिए वेणइयं पउंजे ॥
सक्कारए सिरसा पंजलीओ ।
कायगिरा भो मणसा य निच्चं ॥ १२ ॥

छा० यस्यान्तिके धर्मपदानि शिक्षेत ।
तस्यान्तिके वैनायिकं प्रयुञ्जीत ॥
सत्कारयेच्छिरसा प्राञ्जलिकः ।
कायेन गिरा ‘भो’ मनसा च नित्यम् ॥ १२ ॥

॥ २७१ ॥

‘जस्संतिए०’—यस्याऽन्तिके धर्मपदानि शिक्षेत तस्याऽन्तिके वैनायिकं प्रयुञ्जीत, सत्कारयेद्भ्युत्थाना-

दिना, शिरसा प्राञ्जलिः सन्, कायेन गिरा—‘मस्तकेन वन्दे’ इत्यादिरूपया, ‘भो’ इति शिष्याऽऽमन्त्रणम्,
मनसा च नित्यं—सदैव ॥१२॥ एवं च मनसि कुर्यादित्याह—

अध्य०९(१)

दशवि०
॥ २७२ ॥

लज्जा दया संजम बंभचेरं ।
कल्याणभागिस्त विसोहिठाणं ॥
जे मे गुरु सययमणुसासयंति ।
तेऽहं गुरु सययं पूजयामि ॥ १३ ॥

छा० लज्जा—दया—संजम—ब्रह्मचर्यम् ।
कल्याणभाजो विशुद्धिस्थानम् ॥
ये मां गुरवः सततमनुशासयन्ति ।
तानहं गुरुन् सततं पूजयामि ॥ १३ ॥

‘लज्जा दया०’—लज्जा दया संजमो ब्रह्मचर्यम्, एतल्लज्जादि कल्याणभागिनः—मोक्षभागिनो जीवस्य
विशोधिस्थानं—कर्ममलापनयनस्थानम्, अनेन ये मां गुरवः सततमनुशासयन्ति तानहं गुरुन् सततं पूजयामि ॥१३॥

॥ २७२ ॥

जहा णिसंते तवणच्चिचमाली ।
पभासइ केवलभारहं तु ॥

एवापरिओ सुअसीलबुद्धिए ।

विरायइ सुरमज्जे व इंदो ॥ १४ ॥

छा० यथा निशान्ते तपनोऽर्चिर्माली ।

प्रभासते केवलभारतं तु ॥

एवमाचार्यः श्रुतशीलबुद्ध्या ।

विराजते सुरमध्य इव इन्द्रः ॥ १४ ॥

‘जहा०’—यथा निशान्ते—राज्यवसाने, दिवस इत्यर्थः, तपन्नर्चिर्माली—सूर्यः प्रभासयते—उद्योतयति केवलं—संपूर्णं भारतं, ‘तु’—शब्दादन्यच्च क्रमेण, एवं सूर्य इव आचार्यः श्रुतशीलबुद्ध्या युक्तः सन् प्रकाशयति जीवा-दितत्त्वान् । एवञ्च वर्तमानः साधुभिः परिवृतो विराजते सुरमध्य इव इन्द्रः ॥ १४ ॥

जहा ससी कोमुइजोगजुत्तो ।

नक्षत्त-तारागण-परिवुडप्पा ॥

रे सोहइ विमले अच्चमुक्के ।

एवं गणी सोहइ भिक्खुमज्जे ॥ १५ ॥

छा० यथा शशी क्रौमुदीयोगयुक्तः ।

नक्षत्र-तारागण-परिवृतात्मा ॥

दशवै०
॥ २७४ ॥

स्वे शोभते विमलेऽभ्रमुक्ते ।

एवं गणी शोभते भिक्षुमध्ये ॥ १५ ॥

‘जहा०’—यथा शशी—चन्द्रः कौमुदीयोगयुक्तः—कार्तिकपौर्णिमास्यामुदितमित्यर्थः, नक्षत्र-तारागण-परिवृताऽऽत्मा स्वे—आकाशे शोभते विमलेऽभ्रमुक्ते, एवं चन्द्र इव गणी-आचार्यः शोभते भिक्षुमध्ये—साधुमध्ये ॥ १५ ॥ किञ्च—

महागरा आयरिआ महेसी ।

समाहिजोगे सुअसीलबुद्धिए ॥

संपाविउकामे अणुत्तराई ।

आराहए तोसए धम्मकामी ॥ १६ ॥

छा० महाकरा आचार्या महर्षयः ।

समाधियोगेन श्रुतशीलबुद्ध्या ॥

सम्प्राप्तुकामोऽनुत्तराणि ।

आराधयेत्तोपयेद्धर्मकामी ॥ १६ ॥

‘महागरा०’—महाकराः—ज्ञानादिभावरत्नाकरा आचार्या महर्षिणः—मोक्षैषिणः ‘समाधियोगश्रुतशील-बुद्धिभिः’—समाधियोगैः—ध्यानविशेषैः, श्रुतेन—द्वादशाङ्गभ्यासेन, शीलेन—सदाचारेण, बुद्ध्या—औत्पत्तिक्यादिरूपया,

अध्य० ९(१)

॥ २७४ ॥

वशवि०
॥ १७५ ॥

अन्ये तु व्याचक्षते—समाधियोगश्रुतशीलबुद्धिनिः सहाकरा इति । सम्प्राप्तुकामोऽनुत्तराणि ज्ञानादीनि (तान्) आरा-
धयेत्, विनयकरणेन, न सकृदेव, अपि तु तोषयेत् तानेवम्भूतानाचार्यान्, धर्मकामी—साधुः ॥ १६ ॥

सुच्चाण मेहावि सुभांसिआइं ।

सुस्सुसइ आयरिअ अप्पमत्तो ॥

आराहइत्ताण गुणे अणेमे ।

से पावइ सिद्धिमणुत्तरं ॥ १७ ॥ त्ति वेमि ।

छा० श्रुत्वा मेधावी सुभाषितानि ।

शुश्रूषत आचार्यमप्रमत्तः ॥

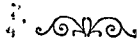
आराध्य गुणाननेकान् ।

स प्राप्नोति सिद्धिमनुत्तराम् ॥ १७ ॥ इति ब्रवीमि ।

‘सुच्चाण०’—श्रुत्वा मेधावी सुभाषितानि—गुर्वाराधनाकलाऽभिधायीनि शुश्रूषयेद्वाचार्यान्, अप्रमत्तः—यतिः, य
एव गुरुशुश्रूषापरः स आराध्य गुणान् अनेकान् प्राप्नोति सिद्धिमनुत्तराम् ॥ १७ ॥ इति ब्रवीमीति पूर्ववत् । इति विनय-
समाध्यध्ययनस्य नवमस्य पथमोद्देशाऽवचूर्णः ।

अध्य०९(१)

॥ १७५ ॥



॥ अथ द्वितीयोद्देशः ॥



विनयाऽधिकारवानेव द्वितीय उच्यते—

मूलाऽखंधप्पभवो द्रुमस्स ।
खंधाऽपच्छा समुविंति साहा ॥
साहप्पसाहा विरुहंति पत्ता ।
तओ सि पुप्फं च फलं रसो अ ॥ १ ॥

छा० मूलात्स्कन्धप्रभवो द्रुमस्य ।
स्कन्धात्पश्चात्समुद्यन्ति शाखाः ॥
शाखाप्रशाखाभ्यो विरोहन्ति पत्राणि ।
ततस्तस्य पुष्पं च फलं रसश्च ॥ १ ॥

‘मूलाऽ’—मूलात् स्कन्धप्रभवः—स्थूढोत्पत्तिर्द्रुमस्य, स्कन्धात् पश्चात्—तदनु समुपयान्ति शाखाः, शाखाभ्यः प्रशाखाः, ‘विरुहंति’ति—विरोहन्ति—जायन्ते, तेभ्योऽपि विरोहन्ति पत्राणि, ततः से—तस्य द्रुमस्य पुष्पं च फलं च रसश्च ॥१॥ दृष्टान्तमुक्त्वा दार्ष्टान्तिकयोजनामाह—

१ छान्दसत्वात् ‘से’ इति स्थाने ‘सि’ ।

अध्य०९(२)

॥ २७६ ॥

एवं धम्मस्स विणओ मूलं परमो से मुक्खो ।
जेण किंतिं सुअं सिग्घं णिस्सेसं चाभिगच्छइ ॥ २ ॥
छा० एवं धर्मस्य विनयो मूलं, परमस्तस्य मोक्षः ।
येन कीर्तिं श्रुतं शीघ्रं, निःशेषं चाभिगच्छति ॥ २ ॥

अध्या०९(१)

‘एवं धम्मस्स०’—एवं धर्मकल्पवृक्षस्य विनयो मूलं, परमः—प्रधानरसकल्पः से—तस्य विनयमूलस्य मोक्षः,
स्कन्धादिकल्पानि सुराऽसुरसुखानि, येनेति [तृतीया पञ्चम्यर्थे] यतो विनयात् पत्रकल्पां कीर्तिं, पुष्पकल्पं श्रुतं,
श्लाघ्यं निःशेषं—सम्पूर्णं चाऽऽभिगच्छति—प्राप्नोति ॥२॥ अविनयवतो दोषमाह—

जे अ चंडे मिए थद्धे दुब्बाई निअडी सढे ।
वुज्झइ से अविणीअप्पा कट्ठं सोअगयं जहा ॥ ३ ॥
छा० यश्च चण्डो मृगः स्तब्धः, दुर्वादी निकृती शठः ।
उह्यतेऽसावविनीतात्मा, काष्ठं श्रोतोगतं यथा ॥ ३ ॥

‘जे अ०’—यश्च चण्डः—रोषणः, मृगः—भूखः, स्तब्धः—ज्ञात्यादिमदोन्मत्तः, दुर्वादी—अप्रियवक्ता, निकृ-
तिमान्—मायावी, शठः—संयमयोगेष्चनाहतः, एतेभ्यो दोषेभ्यो यो विनयं करोति, ‘वुज्झइ’ति उह्यते स संसार-
स्रोतसा अविनीतात्मा, किमिवेत्याह—काष्ठं स्रोतोगतं यथा ॥ ३ ॥ किञ्च—

॥ २७७ ॥

विणयस्मि जो उवाएण चोइओ कुप्पइ नरो ।

दिव्वं सो सिरिमिज्जंतिं दंढेण पडिसेहए ॥ ४ ॥

छा० विनये य उपायेन, नोदितः कुप्यति नरः ।

दिव्यां स श्रियमायान्तीं, दण्डेन प्रतिपेधयति ॥ ४ ॥

अध्या० ९(२)

‘विणयस्मि०’—विनये य उपायेन—प्रका(एका)न्तमृदुरूपेण चोदितः—उक्तः कुप्यति नरः, दिव्यां स पुमान् श्रियमागच्छन्तीं दण्डेन प्रतिपेधयति ॥ ४ ॥ अविनयदोषमाह—

तहेव अविणीअप्पा उववज्झा हया गया ।

दीसंति दुहमेहंता आभिओगमुवट्ठिआ ॥ ५ ॥

छा० तथैवाविनीतात्मानः, उपवाह्या हया गजाः ।

दृश्यन्ते दुःखमेधयन्तः, आभियोग्यमुपस्थिताः ॥ ५ ॥

‘तहेव०’—तथैव इति, तथा चैते अविनीतात्मानः—विनयरहिता अनात्मज्ञाः, उपवाह्यानां राजादिवल्ल-
मानां एते कर्मकरा इति औपवाह्या हया गजाः, उपलक्षणमेतत्, महिषिकादीनामिति । एते किमित्याह—दृश्यन्ते
अविनयदोषेण तृणादिवोद्वारः, दुःखमेधमानाः, अनेकार्थत्वात्, अनुभवन्तः, आभियोग्यं—कर्मकरत्वमुपस्थिताः—प्राप्ताः
॥५॥ एतेनैव विनयगुणमाह—

॥ २७८ ॥

तदेव सुविणीअप्पा उववज्झा हया गया ।

दीसंति सुहमेहंता इद्धिं पत्ता महाजसा ॥ ६ ॥

छा० तथैव सुविनीतात्मानः, उपवाह्या हया गजाः ।

दृश्यन्ते सुखमेधयन्तः, ऋद्धिं प्राप्ता महायशसः ॥ ६ ॥

‘तदेव०’—तथैव सुविनीतात्मान औपवाह्या हया गजा दृश्यन्ते विनयगुणेन सुखमेधमानाः, ऋद्धिं प्राप्ताः—विशिष्टभूषणालयभोजनादिभावतः प्राप्त्यर्थः, महायशसः—विख्यातसद्गुणाः ॥ ६ ॥ उक्तस्तिर्यच्चाभित्य विनयः, इदानीं मनुष्यानाधिकृत्याह—

तदेव अविणीअप्पा लोगंसि नरनारीओ ।

दीसंति दुहमेहंता छाया ते विगलिंदिआ ॥ ७ ॥

छा० तथैवाविनीतात्मानः, लोके नरनार्यः ।

दृश्यन्ते दुःखमेधयन्त्यः, छायास्ते विकलेन्द्रियाः ॥ ७ ॥

‘तदेव०’—तथैवाविनीतात्मानो लोकेऽस्मिन्—मनुष्यलोके नरनार्यो दृश्यन्ते दुःखमेधमानाः, छायाः(ताः)—कशपातव्रणाङ्कितशरीराः, विगलितेन्द्रियाः—अपनीतनासिकादीन्द्रियाः पारदारिकावय इति ॥ ७ ॥

दंडसत्थपरिजुण्णा असब्भवयणोहि अ ।

कलुणा विवण्णच्छंदा खुप्पिवासाइ परिगया ॥ ८ ॥

छा० दण्डशस्त्रपरिजीर्णाः, असम्यवचनैश्च ।

करुणा व्यापन्नच्छन्दसः, क्षुत्पिपासादि-परिगताः ॥ ८ ॥

‘दण्डसत्थ०’-दण्डशस्त्राभ्या परिजीर्णाः-समन्ततो दुर्बलभावमापादिताः, असम्यवचनैश्च परिजीर्णाः, करुणाः-दीनाः, सता करुणासदीभूताः, आपन्नच्छन्दसः-परायत्ततयाऽपेतस्वामिप्रायाः, क्षुधा-बुभुक्षया पिपासाया-पानेच्छया परिगताः-व्याधाः ॥ ८ ॥ विनयफलमाह—

तहेव सुविणीअप्पा लोगंसि नरनारीओ ।

दीसंति सुहमेहंता इद्धिं पत्ता महाजसा ॥ ९ ॥

छा० तथैव सुविनीतात्मानः, लोके नरनार्यः ।

दृश्यन्ते सुखमेधयन्त्यः, ऋद्धिं प्राप्ता महायशसः ॥ ९ ॥

‘तहेव०’-तथैव सुविनीताऽऽत्मानो लोकेऽस्मिन् नरनार्यो दृश्यन्ते सुखमेधमाना ऋद्धिं प्राप्ता महा-यशसः ॥ ९ ॥ देवानधिकृत्याह—

तहेव अविणीअप्पा देवा जक्खा य गुज्झगा ।

दीसंति दुहमेहंता आभिओगमुवट्ठिआ ॥ १० ॥

छा० तथैवाविनीतात्मानः, देवा यक्षाश्च गुह्यकाः ।

दृश्यन्ते दुःखमेधयन्तः, आभियोग्यमुपस्थिताः ॥ १० ॥

अध्य० १(२)

॥ २८० ॥

‘तद्देव०’—तथैवाऽविनीताऽऽत्मानो भवान्तरे अकृतविनया देवा यक्षाश्च व्यन्तराश्च गुह्यकाः—भवनवासिनः,
ते—एते दृश्यन्ते आगमभावचक्षुषा दुःस्वमेधमानाः, पराऽऽज्ञाकरण—परऋद्धिदर्शनादिना, आभियोग्यमुपस्थिताः
॥ १० ॥ विनयफलमाह—

अध्य०९(२)

तद्देव सुविणीअप्पा देवा जक्खा य गुज्झगा ।

दीसन्ति सुहमेहंता इड्ढिं पत्ता महाजसा ॥ ११ ॥

छा० तथैव सुविनीतात्मानः, देवा यक्षाश्च गुह्यकाः ।

दृश्यन्ते सुखमेधयन्तः, ऋद्धिं प्राप्ता महायशसः ॥ ११ ॥

‘तद्देव०’—तथैव सुविनीताऽऽत्मानो देवा यक्षाश्च गुह्यका दृश्यन्ते सुखमेधमाना ऋद्धिं प्राप्ता महोयशसः
॥ ११ ॥ लौकिकविनयाऽविनयफलमुक्तम्, अधुना विशेषतो लोकोत्तरविनयफलमाह—

जे आयरिअउवज्झायाणं सुस्सूसा-वयणं-करा ।

तेसिं सिक्खा पवड्ढन्ति जलसित्ता इव पायवा ॥ १२ ॥

छा० य आचार्योपाध्यायानां, शुश्रूषा-वचन-कराः ।

तेषां शिक्षाः प्रवर्द्धन्ते, जलसित्ता इव पादपाः ॥ १२ ॥

‘जे आय०’—ये आचार्योपाध्याययोः शुश्रूषावचनकराः, तेषां शिक्षाः—ग्रहणाऽऽसेवनरूपाः प्रवर्द्धन्ते,
जलसित्ता इव पादपाः ॥ १२ ॥ एतच्च मनस्याधाय विनयः—कार्य इत्याह—

॥ २८१ ॥

अप्पणद्धा परद्धा वा सिप्पा णेउणिआणि अ ।

गिहिणो उवमोगद्धा एहलोगस्स कारणा ॥ १३ ॥

छा० आत्मार्थं परार्थं वा, शिल्पानि नेपुण्यानि च ।

गृहिण उपभोगार्थम्, इहलोकस्य कारणात् ॥ १३ ॥

अध्य० १(२) -

‘अप्पणद्धा०’—आत्मार्थं वा—आत्मनिमित्तं वा, अनेन मे जीविका भविष्यतीति, परार्थं वा—परनिमित्तं वा, पुत्रमहं शास्त्रं ग्राहयिष्यामि, इत्येवं शिल्पानि—कुम्भकारक्रियादीनि नेपुण्यानि च—चित्रादिकलाकौशलानि, गृहिणोऽसंयता उपभोगार्थम्—अन्नपानादिभोगाय शिक्षन्ते इति शेषः, इहलोकस्य कारणम्—निमित्तम् ॥ १३ ॥

जेण बंधं वधं घोरं परिआवं च दारुणं ।

सिक्खमाणा निअच्छंति जुत्ता ते ललिहंदिआ ॥ १४ ॥

छा० येन बन्धं वधं घोरं, परितापं च दारुणम् ।

शिक्षमाणा नियच्छन्ति, युक्तास्ते ललितेन्द्रियाः ॥ १४ ॥

‘जेण०’—येन शिल्पादिना शिक्ष्यमाणेन बन्धं—निगडादिभिः, वधं—कृपादिभिः, घोरं—रौद्रं परितापं च दारुणं—निर्भर्त्सनादिवचनजनितं शिक्षमाणा गुरोः सकाशान्ते(निय)च्छन्ति—प्राप्नुवन्ति, युक्ताः—नियुक्ताः शिल्पादिग्रहणे ते ललितेन्द्रियाः—गर्भेश्वरराजपुत्रादयः ॥ १४ ॥

॥ २८२ ॥

ते विमं(वि तं) गुरुं पूअंति तस्स सिप्पस्स कारणा ।

सत्कारंति नमंसंति तुट्ठा निद्देशवर्तिणो ॥ १५ ॥

छा० तेऽपीमं(पि तं) गुरुं पूजयन्ति, तस्य शिल्पस्य कारणात् ।

सत्कारयन्ति नमस्यन्ति, तुट्ठा निर्देशवर्तिनः ॥ १५ ॥

‘ते वि०’—तेऽपि तं गुरुं बन्धादिकारकमपि पूजयन्ति प्रणामादिना तस्य शिल्पस्येत्वरस्य कारणात्—तान्नि-
मित्तत्वादिति भावः, सत्कारयन्ति वस्त्रादिना, नमस्यन्ति अक्षलिप्रग्रहणादिना, दृष्ट्वा (तुट्ठाः—हृष्टाः) निर्देशवर्तिनः
॥ १५ ॥ अतः—

किं पुण जे सुअग्गाही अणंतहिअकामए ।

आयरिआ जं वए भिक्खू तम्हा तं नाइवत्तए ॥ १६ ॥

किं पुनर्यः श्रुतग्राही, अनन्तहितकामकः ।

आचार्या यद्वदेयुः, भिक्षुस्तस्मात्तन्नातिवर्तयेत् ॥ १६ ॥

‘किं पुण०’—किंपुनर्यः साधुः श्रुतग्राही, अनन्तहितकामकः—मोक्षकामी, तेन तु सुतरां गुरवः पूजनीयाः,
यतश्चैवमत आचार्या यद्वदन्ति भिक्षुस्तस्मात्तदाचार्यवचनं नातिवर्तयेत्, सर्वमेव संपादयेत् ॥ १६ ॥ विनयोपायमाह—

नीअं सिज्जं गइं ठाणं नीअं च आसणाणि अ ।

नीअं च पाए वंदिज्जा नीअं कुज्जा य अंजलिं ॥ १७ ॥

छा० नीचां शय्यां गतिं स्थानं, नीचानि चाऽऽसनानि च ।

नीचं च पादौ वन्देत्, नीचं कुर्याच्चाऽञ्जलिम् ॥ १७ ॥

‘नीचं०’-नीचां शय्यां-संस्तारकरूपम्, आचार्यशय्यायाः सकाशादिति योगः, नीचां गतिं-तत्पृष्ठतो नाऽतिदूरे नाऽतिद्वृते, नीचं स्थानम्-आचार्यस्थानात्, नीचानि आसनानि-पीठकादीनि, नीचं च-अवनतोत्तमाङ्गः सन् पादावाचार्यसत्कौ वन्देत्, कचित्पश्नादौ नीचं-नम्रकायं कुर्याद्वाऽञ्जलिम्, कुर्यादिति सर्वत्र क्रिया योज्या, नीचां शय्यां कुर्यादिति योगः ॥ १७ ॥ कायविनयमुक्त्वा वाग्विनयमाह—

संघट्टित्वा काण्णं तथा उवहिणामवि ।

खमेह अवराहं मे वड्ज्जं न पुणुत्ति अ ॥ १८ ॥

छा० सङ्घट्टय कायेन, तथोपधिनाऽपि ।

क्षमस्वापराधं मे, वदेन्न पुनरिति च ॥ १८ ॥

‘संघट्टित्वा०’-संघट्टय-स्पृष्ट्वा कायेन-देहेन, तथोपधिनाऽपि-कल्पादिना (संघट्टय, मिथ्यादुष्कृतपूर्वं प्रणम्य) ‘क्षमस्वापराधं-दोषं मे’ इति वदेत्, न पुनरिति च-न चाऽहमेवं भूयः करिष्यामि ॥ १८ ॥ बुद्धिमान् स्वयं करोत्येवं, तदन्यः कथमित्पाह—

दुग्गाओ वा पओएणं चोइओ वहइ रहं ।

एवं दुब्बुद्धिं किच्चाणं वुत्तो वुत्तो पकुव्वइ ॥ १९ ॥

अध्य०१(२)

॥ २८४ ॥

वसवि०
॥ १८५ ॥

छा० दुर्गबो वा प्रतोदेन, चोदितो वहति रथम् ।

एवं दुर्वृद्धिः कृत्यानाम्, उक्त उक्तः प्रकरोति ॥ १९ ॥

‘दुर्गबो’—दुर्गाः(दुर्गव) इव—गलिबलीवर्द इव, प्रतोदेन—आरादण्डरूपेण, चोदितः—विद्धः सन्
वहति रथम्, एवं दुर्गाविव दुर्वृद्धिः शिष्यः कृत्यानामाचार्यादीनामुक्तः पुनरभिहित इत्यर्थः, प्रकरोति—निष्पादयति,
उचितकार्याणीति शेषः ॥ १९ ॥ एवं कृतान्ययूनि न शोभनानीत्यत आह—

कालं छन्दोव्यारं च पण्डितेहिताण हेऊर्हि ।

तेण तेण उवाएण तं तं संपण्डिवायए ॥ २० ॥

छा० कालं छन्दोपचारं च, प्रतिलेख्य हेतुभिः ।

तेन तेनोपायेन, तत्तत्सम्प्रतिपादयेत् ॥ २० ॥

‘काले’—कालं शरदादि, छन्दः—तदिच्छारूपम् उपचारमाराधनाप्रकारं, ‘च’—शब्दादेशादिपरिमहः,
एतत्पुण्येभ्य—ज्ञात्वा हेतुभिः—आकारेक्षितादिभिः, तेनोपायेन—गृहस्थावर्जनादिना तत्तत्पिच्छहरादिरूपमशनादि
सम्प्रतिपादयेत् ॥ २० ॥

विवत्ती अविणीअस्स संपत्ती विणीअस्स च ।

जस्सेअं दुहओ णायं सिक्खं से अभिगच्छइ ॥ २१ ॥

अध्य०९(२)

॥ १८५ ॥

छा० विपत्तिरविनीतस्य, सम्प्राप्तिर्विनीतस्य च ।

यस्येतदुभयतो ज्ञातं, शिक्षां सोऽभिगच्छति ॥ २१ ॥

अध्य० ९(२)

‘विवक्षी०’—विपत्तिरविनीतस्य गुणानां, सम्प्राप्तिर्विनीतस्य च गुणानाम्, एवं यस्यैतद्व गुणप्राप्त्यप्राप्तिद्वयम्—
‘उभयतो विनयाऽविनयाभ्यां सकाशाद्भवति’ इत्येवं ज्ञातं स्यात्, शिक्षां—ग्रहणाऽऽसेवनरूपां सोऽभिगच्छति—प्राप्नोति
॥ २१ ॥ अविनीतफलमाह—

जे आवि चंडे मइ—इद्धि—गारवे ।

पिसुणे नरे साहसहीण—पेसणे ॥

अदिद्वधम्मे विणए अकोविदः ।

असंविभागी न हु तस्स मुक्खो ॥ २२ ॥

छा० यश्चाऽपि चण्डो मति—ऋद्धि—गौरवः ।

पिशुनो नरः साहसहीनप्रेषणः ॥

अदृष्टधर्मा विनयेऽकोविदः ।

असंविभागी न हि तस्य मोक्षः ॥ २२ ॥

‘जे आवि०’—यश्चाऽपि चण्डः—अज्ञितोऽपि रोषणः, ऋद्धिगौरवमतिः—ऋद्धिगारवेऽभिनिविष्टः, पिशुनः—

॥ २८६ ॥

पृष्ठि(ष्ठ)मांसखादको नरः, साहसिकः—अकृत्यकरणपरः, हीनप्रेषणः—हीनगुर्वाज्ञाकरः, अदृष्टधर्मा—सम्यगनुपलब्धश्रुतादि-
धर्मा, विनयेऽकोविदः—विनयविषयेऽपण्डितः, असंविभागी—यत्र क्वचन लाभे न संविभागवान्, नैवं तस्य एवंप्रकारस्य
मोक्षः ॥ २२ ॥ उपसंहरन्नाह—

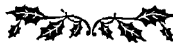
निद्देसवत्ती पुण जे गुरूणं ।
सुअत्थधम्मा विणअम्मि कोविआ ॥
तरित्तु ते ओघमिणं दुरुत्तरं ।
खवित्तु कम्मं गइमुत्तमं गया ॥ २३ ॥ त्ति वेमि ।

छा० निर्देशवर्तिनः पुनर्ये गुरूणाम् ।
श्रुतार्थधर्माणो विनये कोविदाः ॥
तीर्त्वा ते ओघमिमं दुरुत्तरम् ।
क्षपयित्वा कर्म गतिमुत्तमां गताः ॥ २३ ॥ इति ब्रवीमि ।

‘निद्देसवत्ती०’—निर्देशवर्तिनः—पुनराज्ञावर्तिनः, ये गुरूणां ‘श्रुतार्थधर्माः’ [इति प्राकृतत्वात्] श्रुत-
धर्मार्थाः—गीतार्था इत्यर्थः, विनये कोविदाः, तीर्त्वा ते महासत्त्वा ओघम्—एनं प्रत्यक्षोपलभ्यं भवप्रवाहं दुरुत्तरं,

क्षपयित्वा कर्म गतिमुत्तमां—सिद्धारुघ्यां गताः ॥ २३ ॥ ब्रवीमीति पूर्ववत् । इति विनयसमाध्यध्ययनस्य नवमस्य
द्वितीयोद्देशाऽवचूर्णिः ।

वशवै०
॥ २८८ ॥



अध्य०९(२)

॥ २८८ ॥

॥ अथ तृतीयोद्देशः ॥

दशवे०
॥ २८९ ॥

विनीतः पूज्य इत्युपदर्शयन्नाह—

आयरिअमग्निमिवाहिअग्नी ।

सुस्तूसमाणो पडिजागरिज्जा ॥

आलोइअं इंगिअमेव नच्चा ।

जो छंदमाराहयइ स पुज्जो ॥ १ ॥

छा० आचार्यमग्निमिवाऽऽहिताग्निः ।

शुश्रूषमाणः प्रतिजागर्यात् ॥

आलोकितमिद्विज्ञितमेव ज्ञात्वा ।

यश्छन्दमाराधयति स पूज्यः ॥ १ ॥

‘आयरिअ०’-आचार्यं सूत्रार्थप्रदम्, अग्निमिवाऽऽहिताग्निर्ब्राह्मणः शुश्रूषमाणः प्रतिजाग्रत्(गृयात्) यावत् तत्कृत्यसम्पादनेनोपचरेत् । आह-‘यथाऽऽहिताग्निः’ इत्यादिना प्राग्निदमुक्तमेव, सत्यम्, किन्तु तदाचार्यमेवाङ्गीकृत्य उक्तम्, इदन्तु रत्नाधिरादिकमप्यधिकृत्योन्यते, वक्ष्यति च-‘रायाणिषु विणयं’ इत्यादि, प्रतिजागरणोपायमोह-आलोकितमिद्विज्ञितं ज्ञात्वा यः साधुश्छन्दो(न्दम्)-अभिप्रायमेति (आराधयति) स पूज्यः ॥ १ ॥ एतदेवाह—

दशवे०-२५

अध्य०९(३)

॥ २८९ ॥

आचारमद्वा विणयं पठंजे ।
सुस्सूसमाणो परिगिज्झ वक्के ॥
जहोवइदं अभिकंखमाणो ।
गुरुं तु नासाययइ स पुज्जो ॥ २ ॥

छा० आचारार्थं विनयं प्रयुञ्जीत ।
शुश्रूषमाणः परिगृह्य वाक्यम् ॥
यथोपदिष्टमभिकाङ्क्षन् ।
गुरुं तु नाशातयति स पूज्यः ॥ २ ॥

‘आचारमद्वा०’—आचारार्थ—ज्ञानादिनिमित्तं विनयं प्रयुङ्क्ते, शुश्रूषन्(माणः)—श्रोतुमिच्छन् ‘किमयं वक्ष्य-
तीति’, एवं तदनु—तेनोक्ते सति परिगृह्य वाक्यमाचार्य्यं यथोपदिष्टं—यथोक्तमभिकांक्षन् विनयं प्रयुङ्क्ते, आविनयकर-
णेन गुरुं तु नाशातयति—न हीलयति यः स पूज्यः ॥ २ ॥

रायणिणसु विणयं पठंजे ।
डहरा वि अ जे परिआयजिद्धा ॥
नीअत्तणे वड्डइ सच्चवाई ।
उवायवं वक्ककरे स पुज्जो ॥ ३ ॥

छा० रात्तिकेषु विनयं प्रयुञ्जीत ।
अल्पवयसोऽपि च ये पर्यायज्येष्ठाः ॥
नीचत्वे वर्तते सत्यवादी ।
अवपातवान्वाक्यकरः स पूज्यः ॥ ३ ॥

‘रायणिहस्त०’-रत्नाधिकेषु विनयं प्रयुञ्जे, तथा ढहरा अपि च ये वयःश्रुताभ्यां, पर्यायज्येष्ठाः-चिरप्र-
प्रजिताः, तेषु च विनयं प्रयुञ्जे, एवं यो नीचत्वे-गुणाधिकान् प्रति नीचभावे वर्तते, सत्यवादी-अविरुद्धवक्ता, तथाऽ-
वपातवान्-वन्दनशीलो निकटवर्ती वा, यो वाक्यकरः-गुरुनिर्देशकरणशीलः स पूज्यः ॥ ३ ॥

अण्णायउंछं चरइ विमुद्धं ।
जवणहुया रामुआणं च निच्चं ॥
अलद्धुअं णो परिदेवइज्जा ।
लद्धं न विकत्थइ स पुज्जो ॥ ४ ॥

छा० अज्ञातोऽयं चरति विशुद्धम् ।
यापनार्थं समुदानं च नित्यम् ॥
अलब्ध्वा न परिदेवयेत् ।
लब्ध्वा न विकत्थते स पूज्यः ॥ ४ ॥

‘अण्णाय०’-अज्ञातोञ्छं परिचयाऽकरणेनाऽज्ञातः सन् भावोञ्छं गृहस्थोद्वरितादि चरति, अटित्वाऽऽनीतं भुङ्क्ते, न तु ज्ञातः तद्वहुमतमिति, विशुद्धम्-उद्गमादिदोषरहितम्, यापनार्थं-संयमदेहपालनाय समुदानञ्च-उचित-भिक्षालब्धं नित्यं न तूञ्छमपि-अत्रैकमेव(एकत्रैव)लब्धं कादाचित्कं वा, अलब्ध्वा-अप्राप्य न परिदेवयेत्-नो खेदं यायात्, लब्ध्वा-प्राप्योचितं न विकल्पते-न श्लाघां करोति यः स पूज्यः ॥ ४ ॥

अध्य०९(३)

संधारसिज्जासणभत्तपाणे ।
अप्पिच्छया अइलामे वि संते ॥
जो एवमप्पाणभितोसइज्जा ।
संतोसपाहण्णरए स पुज्जो ॥ ५ ॥
छा० संस्तारशय्यासनभक्तपाने ।
अल्पेच्छताऽतिलाभेऽपि सति ॥
य एवमात्मानमभितोपयेत् ।
सन्तोषप्राधान्यरतः स पूज्यः ॥ ५ ॥

‘संधार०’-संस्तारकशय्याऽऽसनभक्तपानानि एतेष्वल्पेच्छता, अतिलाभे सत्यपि य एवमात्मानमभितोपयति, सन्तोषप्राधान्यरतः-सन्तोष एव प्रधानभावे रतः स पूज्यः ॥ ५ ॥ इन्द्रियसमाधिद्वारेण पूज्यतामाह—

॥ २९२ ॥

सक्ता सहेउ आसाइ कंटया ।

अओमया उच्छहया नरेण ॥

अणासए जो उ सहिज्ज कंटए ।

वईमए कण्णसरे स पुज्जो ॥ ६ ॥

छा० शक्याः सोढुमाशातः (आशया) कण्टकाः ।

अयोमया उत्सहमानेन नरेण ॥

अनाशयो यस्तु सहेत कण्टकान् ।

वाङ्मयाङ्कर्णशरान् स पूज्यः ॥ ६ ॥

‘सक्ता०’-शक्याः सोढुमाशया-‘इतीदं मे भविष्यतीति प्रत्याशया’ कण्टका अयोमयाः-लोहात्मकाः, उत्सहता(मानेन) नरेण-अर्थोद्यमिनेत्यर्थः । अनाशया-फलप्रत्याशया निरीहः सन् यस्तु सहेत कण्टकान् वाङ्म-यान् कर्णशरान्-कर्णगामिनः स पूज्यः ॥ ६ ॥

मुहुत्तदुक्खा उ हवंति कंटया ।

अओमया ते वि तओ सुउद्धरा ॥

वायादुरुत्ताणि दुरुद्धराणि ।

वेराणुबंधीणि महब्भयाणि ॥ ७ ॥

छा० मुहूर्तदुःखास्तु भवन्ति कण्टकाः ।
अयोमयास्तेऽपि ततः सूक्ष्मराः ॥
वाग्दुरुक्तानि दुरुद्धराणि ।
वैरानुबन्धीनि महाभयानि ॥ ७ ॥

‘मुहूर्तदुःखाः’—मुहूर्तदुःखा भवन्ति कण्टका अयोमयाः, वेधकाल एव प्रायो दुःखभावात्, तेऽपि ततः-
कायात् सूक्ष्मराः, वाग्दुरुक्तानि पुनर्दुरुद्धराणि—दुःखेनोदधियन्ते, मनोलक्ष्यवेधनात् । वैरानुबन्धीनि श्रवणप्रद्वेषादिना, इह
परत्र च, अत एव महाभयानि, कुगतिपातादिभयहेतुत्वात् ॥ ७ ॥

समावयन्ता ध्ययणाभिधाया ।
कण्ठं—गया दुग्धमणिं जणन्ति ॥
धम्ममुत्ति किच्चा परमग्गसूरे ।
जिह्मिदि ए जो सहइ स पुज्जो ॥ ८ ॥

छा० समापतन्तो वचनाभिधाताः ।
कर्णं गता दौर्मनस्यं जनयन्ति ॥
धर्मेति कृत्वा परमार्गशूरः ।
जितेन्द्रियो यः सहते स पूज्यः ॥ ८ ॥

‘समावयता०’—समापतन्तः—एकीभावेनाऽभिमुखं पतन्तः, वचनाऽभिधाताः—खरादिवचनप्रहाराः कर्णं गताः—
सन्तः, दीर्घनस्यं जनयन्ति, एवम्भूतान् वचनाऽभिधातान् धर्मेति कृत्वा—सामायिकपरिणामापन्नो न त्वशक्त्यादिना,
परमार्थशूरः—दानसङ्ग्रामशूरापेक्षया प्रधानशूरः, जितेन्द्रियः सन् यः सहते न तु तैर्विकारमुपदर्शयन्(येत्) स पूज्यः
॥ ८ ॥ तथा—

अवर्णवायं च परम्मुहस्त ।
पञ्चक्षरओ पडिणीअं च भासं ॥
ओहारिणिं अप्रियकारिणिं च ।
भासं न भासिज्ज सया स पुज्जो ॥ ९ ॥
छा० अवर्णवादश्च पराङ्मुखस्य ।
प्रत्यक्षतः प्रत्यनीकां च भाषाम् ॥
अवधारिणीमप्रियकारिणीं च ।
भाषां न भाषेत सदा स पूज्यः ॥ ९ ॥

‘अवर्णवायं०’—अवर्णवादं च—अज्ञायावादं च पराङ्मुखस्य, प्रत्यक्षतश्चाऽप्रियकारिणीं भाषाम्, अव-
धारिणीं—निभयत्साम्, अप्रीतिकारिणीं च भाषां न भाषेत सदा यः स पूज्यः ॥ ९ ॥

अलोलुपे अकुहए अमाई ।
 अपिसुणे आ वि अदीणवित्ती ॥
 णो भावए णो वि अ भाविअप्पा ।
 अकोउहले अ सया स पुज्जो ॥ १० ॥
 छा० अलोलुपोऽकुहकोऽमायी ।
 अपिशुनश्चाप्यदीनवृत्तिः ॥
 न भावयेन्नापि च भावितात्मा ।
 अकौतूहलश्च सदा स पूज्यः ॥ १० ॥

'अलोलुपे'—अलोलुपः—आहारादिष्वलुब्धः, अकुहकः—इन्द्रजालादिरहितः, अमायी—कौटिल्यशून्यः,
 अपिशुनश्चापि—न छेदभेदकर्ता, अदीनवृत्तिः—आहाराद्यलुप्तेऽपि शुद्धवृत्तिः, 'णो भावये'—नो भावयेत्, आत्मान-
 मन्येभ्यः सकाशात्, नापि च भावितात्मा—स्वयमन्यपुरतः स्वगुणवर्णनपरः, अकौतुकश्च सदा नटनर्तक्यादिषु यः
 स पूज्यः ॥ १० ॥

गुणेहिं साहू अगुणेहिंऽसाहू ।
 गिण्हाहि साहूगुण मुंचऽसाहू ॥

विआणिआ अप्पगमप्पण ।

जो रागदोसेहिं समो स पुज्जो ॥ ११ ॥

उ० गुणैः साधुगुणैरसाधुः ।

गृहाण साधुगुणान्मुञ्चाऽसाधून् ॥

विज्ञायात्मकमात्मकेन ।

यो रागद्वेषयोः समः स पूज्यः ॥ ११ ॥

‘गुणेहिं०’—गुणैरनन्तरोदितैः साधुर्भवति, अगुणैरुक्तगुणविपरीतिरसाधुः, यत एवं तस्माद् गृहाण साधु-
गुणान्, मुञ्चाऽसाधुगुणान्, इति शोभन उपदेशः, एवमधिकृत्य [प्राकृतशैल्या] विज्ञापयति—विविधं ज्ञापयति
आत्मानमात्मना यस्तथा रागद्वेषसमः—न रागवान् न द्वेषवान् स पूज्यः ॥ ११ ॥

तहेव लहरं व महल्लगं वा ।

इत्थीं पुमं पव्वइअं गिहिं वा ॥

णो हीलए णो वि अ खिंसइज्जा ।

थंमं च कोहं च चए स पुज्जो ॥ १२ ॥

उ० तथैवाऽल्पवयसं वा महान्तं वा ।

स्त्रियं पुमांसं प्रवर्जितं गृहिणं वा ॥

न निन्दयेन्नोऽपि च खेदयेत् ।

स्तम्भं च क्रोधं च त्यजेत्स पूज्यः ॥ १२ ॥

‘तद्देव०’—तथैव डहरं वा महल्लङ्गं वा, ‘वा’—शब्दान्मध्यमं वा, स्त्रियं पुमांसम्, उपलक्षणमेतत्, नपुंसकं वा, प्रनजितं गुहिणं वा, ‘वा’—शब्दादन्यतैर्धिकं वा, न हीलयति, नाऽपि च खिंसयति, तत्र सूयया असूयया वा सकृद्दुष्टाऽभिधानं हीलनम्, तदेवाऽसकृत् खिंसनमिति, हीलनखिंसनयोश्च निमित्तभूतं स्तम्भं च मानं क्रोधं च रोपं त्यजति यः स पूज्यः ॥ १२ ॥

जे माणिआ सययं माणयंति ।

जत्तेण कण्णं च निवेशयंति ॥

ते माणए माणरिहे तवस्सी ।

जिइंदिए सच्चरणे स पुज्जो ॥ १३ ॥

छा० ये मानिताः सततं मानयन्ति ।

यत्नेन कन्यामिव निवेशयन्ति ॥

तान्मानयेन्मानार्हास्तपस्विनः ।

जितेन्द्रियः सत्यरतः स पूज्यः ॥ १३ ॥

‘जे माणिआ०’—ये मानिता अभ्युत्थानादिसत्कारैः सततं शिष्यान् मानयन्ति, श्रुतोपदेशं प्रति चो(नो)—

दनाभिः, तथा यत्नेन कन्यामिव निवेशयन्ति—यथा मातापितरः कन्यां गुणैर्व्यसा च संवद्धर्च योग्यमर्तुरि स्थाप-
यन्ति, एवमाचार्याः शिष्यं सूत्रार्थवेदिनं दृष्ट्वा महत्याचार्यपदे स्थापयन्ति, तानेवभूतान् गुरुन्मानयति योऽभ्युत्थाना-
दिना मानार्हान्—मानयोग्यान् तपस्वी सन्, 'जितेन्द्रियः सत्यरतः' इति प्राधान्यख्यापनार्थं विशेषणद्वयं, स
पूज्यः ॥ १३ ॥

दशवि०
॥ २९९ ॥

अध्य०९(३)

तेसिं गुरुणं गुणसागराणं ।

सुच्चाण मेधावि सुभासिआइं ॥

चरे मुणी पंचरए तिगुत्तो ।

चउक्कसायावगए स पुज्जो ॥ १४ ॥*

छा० तेषां गुरुणां गुणसागराणाम् ।

श्रुत्वा मेधावी सुभापितानि ॥

चरेन्मुनिः पञ्चरतस्त्रिगुप्तः ।

चतुष्कपायापगतः स पूज्यः ॥ १४ ॥

'तेसिं०'—तेषां गुरुणां गुणसागराणां श्रुत्वा मेधावी सुभापितानि, चरति मुनिः पञ्चरतः—पञ्चमहाव्रतसक्तः,
त्रिगुप्तः—मनोगुप्त्यादि(मान्), 'चतुष्कपायाऽपगतः' इति अप्रगतक्रोधादिकपायो यः स पूज्यः ॥ १४ ॥ फलाऽभि-
धानेन उपसंहरन्नाह—

॥ २९९ ॥

— गुरुमिह सययं पण्डितरिअ मुणी ।
जिणमयनिउणे अभिगमकुसले ॥
धुणिअ रयमलं पुरेकडं ।
भासुरमउलं गइं गओ ॥ १५ ॥ त्ति वेमि ।
छा० गुरुमिह सततं प्रतिचर्य मुनिः ।
जिनमतनिपुणोऽभिगमकुशलः ॥
धूत्वा रजोमलं पुराकृतम् ।
भासुरामतुलां गतिं गतः ॥ १५ ॥ इति ब्रवीमि ।

‘गुरुमिह०’—गुरुम् इह—मनुष्यलोके सततं परिचर्य—विधिनाऽऽराध्य मुनिः, जिनमतनिपुणः—आगमे प्रवीणः, अभिगमकुशलः—लोकप्रापूर्णकादिप्रतिपत्तिदक्षः स एवम्भूतो विधूय रजोमलं पुराकृतं कर्म क्षपयित्वा, भास्वरां—ज्ञानतेजोमयत्वादतुलाम्, अनन्यसदृशीं गतिं सिद्धिरूपां व्रजति—गच्छति तदा जन्मान्तरेण वा सुकुलं प्रत्यायाति, इत्यादिना प्रकारेण । ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥ १५ ॥ इति विनयसमाध्यध्ययनस्य नवमस्य तृतीयोद्देशाऽवचूर्णिः ।



॥ अथ चतुर्थोद्देशः ॥



सामान्योक्तविनयविशेषोपदर्शनार्थमाह—

सुअं मे आउसं तेणं भगवया एवमक्खायं । इह खलु थेरेहिं भगवंतेहिं चत्तारि विणयसमाहि-
ठाणा पण्णत्ता । कयरे खलु ते थेरेहिं भगवंतेहिं चत्तारि विणयसमाहिठाणा पण्णत्ता । इमे खलु ते
थेरेहिं भगवंतेहिं चत्तारि विणयसमाहिठाणा पण्णत्ता । तंजहा—विणयसमाही, सुअसमाही, तवसमाही,
आयारसमाही ।

विणए सुए अ तवे, आयारे निच्चं पंडिआ ।

अभिरामयंति अप्पाणं, जे भवंति जिइंदिआ ॥ १ ॥

छा० श्रतं मयाऽऽयुष्मन् ! तेन भगवतैवमाख्यातम् । इह खलु स्थविरैर्भगवद्भिश्चत्वारि
विनयसमाधिस्थानानि प्रज्ञप्तानि । कतराणि खलु तानि स्थविरैर्भगवद्भिश्चत्वारि विनयसमाधिस्थानानि
प्रज्ञप्तानि ? एतानि खलु तानि स्थविरैर्भगवद्भिश्चत्वारि विनयसमाधिस्थानानि प्रज्ञप्तानि ।
तद्यथा—१ विनयसमाधिः, २ श्रुतसमाधिः, ३ तपःसमाधिः, ४ आचारसमाधिः ।

विनये श्रुते च तपसि, आचारे नित्यं पण्डिताः ।

अभिरामयन्त्यात्मानं, ये भवन्ति जितेन्द्रियाः ॥ १ ॥

‘सुअं मे०’—‘श्रुतं मया आयुष्मन् ! तेन भगवता एवमाख्यातम्’ इत्येतद् यथा षड्जीवनिकायां तथा द्रष्टव्यम्, इह—प्रवचने क्षेत्रे वा, ‘खलु’ विशेषणार्थः, न केवलमत्र किन्त्वन्यत्रापि—अन्यतीर्थकृतप्रवचनेष्वपि स्थवि-
रैर्गणधरैर्भगवद्भिश्चत्वारि विनयसमाधिस्थानानि—विनयसमाधिभेदरूपाणि प्रज्ञप्तानि, भगवतः सकाशे श्रुत्वा ग्रन्थत
उपराचितानि इत्यर्थः, ‘कतराणि खलु तानि ’ ? इत्यादिना प्रश्नः, ‘अमूनि खलु तानि ’ इत्यादिना निर्वचनम् ।
तद्यप्येत्तुदाहरणोपदेशनार्थः—विनयसमाधिः, श्रुतसमाधिः, तपःसमाधिः, आचारसमाधिः । विनये विनयाद्वा समाधिः,
विनयेऽथ श्लोकेन संगृह्णाति—‘विण०’—विनये श्रुते तपसि आचारे च, ‘च’—स्य व्यवहितः सम्बन्धः, नित्यं पण्डिताः
सम्यक् परमार्थवेदिनः किं कुर्वन्तीत्याह—अगिरा(र)मयन्ति—अनेकार्थत्वात्—आभिमुख्ये विनयादिषु युञ्जते आत्मानं
ये भवन्ति जितेन्द्रियाः ॥ १ ॥ विनयसमाधिमभिधित्सुराह—

चउज्विहा खलु विणयसमाही भवइ । तंजहा—अणुसासिज्जंतो सुस्सुसइ १ सम्मं संप-
डिवज्जइ २ वेअमाराहइ ३ न य भवइ अत्तसंपगहिण ४ चउत्थं पयं भवइ । भवइ अ इत्थ सिलोगो—

पेहेइ हिआणुसासणं ।

सुस्सुसइ तं च पुणो अहिट्ठए ॥

न य माणमएण मज्जइ ।

विणयसमाहीइ आययट्ठिए ॥ २ ॥

१ ‘उदाहरणोपन्यासार्थः’ इत्यपि पाठः । २ ‘तत्र समाधानं समाधिः, मनःस्वास्थ्यं, विनये विनयाद्वा समाधिर्विनयस-
माधिः, एवं सर्वेष्वपि’—प्रत्यन्तरस्यः पाठः ।

छा० चतुर्विधः खलु विनयसमाधिर्भवति । तद्यथा—अनुशिष्यमाणः शुश्रूषते १ सम्यक् सम्प्र-
तिपद्यते २ वेदमाराधयति ३ न च भवत्यात्मसम्प्रगृहीतः ४ चतुर्थं पदं भवति । भवति चाऽत्र श्लोकः—

प्रेक्ष्यते हिताऽनुशासनम् ।

शुश्रूषते तच्च पुनरधिष्ठापयति ॥

न च मानमदेन माद्यति ।

विनयसमाधावायतार्थिकः ॥ २ ॥

‘चउविहा०’—चतुर्विधः खलु विनयसमाधिर्भवति, तद्यथा—‘अनुसासिज्जंतो’ इत्यादि, अनुशास्यमानः
शुश्रूषति—श्रोतुमिच्छति १, अनुशासनं सम्यक् सम्प्रतिपद्यते २, अनुशासनं च एवमाराधयति वेदः—श्रुतज्ञानम् ३,
न च भवति आत्मसम्प्रगृहीतः—आत्मैव सम्यक् प्रकर्षेण गृहीतो येन सः, ‘अहं विनीतः सुसाधु’ रित्येवमादिना, तथा
नात्मोत्कर्षप्रधानत्वात्, विनयादेनैव चैवम्भूतो भवतीत्यभिप्रायः ४, चतुर्थं पदं भवति, भवति चाऽत्र श्लोकः—‘पेहेइ०’—
प्रार्थयति हितानुशासनम्—उपदेश, शुश्रूषति—अनेकार्थत्वात्—यथाविषयमवबुध्यते, तच्चाऽबबुद्धं सत्पुनरधितिष्ठति—
यथावत्करोति, न (च) कुर्वन्नपि मानमदेन—मानगर्वेण माद्यति—मदं याति, विनयसमाधौ—विनयसमाधिविषये आयता-
र्थिकः—मोक्षार्थी ॥ २ ॥ अथ श्रुतसमाधिमाह—

चउविहा खलु सुअसमाही भवइ । तंजहा—सुअं मे भाविस्सइत्ति अज्झाइअच्चं भवइ १ एगग्ग-

चित्तो भविस्सामिति अज्झाइअव्वं भवइ २ अप्पाणं ठावइस्सामिति अज्झाइअव्वं भवइ ३ ठिओ परं
ठावइस्सामिति अज्झाइअव्वं भवइ ४ चउत्थं पयं भवइ । भवइ अ इत्थ सिलोगो—

नाणमेगग्गचित्तो अ ठिओ ठावयइ परं ।

सुआणि अ अहिज्जित्ता १ओ सुअसमाहिए ॥ ३ ॥

छा० चतुर्विधः खलु श्रुतसमाधिर्भवति । तद्यथा—श्रुतं मे भविष्यतीत्यध्येतव्यं भवति १ एका-
ग्रचित्तो भविष्यामीत्यध्येतव्यं भवति २ आत्मानं स्थापयिष्यामीत्यध्येतव्यं भवति ३ स्थितः परं स्थाप-
यिष्यामीत्यध्येतव्यं भवति ४ चतुर्थं पदं भवति । भवति चाऽत्र श्लोकः—

ज्ञानमेकाग्रचित्तश्च, स्थितः स्थापयति परम् ।

श्रुतानि चाऽधीत्य, रतः श्रुतसमाधौ ॥ ३ ॥

‘चउत्विहा०’—चतुर्विधः खलु श्रुतसमाधिर्भवति, तद्यथा—‘श्रुतं मे भविष्यति’अनया बुद्ध्याऽध्येतव्यं भवति
१, अध्ययनं कुर्वन्नेकाग्रचित्तो भविष्यामीति अध्येतव्यं भवति २, अनेनालम्बनेन—अध्ययनं कुर्वन् विदितधर्मतत्त्व
आत्मानं स्थापयिष्यामि धर्मे, इत्यनेन अध्येतव्यं भवति ३, स्थितः स्वयं धर्मे परं स्थापयिष्यामि धर्मे, इत्यध्येतव्यं
भवति ४, चतुर्थं पदं भवति, भवति चाऽत्र श्लोकः—‘नाण०’—ज्ञानमध्ययनपरस्य भवति तत्परतया एकाग्रचित्तो भवति,
स्थित इति विवेकाद्धर्मे स्थितो भवति, स्वयं धर्मे स्थितत्वात् स्थापयति च परम्, ‘सुआणि’—श्रुतानि चाऽधीत्य रतो
भवति श्रुतसमाधौ ॥ ३ ॥ अथ तपःसमाधिमाह—

अध्य०१(४)

॥ ३०४ ॥

दशवि०
॥ ३०४ ॥

चउविहा खलु तवसमाही भवइ । तंजहा—णो इहलोगदुयाए तवमहिद्विज्जा १ णो परलोगदु-
याए तवमहिद्विज्जा २ णो कित्तिवण्णसद्वसिलोगदुयाए तवमहिद्विज्जा ३ नण्णत्थ निज्जरदुयाए तवमहि-
द्विज्जा ४ चउत्थं पयं भवइ । भवइ अ इत्थ सिलोगो—

अध्या० ९ (४)

विविहगुणतवोरए निच्चं ।
भवइ निरासए निज्जरद्विए ॥
तवसा धुणइ पुराणपावगं ।
जुत्तो सया तवसमाहिए ॥ ४ ॥

छा० चतुर्विधः खलु तपःसमाधिर्भवति । तद्यथा—नेहलोकार्थं तपोऽधितिष्ठेत् १ न पर-
लोकार्थं तपोऽधितिष्ठेत् २ न कीर्तिवर्णशद्वश्लोकार्थं तपोऽधितिष्ठेत् ३ नान्यत्र निर्जरार्थात् तपोऽधिति-
ष्ठेत् ४, चतुर्थं पदं भवति । भवति चाऽत्र श्लोकः—

विविधगुणतपोरतो नित्यम् ।
भवति निराशयो निर्जरार्थिकः ॥
तपसा धुनोति पुराणपापकम् ।
युक्तः सदा तपःसमाधिना ॥ ४ ॥

॥ ३०५ ॥

‘चउच्चिहा०’—चतुर्विधः खलु भवति तपःसमाधिः, तद्यथा—नेहलोकार्थं लब्ध्यादिवाञ्छया तपोऽधितिष्ठेत्—
न कुर्यात्, ‘धम्मिल्ल’वत् १, न परलोकार्थं तपोऽधितिष्ठेत्, ब्रह्मदत्तवत् २, न कीर्तिवर्णशब्दश्लाघार्थं तपोऽधितिष्ठेत्—
तत्र सर्वदिग्व्यापी साधुवादः—कीर्तिः, एकदिग्व्यापी वर्णः, अर्धदिग्व्यापी शब्दः, तत्स्थानमेव श्लाघा ३, नाऽन्यत्र
निर्जरार्थम्(धात्) इति न कर्मनिर्जरामेका विहाय तपोऽधितिष्ठेत्, अकामः सन् यथा कर्मनिर्जरैव फलं भवति तथाऽ-
धितिष्ठेदित्यर्थः ४ । चतुर्थं पदं भवति, भवति चाऽत्र श्लोकः—‘विविह०’—विविधगुणतपोरतो नित्यं भवति निराशः—
अनिदानः, निर्जरार्थिकः—एवम्भूतस्तपसा धुनाति—अपनयति पुराणपापं—चिरन्तनकर्म युक्तः सदा तपःसमाधौ ॥ ४ ॥
सांमतमाचारसमाधिमाह—

चउच्चिहा खलु आचारसमाही भवइ । तंजहा—णो इहलोगट्टयाए आचारमहिट्ठिज्जा १ णो
परलोगट्टयाए आचारमहिट्ठिज्जा २ णो कित्तिवण्णसद्वसिलोगट्टयाए आचारमहिट्ठिज्जा ३ नण्णत्थ
आरहंतेहिं हेऊहिं आचारमहिट्ठिज्जा ४ चउत्थं पयं भवइ । भवइ अ इत्थ सिलोगो—

जिणवयणरए अतिंतिणे ।

पडिपुण्णाययमाययट्ठिए ॥

आचारसमाहिसंवुडे ।

भवइ अ दंते भावसंधए ॥ ५ ॥

छा० चतुर्विधः सत्त्वाचारसमाधिर्भवति । तद्यथा—नो इहलोकार्थमाचारमधितिष्ठेत् १ नो परलोकार्थमाचारमधितिष्ठेत् २ नो कीर्तिवर्णशङ्खश्लोकार्थमाचारमधितिष्ठेत् ३ नान्यत्रार्हतेभ्यो हेतुभ्य आचारमधितिष्ठेत् ४ चतुर्थं पदं भवति । भवति चाऽत्र श्लोकः—

अध्य० ९(४)

जिनवचनस्तोऽतिन्तिणः ।

प्रतिपूर्ण आयतमायतार्थिकः ॥

आचारसमाधिसंवृतः ।

भवति च दान्तो भावसन्धकः ॥ ५ ॥

‘चउन्निहा०’—चतुर्विधः खलु आचारसमाधिर्भवति, तद्यथा—नेहलोकार्थी मायार्थाचाराभिधानभेदेन, पूर्ववत्, यावत्—नाऽन्यत्र अर्हतः सम्बन्धिभिर्हेतुमिरनाश्रय(व)त्वादिभिराचारं मूलगुणोत्तरगुणमयमधितिष्ठेत्, निरीहः सन् यथा मोक्षपथवर्तीति, चतुर्थं पदं भवति, भवति चाऽत्र श्लोकः—‘जिण०’—जिनवचनरतः, अतिन्तिणः—न सकृत् किञ्चिदुक्तः सन् असूयया भूयो भूयो वक्ता, प्रतिपूर्णः सूत्रादिना, आयत(म्) आयतार्थिकः—अत्यन्तं मोक्षार्थी, आचार-समाधिसंवृत इति—आचारे यः समाधिस्तेन स्थगिताऽऽवस्रद्धारः सन्, भवति च दान्तः, भावसन्धकः—भावो मोक्षस्तत्सन्धकः—आत्मनो मोक्षाऽऽसन्नकारी ॥ ५ ॥ सर्वसमाधिकलमाह—

॥ ३०७ ॥

१ ‘नेहलोकार्थमित्यादि चाऽऽचाराभिधानभेदेन’ इति वृत्तौ ।

२ ‘मोक्ष एव भवतीति’ वृत्तौ प्रत्यन्तरे चाऽयं पाठः

अभिगमचतुरो समाहिओ ।
 सुविशुद्धो सुसमाहिअप्पओ ॥
 विउलहिअं सुहावहं पुणो ।
 कुच्चइ सो पयखेममप्पणो ॥ ६ ॥

छा० अभिगमचतुरः समाधीन् ।
 सुविशुद्धः सुसमाहितात्मा ॥
 विपुलहितं सुखावहं पुनः ।
 करोति स पदक्षेममात्मनः ॥ ६ ॥

‘अभिगम०’—अभिगम्य—विज्ञाय, आसेव्य च चतुरः समाधीन्—अनन्तरोदितान्, सुविशुद्धो मनोवा-
 क्कायैः, सुसमाहितात्मा सप्तदशप्रकारे संयमे, विपुलसुखाहितावहमिति विपुलं—विस्तीर्णं हितं तदात्वे आयत्यां च पथ्यं—
 सुखमावहति—प्रापयति यत्तत्तथाविधं करोत्यसौ साधुः पदं—स्थानं क्षेमं—शिवम् आत्मनः—इत्यात्मन एव न त्वन्यस्य,
 ॥ ६ ॥ इत्येतेन एकान्तक्षणभङ्गव्यवच्छेदमाह—

जाइमरणाउ मुच्चइ ।
 इत्थं त्थं च चयइ सब्वसो ॥

सिद्धे वा हवद् सासए ।

देवे वा अप्परए महिद्धिए ॥ ७ ॥ ति वेमि ।

छा० जातिमरणाभ्यां मुच्यते ।

अत्रस्थं(इत्थंस्थं) च त्यजति सर्वशः ॥

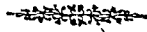
सिद्धो वा भवति शाश्वतः ।

देवो वाऽऽत्म(ऽल्प)रतो महर्द्धिकः ॥ ७ ॥ इति ब्रवीमि ।

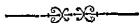
‘जाइ०’—जातिमरणात्—जन्ममरणान्मुच्यते, इत्थं स्थितम्—इत्थंस्थं—नारकादि व्यपदेशबीजं वर्णसंस्थानादि त्यजति, सर्वशः—सर्वैः प्रकारैरपुनर्ग्रहणतया, एवं सिद्धो वा कर्मक्षयसिद्धो भवति शाश्वतः—अपुनरागामी, सावशेषकर्मा देवो (वा) अल्परतः, कण्डूपरिगतकण्डूयनकल्परतरहितः, महर्द्धिकः—अनुत्तरवैमानिकादिः । ब्रवीमीति पूर्ववत् । इति विनयसमाध्यध्ययनस्य नवमस्य चतुर्थोद्देशाऽवबूर्णिः ॥ ७ ॥

॥ विणयसमाहि—अज्झयणं णवमं ॥

॥ इति विनयसमाध्यध्ययनं नवमम् ॥



॥ अथ दशमाध्ययनम् ॥



दशमो
॥ ३१० ॥

अध्य० १०

अथ समिक्षाख्यमारभ्यते, अस्यचाऽयमभिसम्बन्धः । इहानन्तराध्ययने आचारप्रणिहितो यथोचितविनय-
सम्पन्नो भवत्येतदुक्तम्, इह तु एतेष्वेव नवस्वध्यायनार्थेषु यो व्यवस्थितः स सम्यग्भिक्षुरित्येतदुच्यते, इत्यनेनाऽभि-
सम्बन्धेनायातमिदमध्ययनम् । तच्चेदम्—

निक्खम्ममाणाइ अ बुद्धवयणे ।

निच्चं चित्तसमाहिओ हविज्जा ॥

इत्थीण वसं न यावि गच्छे ।

वंतं णो पडिआयइ जे स भिक्खू ॥ १ ॥

छा० निष्क्रम्याऽऽज्ञया च बुद्धवचने ।

नित्यं चित्तसमाहितो भवेत् ॥

स्त्रीणां वशं न चाऽपि गच्छेत् ।

घान्तं न प्रत्यापिचति यः स भिक्षुः ॥ १ ॥

‘निक्खम्म०’—निष्क्रम्य—प्रव्रज्यां गृहीत्वा, आज्ञया-तीर्थकरगणधरोपदेशेन बुद्धवचने-अवगततत्त्वतीर्थकर-
गणधरवचने नित्यं चित्तसमाहितः—चित्तेनाभि(ति)प्रसन्नो भवेत्, व्यतिरेकतः समाधानोपायमाह—स्त्रीणां वशं न

॥ ३१० ॥

वनवि०
॥ ३११ ॥

चाऽपि गच्छेत्, तद्वशागो हि नियमतो वान्तं प्रत्यापिबति, अतो बुद्धवचनचित्तसमाधानतः सर्वथा स्त्रीवशत्यागात्, अनेनैवोपायेनाऽन्योपायाऽभावात्, वान्तं-परित्यक्तं सद्विषयजन्मालं न प्रत्यापिबति यः स भिक्षुः, भावभिक्षुः ॥ १ ॥

अध्य० १०

पृथ्वीं न खणे न खणावए ।

सीओदगं न पिए न पिआवए ॥

अगणिसत्थं जहा सुनिसिअं ।

तं न जले न जलावए जे स भिक्खू ॥ २ ॥

छा० पृथ्वीं न खनेन्न खानयेत् ।

शीतोदकं न पिबेन्न पाययेत् ॥

अग्निशब्धं यथा सुनिश्चितम् ।

तन्न ज्वलेन्न ज्वलयेद्यः स भिक्षुः ॥ २ ॥

‘पृथ्वी०’-पृथिवीं न खनति न खानयति, [एकग्रहणे तज्जातीयग्रहणमिति न्यायात्] खनन्तमप्यन्यं नाऽनुजानाति, एवं सर्वत्र वेदितव्यम् । शीतोदकं न पिबति न पाययति, अग्निः पट्जीव-घातकः, किं (त)-वदित्याह-नास्त्रं खन्नादि यथा सुनिश्चितम्-उज्ज्वलितं तद्वत्, तन्न ज्वलति, न ज्वालयति यः स भिक्षुः ॥ २ ॥

॥ ३११ ॥

अणिलेण न वीए न विआवए ।

हरिआणि न छिंदे न छिंदावए ॥

बीजाणि सया विवज्जयंतो ।

सच्चित्तं नाहारए जे स भिक्षू ॥ ३ ॥

उ० अनिलेन न व्यजेन्न व्यजयेत् ।

हरितानि न छिन्द्यान्न छेदयेत् ॥

बीजानि सदा विवर्जयन् ।

सच्चित्तं नाहरेद्यः स भिक्षुः ॥ ३ ॥

‘अणिलेण०’—अनिलेन-अनिलहेतुवस्त्रादिना न बीजयति (व्यजति), न बीजयते (व्यजयति) परैः, हरि-
तानि न छिनत्ति, न छेदयति, बीजानि सदा विवर्जयन् संपट्टनादिना, सच्चित्तं नाहारयति यः कदाप्यपुष्टालम्बनः
स भिक्षुः ॥ ३ ॥ आदेशिकादिविहारेण व्रतस्थावरपरिहारमाह—

वहणं तसथावराण होइ ।

पुटवीतणकट्टुनिसिआणं ॥

तम्हा उदेसिअं न मुंजे ।

णो वि एए न पयावए जे स भिक्षू ॥ ४ ॥

उ० वधनं व्रतस्थावराणां भवति । :

पृथ्वीतृणकाष्ठनिःश्रितानाम् ॥

तस्माद्वेदेशिकं न भुञ्जीत ।

नाऽपि पचेन्न पाचयेद्यः स भिक्षुः ॥ ४ ॥

अध्या० १०

‘वह्णं०’—वधनं व्रतस्थावराणां भवति कृतौद्देशिके, किंविशिष्टानाम् ? पृथिवीतृणकाष्ठनिःसृ(श्रि)तानां तथासमारम्भात्, यस्मादेवं तस्माद्वेदेशिकं न भुङ्क्ते, न केवलमेतत्, किन्तु नाऽपि स्वयं पचति, न पाचयत्यन्यैर्यः स भिक्षुः ॥ ४ ॥

रोहअणायपुत्रवयणे ।

अत्तसमे मण्णिज्ज छप्पि काए ॥

पंच य फासे महव्वयाहं ।

पंचासवसंवरे जे स भिक्खू ॥ ५ ॥

उ० रोचितज्ञातपुत्रवचनः ।

आत्मसमान्मन्येत पढपि कायान् ॥

पञ्च च स्पृशेन्महाधतानि ।

पञ्चास्रवसंवरो यः स भिक्षुः ॥ ५ ॥

॥ ३१३ ॥

‘रोहम०’—रोचयित्वा ज्ञातपुत्रवचनं-श्रीमहावीरवचनं प्रियं कृत्वा, आत्मसमान्मन्यते पढपि कायान्, पञ्च
६७०-२७

च-चोऽपिशब्दार्थः-पञ्चाऽपि स्पृशति-सेवते महाव्रतानि, पञ्चास्रवसंवृतश्च, द्रव्यतोऽपि पञ्चेन्द्रियसंवृतो यः स
भिक्षुः ॥ ५ ॥

सूरादि०
॥ ३१४ ॥

चत्तारि वमे सया कसाए ।
धुवजोगी अ हविज्ज बुद्धवपणे ॥
अहणे निज्जाअरुवरणए ।
गिहियोगं परिवज्जए जे स भिक्खू ॥ ६ ॥

छा० चतुरो वमेत्सदा कपायान् ।
ध्रुवयोगी भवेद्बुद्धवचने ॥
अधनो निर्जातरूपरजतः ।
गृहियोगं परिवर्जयेद्यः स भिक्षुः ॥ ६ ॥

‘चत्तारि०’-चतुरः क्रोधादीन् वमति कपायान्, ध्रुवयोगी च-उचितनित्ययोगवांश्च भवति, बुद्धवचन
इति [तृतीयार्थं सप्तमी] तीर्थकरवचनेन करणभूतेन ध्रुवयोगी भवति यथागममेवेति भावः, अधनः-चतुष्पदादि-
रहितः, निर्जातरूपरजतः-निर्गतस्वर्णरूप्यः, गृहियोगं-गृहस्थसम्बन्धं परिवर्जति यः स भिक्षुः ॥ ६ ॥

सम्मदिट्ठी सया अमूढे ।
अत्थि हु नाणे तवे संजमे अ ॥

अध्य० १०

॥ ३१४ ॥

तपसा धुणद् पुराणपापकम् ।
मणवयकायसुसंवृते जे स भिक्षू ॥ ७ ॥
छा० सम्यग्दृष्टिः सदाऽमूढः ।
अस्ति हि ज्ञानं तपः संयमश्च ॥
तपसा धुनोति पुराणपापकम् ।
मनोवचःकायसुसंवृतो यः स भिक्षुः ॥ ७ ॥

‘सम्महिट्ठी०’—सम्यग्दृष्टिः सदाऽमूढः—अविप्लुतः सन्नेवं मन्यते—‘अस्त्येव ज्ञानं हेयोपादेयविषयमतीन्द्रियेष्वपि तपश्च बाह्याभ्यन्तरकर्ममलापनयनजलरूपं संयमश्च नवकर्मानुपादानरूपः’, इत्थं च दृढभावः, तपसा धुनोति पुराणपापम्, भावसारया प्रवृत्त्या मनोवाक्कायसंवृतः, तिसृभिर्गुणैर्गुणितो यः स भिक्षुः ॥ ७ ॥

तद्देव असणं पाणकं वा ।
विविहं साइम साइमं लभित्ता ॥
होही अट्ठो सुए परे वा ।
तं न निहे न निहावए जे स भिक्षू ॥ ८ ॥
छा० तथैवाऽज्ञानं पानकं वा ।
विविधं साद्यं स्वाद्यं लब्ध्वा ॥

मविष्यत्यर्थः श्वः परस्मिन्वा ।

तं न निदध्यान्न निधापयेद्यः स मिक्षुः ॥ ८ ॥

इति ०
॥ ११६ ॥

‘तद्देव०’—तथैव पूर्वविधानेन अशनं पानं वा तथा विविधमनेकप्रकारं खाद्यं स्वाद्यं लब्ध्वा—प्राप्य, किमित्याह—‘मविष्यत्यर्थः—प्रयोजनमनेन श्वः’ परश्वो वेति तदशनादि न निधत्ते—न स्थापयति स्वयं, तथा न वि-
(नि)धापयत्यन्यैः, स्थापयन्तमन्ये नाऽनुजानाति यः सर्वथा सन्निधिपरित्यागवान् स मिक्षुः ॥ ८ ॥

तद्देव असर्णं पाणनं वा ।

विविधं खाद्यं साद्यं लभित्वा ॥

छन्दिअ साहम्मिआण भुंजे ।

भुक्त्वा सज्ज्ञापयए जे स मिक्खू ॥ ९ ॥

छा० तथैवाऽशनं पानकं वा ।

विविधं खाद्यं स्वाद्यं लब्ध्वा ॥

निमन्त्र्य साधर्मिकान्मुञ्जीत ।

भुक्त्वा स्वाध्यायरतो यः स मिक्षुः ॥ ९ ॥

‘तद्देव०’—तथैवाऽशनं पानकं वा विविधं खाद्यं स्वाद्यं च लब्ध्वा, किमित्याह—छन्दित्वा—निमन्त्र्य समान-

अध्य० १०

॥ ३१६ ॥

धार्मिकान्-साधून् भुङ्क्ते, स्वात्मतुल्यतया तद्वात्सल्यसिद्धेः, तथा भुक्त्वा स्वाध्यायस्तथा यः स भिक्षुः ॥ ९ ॥
भिक्षुलक्षणाऽधिकार एवाह—

अध्या० १०

न य धुग्गहिअं कहं कहिज्जा ।
न य कुप्पे निहुइदिप्पं पसंते ॥
संयमे धुवजोगजुत्ते ।
उवसंते अविहेडए जे स भिक्खू ॥ १० ॥

अ० न च व्युद्गाहिकां कथां कथयेत् ।
न च कुप्पेन्निभृतेन्द्रियः प्रशान्तः ॥
संयमे ध्रुवयोगयुक्तः ।
उपशान्तोऽविहेठको यः स भिक्षुः ॥ १० ॥

‘न य०’—न च वैयहिकी—कलहप्रतिबन्धं कथां कथयति, सद्वादकथादिवृत्तिर्न च कुप्यति परस्य, अपि
तु निभृतेन्द्रियः—अनुद्वेतेन्द्रियः, प्रशान्तः—रागादिरहित एवाऽऽस्ते, तथा संयमे सप्तदशविधे ध्रुवं—तत्त्वकालं योगेन-
मनोवाक्यमलक्षणेन युक्तो योगयुक्तः, तथा उपशान्तः—अनाकुलः—कायचापल्यादिरहितः, अविहेड(ठ)कः—न
क्यपिदुषितेऽनादरवान्, क्रोधादीनां विश्लेषक इत्यन्ये, यः स भिक्षुः ॥ १० ॥ किञ्च—

॥ ३१७ ॥

जो सहइ हु गामकंटए ।
 आक्रोस-पहार-तज्जणाओ अ ॥
 भयभैरवसह-सप्पहासे ।
 समसुखदुखसहे अ जे स भिक्खू ॥ ११ ॥
 छ० यः सहते हि ग्रामकण्टकान् ।
 आक्रोश-प्रहार-तर्जनाश्च ॥
 भय-भैरवशब्द-सप्रहासान् ।
 समसुखदुःखसहश्च यः स भिक्षुः ॥ ११ ॥

'जो सहइ०'—यः खलु सहते सम्यग् ग्रामकण्टकान्—ग्रामाः—इन्द्रियाणि, तद्दुःखहेतुत्वात्कण्टकास्तान्, आक्रोशान्—प्रहारान्, तर्जनाश्चेति, तत्राऽऽक्रोशो यकारादिभिः, तर्जना असूयादिभिः, भैरवभयाः—अत्यन्तरौद्रभयजनकाः शब्दाः सप्रहासाः, यस्मिन् स्थाने इति गम्यते, तथा तस्मिन् वेतालादिकृतार्तनादाद्वहास इत्यर्थः, अत्रोपसर्गेषु सत्सु समसुखदुःखसहः—अचलितसामायिकभावश्च यः स भिक्षुः ॥ ११ ॥ एतदेव स्पष्टयति—

पडिमं पडिवज्जिआ मसाणे ।
 णो भीयए भयभैरवाइं दिस्स ॥

विविधगुणतपोरए अ निरुचं ।
न शरीरं चाभिकंक्षए जे स भिक्षु ॥ १२ ॥
छा० प्रतिमां प्रतिपद्य स्मशाने ।
नो विभीयाद्भयभैरवयानि दृष्ट्वा ॥
विविधगुणतपोरतश्च नित्यम् ।
न शरीरं चाभिकाङ्क्षेद्यः स भिक्षुः ॥ १२ ॥

‘षड्विमे०’—प्रतिमां—मासादिरूपां प्रतिपद्य स्मशाने न विमेति भैरवमयानि दृष्ट्वा, विविधगुणतपोरतश्च नित्यं
नैव शरीरमभिकांक्षते निस्पृहतया वार्त्तमानिकं भावि च य इत्थम्भूतः स भिक्षुः ॥ १२ ॥

असङ्गं वोसद्वचत्तदेहे ।
अकुट्टे व हए व लूसिए वा ॥
पुढवीसमे मुणी हविज्जा ।
अणिआणे अकोउहले जे स भिक्षु ॥ १३ ॥
छा० असकृद्भुत्सृष्टत्यक्तदेहः ।
आकुट्टो वा हतो वा लुञ्चितो(लूपितो) वा ॥

पृथ्वीसमो मुनिर्भवेत् ।

अनिदानोऽकुतूहलो यः स भिक्षुः ॥ १३ ॥

अध्या० १०

‘असहं’—असकृत्सर्वदा व्युत्सृष्ट्यक्तदेहः—व्युत्सृष्टः प्रतिबन्धाभावात्, त्यक्तो विभूषादिकरणात्, आकृष्टो (कृष्टो) वा कर्कशवचनैः, हतो वा दण्डादिना, लूणितो वा खड्गादिना, भक्षितो वा श्वशृगालादिना, पृथिवीसमः सर्वसहो मुनिर्भवति, अनिदानोऽकुतूहलश्च नटादिषु यः स भिक्षुः ॥ १३ ॥ भिक्षुस्वरूपाऽधिकार एवेदमाह—

अभिभूअ काएण परीसहाइं ।

समुद्धरे जाइपहाउ अप्पयं ॥

विइत्तु जाईमरणं महम्मयं ।

तवे रए सामणिए जे स भिक्खू ॥ १४ ॥

छा० अभिभूय कायेन परीषहान् ।

समुद्धरेज्जातिपथादात्मानम् ॥

विदित्वा जातिमरणं महद्भयम् ।

तपसि रतः श्रामण्ये यः स भिक्षुः ॥ १४ ॥

॥ ३२० ॥

‘अभिभूअ’—अभिभूय—पराजित्य कायेन परीषहान् (न भिक्षुसिद्धान्तनीत्या) मनोवाग्भ्यामेव, काये-

नाऽनभिभवे तत्त्वतस्तदनभिभावात्, समुद्धरति जातिपथात्—संसारादात्मानं, विदित्वा जातिमरणं महद्भयं तपसि
रतः, किम्भूते ? श्रामण्ये—श्रमणानां सम्बन्धिनि य एवम्भूतः स भिक्षुः ॥ १४ ॥

अध्य० १०

हृत्थसंजए पायसंजए ।

वायसंजए संजइदिण ॥

अज्झप्परए सुसमाहिअप्प ।

सुत्तत्थं च विआणइ जे स भिक्खू ॥ १५ ॥

छा० हस्तसंयतः पादसंयतः ।

वाक्संयतः संयतेन्द्रियः ॥

अध्यात्मरतः सुसमाहितात्मा ।

सूत्रार्थं च विजानाति यः स भिक्षुः ॥ १५ ॥

‘हृत्थसंजए०’—हस्तसंयतः, पादसंयतः, कारणं विना कूर्मवल्लीनः, वाक्संयतोऽकुशलवाङ्निरोधात्, कुशलवाग्वीरणेन, संयतेन्द्रियः—निवृत्तविषयप्रसारः, अध्यात्मरतः—प्रशस्तध्यानाऽऽसक्तः, सुसमाहितात्मा—ध्यानाऽऽपादकगुणेषु, तथा सूत्रार्थं च विजानाति यः स भिक्षुः ॥ १५ ॥

॥ ३२६ ॥

उवहिंमि अमुच्छिण्णं अगिद्धे ।

अण्णायउंछं पुलनिष्पुलाए ॥

क्रयविक्रयसंनिहिओ विरए ।

सव्वसंगावगए जे स भिक्खू ॥ १६ ॥

छा० उपधावमूर्च्छितोऽगृद्धः ।

अज्ञातोऽञ्छं पुलाकनिष्पुलाकः ॥

क्रयविक्रयसंनिधितो विरतः ।

सर्वसङ्गापगतो यः स भिक्षुः ॥ १६ ॥

‘उवहिंमि०’—उपधौ अमूर्च्छितः, तद्विषयमोहत्यागेनाऽगृद्धः प्रतिबन्धाभावेन, अज्ञातोऽञ्छं चरतीति शेषः, स्तोत्रं—स्तोकमित्यर्थः । पुलाकनिष्पुलाक इति संयमासारतापादकदोषरहितः, क्रयविक्रयसंनिधिभ्यो विरतः, सर्व-सङ्गाऽपगतश्च यः स भिक्षुः ॥ १६ ॥

अलोलभिक्खू न रसेसु गिन्दे ।

उञ्छं चरे जीविअणाभिकंखे ॥

इड्ढिं च सक्कारण पूअणं च ।

चयइ द्विअप्पा अणिहे जे स भिक्खू ॥ १७ ॥

छा० अलोलभिक्षुर्न रसेषु गृद्धः ।

उञ्छं चरेज्जीवित नाऽभिकाङ्क्षेत् ॥

ऋद्धिं च सत्कारणपूजनं च ।

त्यजति स्थितात्मा अनिमो(अनीहो) यः स भिक्षुः ॥ १७ ॥

अध्या० १०

‘ अलोल० ’—अलोलो नाऽप्राप्तपार्थनापरो भिक्षुः, न रसेषु गृद्धः, उञ्छं चरति (इति) पूर्ववत् । नवरं तत्रोपधिमाश्रित्योक्तम्, इह त्वाहारमित्यपौरुक्त्यम्, तथा जीवितम्—असंयमजीवितं नाऽभिकांक्षते । ऋद्धिं च अमर्षाप्यादिरूपां, सत्कारं वस्त्रादिना, पूजनञ्च स्तवादिना, त्यजति स्थितात्मा ज्ञानादिषु, अनिमः—अमायः, यः स भिक्षुः ॥ १७ ॥

न परं वद्वज्जासि अयं कुशीले ।

जेणं च कुप्पिज्ज न तं वद्वज्जा ॥

जाणिअ पत्तेअं पुण्णपावं ।

अत्ताणं न समुक्कसे जे स भिक्खू ॥ १८ ॥

छा० न परं वदेदयं कुशीलः ।

येन च कुप्पेज्ज तद्वदेत् ॥

ज्ञात्वा प्रत्येकं पुण्यपापम् ।

आत्मानं न समुत्कर्षयेद्यः स भिक्षुः ॥ १८ ॥

॥ ३२३ ॥

‘ न परं० ’—न परं—स्वपक्षविनेयव्यतिरिक्तं वदत्ययं कुशीलः, तदपीत्यादिदोषप्रसङ्गात्, स्वपक्षविनेयं तु

वदति०
॥ ३२३ ॥

शिक्षाग्रहणबुद्ध्या यदत्यपि, येनाऽन्यः कश्चित्कुप्यति न तद्वक्ति, दोषसद्भावेऽपि, ज्ञात्वा प्रत्येकं पुण्यपापं नाऽन्यस-
म्बन्धि—अन्यस्य भवति, अग्निदाहवेदनावत्, सत्स्वपि गुणेषु नाऽऽत्मानं समुत्कर्षयति यः स भिक्षुः ॥ १८ ॥ मद-
प्रतिषेधार्थमाह—

अध्या० १०

न जाइमत्ते न य रूपमत्ते ।
न लाभमत्ते न सुएण मत्ते ॥
मयाणि सब्बाणि विवज्जइत्ता ।
धम्मज्झाणरए जे स भिक्खू ॥ १९ ॥
छा० न जातिमत्तो न च रूपमत्तः ।
न लाभमत्तो न श्रुतेन मत्तः ॥
मदान् सर्वान्विवर्ज्य ।
धर्मध्यानरतो यः स भिक्षुः ॥ १९ ॥

‘न जाइ०’—न जातिमत्तः, न च रूपमत्तः, न लाभमत्तः, न श्रुतमत्तः, मदान् सर्वान् विवर्जयन्
धर्मध्यानरतो हि यः स भिक्षुः ॥ १९ ॥

॥ ३२४ ॥

पवेअए अज्जपयं महामुणी ।
धम्मे ठिओ ठावयइ परं पि ॥

दशवि०
॥ ३२४ ॥

निक्खम्म वज्जिज्ज कुसीललिङ्गं ।

न यावि हासं कुहए जे स भिक्खू ॥ २० ॥

छा० प्रवेदयेदार्यपदं महामुनिः ।

धर्मे स्थितः स्थापयति परमपि ॥

निष्क्रम्य वर्जयेत्कुशीललिङ्गम् ।

न चाऽपि हासे कुहको यः स भिक्षुः ॥ २० ॥

‘पवेअए०’—प्रवेदयति—कथयत्यार्यपदं—शुद्धधर्मपदं महामुनिः (परोपकाराय), धर्मे स्थितः स्थापयति परमपि श्रोतारं, निष्क्रम्य वर्जयति कुशीललिङ्गं—सारम्भादिकुशीलचेदितं, न चाऽपि हास्यकुहकः—न हास्यकारि—कुहकयुक्तो यः स भिक्षुः [अनुस्वारोऽलाक्षणिकः] ॥ २० ॥ भिक्षुभावफलमाह—

तं देहवासं असुइं असासयं ।

सया चए निच्चहिअट्ठिअप्पा ॥

छिंदित्तु जाइमरणस्स बंधणं ।

उवेइ भिक्खू अपुणागमं गइं ॥ २१ ॥ त्ति बेमि ।

छा० तं देहवासमशुचिमशाश्वतम् ।

सदा त्यजेन्नित्यहिते स्थितात्मा ॥

छित्त्वा जातिमरणस्य बन्धनम् ।

उपैति भिक्षुरपुनरागमां गतिम् ॥ २१ ॥ इति ब्रवीमि ।

अध्य० १०

‘तं देह०’—तं देहवासं—प्रत्यक्षोपलभ्यम् अशुचिमृशाश्वतं सदा त्यजति, ममत्वाऽनुबन्धपरित्यागेन, नित्य-
हितस्थितात्मा—नित्यहिते—सम्यग्दर्शनादौ स्थित आत्मा यस्य स नित्यहितस्थितात्मा, छित्त्वा जातिमरणस्य—संसारस्य
बन्धनं—कारणम्, उपैति भिक्षुरपुनरागमां—नित्यां गतिम्—सिद्धिगतिम् । ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥ २१ ॥ इति सभिक्ष्वध्यय-
नस्य दशमस्याऽवचूर्णिः ।

॥ सभिक्षु—अज्ञयणं दसमं ॥

॥ इति सभिक्ष्वध्ययनं दशमम् ॥



॥ अथ प्रथमा चूलिका ॥



चूलिका १

इहानन्तराध्ययने भिक्षुगुणयुक्त एव भिक्षुरुक्तः, स चैवम्भूतोऽपि कदाचित् कर्मपरतन्त्रत्वात् कर्मणश्च बल-
वत्त्वात् सीदेत्, तत्स्थिरीकरणार्थं चूडाऽभिधीयते ।

इह खलु भो ! पद्मइणं उप्पण्णदुक्खेणं संजमे अरइसभावण्णचित्तेणं ओहाणुप्पेहिणा
अणोहाइणं चेव हयरस्सिगयंकुसपोअपडागाभूआइं इमाइं अट्टारसराणाइं सम्मं संपडिलेहिअव्वाइं
भवन्ति । तंजहा—

हं भो ! दुस्समाए दुप्पजीवी ॥ १ ॥

छा० इह खलु भो ! प्रवजितेनोत्पन्नदुःखेन संयमेऽरतिसमापन्नाचित्तेन ओघानुप्रेक्षिणाऽनौचि-
केन चैव हयरस्मि-गजाङ्कुश-पोतपताकाभूतानि इमान्पटादशस्थानानि सम्पक्क सम्प्रतिलेख्यानि
भवन्ति । तद्यथा—

अहो भो ! दुस्समायां दुप्पजीविनः ॥ १ ॥

‘इह खलु०’-इह-प्रवचने, खलुरवधारणे, स च भिन्नक्रम इति दर्शयिष्यामि, ‘भो’ इत्यामन्त्रणे, प्रवजितेन
साधुना, किविशिष्टेन ? उत्पन्नदुःखेन-सञ्जातशीतादिशारीरस्त्रीनिपद्यादिमानसदुःखेन, संयमेऽरतिसमापन्नाचित्तेन, स एव

॥ ३२७ ॥

विशेष्यते—'अवधानोत्प्रेक्षिणा'—अवधानम्—अपसरणं, संयमादुत्प्राबल्येन प्रेक्षितुं शीलं यस्य स तथाविधः, तेन, उत्पन्नजितु-
 कामेनेति भावः, अनवधावितेनैव—अनुत्पन्नजितेनैव, अमूनि वक्ष्यमाणलक्षणानि अष्टादशस्थानानि सम्यग्भावसारं सुष्ठु
 प्रेक्षितव्यानि—सुष्ठुलोचनीयानि भवन्तीति योगः । तान्येव विशेष्यन्ते—हयरश्मि-गजाङ्कुश-बोहित्थसितपट-तुल्यानि,
 एतदुक्तं स्यात्—यथा हयादीनामुन्मार्गप्रवृत्तिकामानां रश्म्यादयो नियमनहेतवः, तथैतान्यपि संयमादुन्मार्गप्रवृत्तिकामानां
 भव्यसत्त्वानामिति, यतश्चैवमतः सम्यक् सम्प्रेक्षितव्यानि भवन्ति, 'खलु'—शब्दोऽवधारणे, योगात्सम्यक् सम्यगेव सम्प्रत्युपे-
 क्षितव्यान्येवेत्यर्थः, तद्यथा—'हं भो ! दुःख(प)मायां दुष्प्रजीविनः' इति, हं भो शिष्यामन्त्रणे, दुःख(प)मायां—अधम-
 कालाख्यायां दुःखेन—कृच्छ्रेण प्रकर्षेण—उदारभोगापेक्षया जीवितुं शीलाः—जीविनः प्राणिन इति गम्यते १ ।

लहुस्सगा इत्तरिआ गिहीणं कामभोगा ॥ २ ॥

छा० लघुतरा इत्तरा गृहिणां कामभोगाः ॥ २ ॥

'लहुस्सगा०'—'लघव इत्तरा गृहिणां कामभोगाः' वर्तन्ते दुःख(प)मायां, सन्तोऽपि लघवः—तुच्छाः
 प्रकृत्येव तुष्टमुष्टिवदसाराः, इत्तराः—अल्पकालाः, गृहिणां—गृहस्थानां कामभोगाः—मदन्कामप्रधानाः शब्दादयो विषयाः,
 विपाककटवश्च, न देवानामिव विपरीताः, अतः किं गृहाश्रमेणेति सम्प्रत्युपेक्षितव्यम् २ ।

भुज्जो असाय(अ साइ)बहुला मणुस्सा ॥ ३ ॥

छा० भूयोऽसातबहुला मनुज्याः ॥ ३ ॥

चूलिका १

॥ ३२८ ॥

‘भुञ्जो०’—भूयश्चाऽसातबहुला मनुष्याः, दुःख(प)मायामिति वर्तते, पुनश्च स्वातिबहुलाः—मायाप्रचुराः, मनुष्या इति प्राणिनो न कदाचिद्विश्रम्यहेतवोऽमी, तद्रहितानाञ्च कीदृक् सुखं तथा तद्वन्धहेतुत्वेन च दारुणतरो बन्ध इति किं गृहाश्रमेण ? ३ ।

इमे अ मे दुःखे न चिरकालोपट्टाह भविस्सइ ॥ ४ ॥

छा० इदं च मम दुःखं न चिरकालोपस्थायि भविष्यति ॥ ४ ॥

‘इमे०’—इदं च दुःखं मे न चिरकालोपस्थायि भविष्यति ४ ।

ओमजणपुरस्कारे ॥ ५ ॥

छा० अवमजनपुरस्कारः ॥ ५ ॥

‘ओमजण०’—ओ(अव)मजनपुरस्कारः—उत्प्रव्रजितेन तु न्यून(जघन्य)जनस्यापि स्वव्यसन्नगुप्तये अभ्यु-
त्थानादि कार्यम्, अधार्मिकराजविषये वा चे(य)टिप्रयोक्तुः स्वरकर्मणो नियमित एव । इहैवेदमधर्मफलम्, अतः किं गृहस्थाश्रमेण ? ५ । एवं सर्वत्र क्रिया योजनीया ।

वंतस्स य पडिआयणं ॥ ६ ॥

छा० वान्तस्य च प्रत्यादानम् ॥ ६ ॥

‘वंतस्स०’—वान्तस्य प्रत्यापानं—भुक्तोऽग्नितपरिभोग इत्यर्थः ६ ।

अहरगइवासोवसंपया ॥ ७ ॥

छा० अधरगतिवासोपसम्पत् ॥ ७ ॥

‘अहरगइ०’—अधरगतिवासोपसम्पत्—अधोगतिः—नरकगतिः, तस्यां वसनमधोगतिवासः, एतन्निमित्तभूतं कर्म गृह्यते, तस्योपसम्पत्—सामीप्येनाङ्गीकरणम् ७ ।

दुलहे खलु भो ! गिहीणं धम्मे गिहिवासमज्झे वसंताणं ॥ ८ ॥

छा० दुर्लभः खलु भो ! गृहिणां धर्मो गृहवासमध्ये वसताम् ॥ ८ ॥

‘दुलहे०’—दुर्लभः खलु भो ! गृहिणां धर्मः, खलुरवधारणे, दुर्लभ एव प्रमादबहुलत्वात्, गृहवास(पाश)-मध्ये वसताम्, गृहशब्देन पाशकल्पाः पुत्रकलत्रादयो गृह्यन्ते ८ ।

आयंके से वहाय होइ ॥ ९ ॥ संकप्पे से वहाय होइ ॥ १० ॥

छा० आतङ्कस्तस्य वधाय भवति ॥ ९ ॥ सङ्कल्पस्तस्य वधाय भवति ॥ १० ॥

‘आयंके०’—आतङ्कस्तस्य वधाय भवति, आतङ्कः—सद्योधाती विसूचिकादिरूपः ९ ।

‘संकप्पे०’—सङ्कल्पस्तस्य वधाय भवति, सङ्कल्पः—इष्टानिष्ट(योग)वियोगप्राप्तिजो मानसातङ्कस्तस्य गृहिणस्तथाचेटायोगात्—मिथ्याविकल्पाभ्यासेन ग्रहादिप्राप्तेर्वधाय भवति १० ।

१ ‘इष्टानिष्टवियोगप्राप्तिजो मानसातङ्कः’ इति च पाठः ।

चूलिका १

॥ ३३० ॥

सोवक्त्रेसे गृहवासे, निरुवक्त्रेसे परिआए ॥ ११ ॥
छा० सोपक्त्रेशो गृहवासः, निरुपक्त्रेशः पर्यायः ॥ ११ ॥
बंधे गृहवासे, मुखे परिआए ॥ १२ ॥
छा० बन्धो गृहवासः, मोक्षः पर्यायः ॥ १२ ॥
सावज्जे गृहवासे, अणवज्जे परिआए ॥ १३ ॥
छा० सावन्धो गृहवासः, अनवद्यः पर्यायः ॥ १३ ॥

- ‘सोवक्त्रेसे०’—सोपक्त्रेशो गृहवासः सहोपक्त्रेशैः कृषिवाणिज्यादिकैः स सोपक्त्रेशः ११ ।
‘निरुवक्त्रेसे०’—निरुपक्त्रेशः पर्यायः, एभिरेवोपक्त्रेशै रहितः १२ ।
‘बंधे०’—बन्धो गृहवासः सदा तद्धेतुवृत्तानात्कोशकारकीटकवत् १३ ।
‘मुखे०’—मोक्षः पर्यायः, अनवरतं कर्मनिगडविगमान्मुक्तवत् १४ ।
‘सावज्जे०’—अत एव सावन्धो गृहवासः, सावद्यः—सपापः १५ ।
‘अणवज्जे०’—अनवद्यः पर्यायः, अहिंसादिपालनात्मकत्वात् १६ ।

बहुसाधारणा गृहीणं कामभोगा ॥ १४ ॥
छा० बहुसाधारणा गृहिणां कामभोगाः ॥ १४ ॥

चूलिका १

॥ ३३१ ॥

‘बहुसाधारणा०’—बहुसाधारणा गृहिणां कामभोगा इति, बहुसाधारणाश्चैराजकुलादिसामान्या गृह-
स्थानां कामभोगाः १७ (१४) ।

वशावि०
॥ ३३२ ॥

पत्तेअं पुण्यपापं ॥ १५ ॥

छा० प्रत्येकं पुण्यपापम् ॥ १५ ॥

‘पत्तेअं०’—प्रत्येकं पुण्यपापमिति मातापितृपुत्रकलत्रादिनिमित्तमप्यनुष्ठितं पुण्यपापं प्रत्येकं—पृथक् पृथक्,
येनानुष्ठितं तस्य कर्तुरेव तदिति भावार्थः १८ (१५) ।

एतदन्तर्गतो वृद्धाऽभिप्रायेणाऽशेषग्रन्थः, समस्तोऽत्रैव, अन्ये तु वाचककृतौ (व्याचक्षते)—‘सोपक्लेशो
गृहवासः,’ इत्यादिषु पदेषु स्थानेषु सप्रतिपक्षेषु स्थानत्रयं गृह्यते, एवञ्च ‘बहुसाधारणा गृहिणां कामभोगाः’ इति
चतुर्दशं स्थानम् १४ । ‘प्रत्येकं पुण्यपापमिति’ पञ्चदशम् १५ । शेषाप्यभिधीयन्ते—

अणिच्चे खलु भो ! मणुआण जीविए कुशाग्रजलबिन्दुचंचले ॥ १६ ॥

छा० अनित्यं खलु भो ! मनुजानां जीवितं कुशाग्रजलबिन्दुचञ्चलम् ॥ १६ ॥

‘अणिच्चे०’—अनित्यं खलु भो ! मनुष्याणां जीवितं कुशाग्रजलबिन्दुचञ्चलम्, तदलं गृहस्थाश्रमेण १६ ।

बहुं च खलु भो ! पापं कम्मं पगळं ॥ १७ ॥

छा० बहु च खलु भो ! पापं कर्म प्रकटम् ॥ १७ ॥

‘बहुं च०’—बहु च खलु भो ! पापं कर्म प्रकटम्, बहु च—‘च’—शब्दात्किलटञ्च, खलुशब्दोऽवधारणे,

चूलिका १

॥ ३३२ ॥

बद्धेव पापं कर्म—चारित्रमोहनीयादि, प्रकृतं—निर्वर्तितं, मयेति गम्यते, श्रामण्यप्राप्तावप्येवं क्षुद्रबुद्धिर्भवति, अतो न किञ्चिद्ब्रूहाश्रमेण १७ ।

चूलिका १

पावाणं च खलु भो ! कडाणं कम्माणं पुब्बिं दुच्चिण्णाणं दुप्पडिक्कंताणं वेइत्ता मुक्खो, णत्थि अवेइत्ता, तवसा वा झोसइत्ता, अट्टारस्समं पयं भवइ ॥ १८ ॥ भवइ अ इत्थ सिलोगो—

छा० पापानां च खलु भो ! कृतानां कर्मणां पूर्वं दुश्च्रीर्णानां दुष्प्रतिक्रान्तानां वेदित्वा मोक्षः, नाऽस्त्यवेदित्वा, तपसा वा शोषयित्वा, अष्टादशं पदं भवति ॥ १८ ॥ भवति चाऽत्र श्लोकः—

‘पावाणं०’—पापानां च, वा पुण्यानां, खलु भो ! कृतानां कर्मणां, ‘खलु’—शब्दः कारिताऽनुमति विशेषणार्थः, भो ! इति शिष्यामन्त्रणे, प्राक्—पूर्वमन्यजन्मसु दुश्चरितानां प्रमादकपायजदुश्चरित(जनितानि) दुश्चरितानि, कारणे कार्यो-पचारात्, दुश्चरितहेतूनि वा, कार्ये कारणोपचारात्, एवं दुष्पराक्रान्तानां—मिथ्यादर्शनाऽविरतिजदुष्पराक्रान्तजनितानि दुष्पराक्रान्तानि, हेतौ फलोपचारात्, दुष्पराक्रान्तहेतूपचारात्, इह च दुश्चरितानि मद्यपानाऽल्लंकारभाषणादीनि, दुष्पराक्रान्तानि तु वधवन्धादीनि, तदमीपामेवम्भूतानां कर्मणां वेदयित्वा—अनुभूय, फलमिति वाक्यशेषः, किम् ! मोक्षो भवति-प्रधानपुरुषार्थो, भवति, नास्त्यवेदयित्वा, ‘तपसा वा क्षपयित्वा’ इति न किञ्चिद्ब्रूहाश्रमेणेति सम्प्रत्युपेक्षितव्यमिति, अष्टादशं पदं भवति १८ । भवति चाऽत्र श्लोकः । अत्रेत्यष्टादशस्थानार्थसम्बन्धे उक्ताऽनुक्तार्थसङ्ग्रहपर इत्यर्थः ।

॥ ३३३ ॥

दशवि०
॥ ३३३ ॥

जया य चयइ धम्मं अणज्जो भोगकारणा ।

से तथ मुच्छिण्ण बाले आयइ नावबुद्धइ ॥ १ ॥

छा० यदा च त्यजति धर्मम्, अनार्यो भोगकारणात् ।

स तत्र मूर्च्छितो बालः, आयतिं नाऽवबुध्यते ॥ १ ॥

‘जया०’—यदा चैवमप्यष्टादशसु व्यावर्तनकारणेषु सत्त्वपि जहाति—त्यजति धर्मं—चारित्र्यलक्षणम्, अनार्य इति—अनार्य इवानार्यः—स्तेच्छवेष्टितः, किमर्थमित्याह—भोगकारणेन—शब्दादिभोगानिमित्तम्, स धर्मत्यागी तेषु भोगेषु मूर्च्छितः—गृहः, बालः—अज्ञः, ‘आयतिम्’—आगमिकालम्, नावबुध्यते—न सम्यगवगच्छतीति ॥ १ ॥

जया ओहाविओ होइ इंदो वा पडिओ छमं ।

सव्वधम्मपरिभट्ठो स पच्छा परितप्पइ ॥ २ ॥

छा० यदा औषिको भवति, इन्द्रो वा पतितः क्षमाम् ।

सर्वधर्मपरिश्रष्टः स पश्चात्परितप्यते ॥ २ ॥

‘जया०’—यदाऽऽसृतो भवति संयमसुखविभूतेः, उत्पन्नजित इत्यर्थः, इन्द्र इव पतितः—क्षमा गतः, स्वविभवंशरोन भूमौ पतित इति भावः । सर्वधर्मपरिश्रष्टः स पश्चान्मनाग मोहावसाने परितप्यते—किमिदमकार्यं मयाऽनुष्ठितमित्यनुतापं करोति ॥ २ ॥

जया य वंदिमो होइ पच्छा होइ अवंदिमो ।

देवया व चुआ ठाणा स पच्छा परितप्पइ ॥ ३ ॥

छा० यदा च वन्द्यो भवति, पश्चाद्भवत्यवन्द्यः ।

देवतेव च्युता स्थानात्, स पश्चात्परितप्यते ॥ ३ ॥

‘जया०’—यदा च वन्द्यो भवति पश्चाद्भवत्यवन्द्यः, तदा च देवता इव काचिदिन्द्रवज्रात् स्थानच्युता सती स पश्चात् परितप्यते ॥ ३ ॥

जया य पूइमो होइ पच्छा होइ अपूइमो ।

राया व रज्जपम्भट्टो स पच्छा परितप्पइ ॥ ४ ॥

छा० यदा च पूज्यो भवति, पश्चाद्भवत्यपूज्यः ।

राजेव राज्यप्रभ्रष्टः, स पश्चात्परितप्यते ॥ ४ ॥

‘जया०’—यदा च पूज्यो भवति पश्चाद्भवत्यपूज्यः, तदा राजेव राज्यप्रभ्रष्टः स महतो भोगादिप्रयुक्तः स पश्चात् परितप्यते ॥ ४ ॥

जया य माणिमो होइ पच्छा होइ अमाणिमो ।

सिट्ठिव्व कच्चडे छूढो स पच्छा परितप्पइ ॥ ५ ॥

छा० यदा च मान्यो भवति, पश्चाद्भवत्यमान्यः ।

श्रेष्ठी व कर्बटे क्षिप्तः, स पश्चात्परितप्यते ॥ ५ ॥

‘जया०’—यदा च मान्यो भवति पश्चाद्भवत्यमान्यः, तदा श्रेष्ठीव कर्बटे—महाक्षुद्रसन्निवेशे क्षिप्तः स पश्चात् परितप्यते ॥ ५ ॥

जया य थेरओ होइ समइकंतजुव्वणो ।

मच्छुव्व गलं गिलित्ता स पच्छा परितप्पइ ॥ ६ ॥

छा० यदा च स्थविरो भवति, समतिक्रान्तयौवनः ।

मत्स्य इव वडिशं गिलित्वा, स पश्चात्परितप्यते ॥ ६ ॥

‘जया०’—यदा च स्थविरो भवति समतिक्रान्तयौवनः, एकान्तस्थाविर इति भावः, तदा विपाककटुत्वाद्भोगानां मत्स्यं इव गलं—वडिशं गिलित्वा—अविगृह्य तथाविधकर्मलोहकण्टकाविद्धः सन् स पश्चात् परितप्यते ॥ ६ ॥

जया य कुकुडुंवस्स कुतत्तीहिं विहम्मइ ।

हत्थी व बंधणे बद्धो स पच्छा परितप्पइ ॥ ७ ॥

छा० यदा च कुकुदुम्यस्य, कुतप्तिभिर्विहन्यते ।

हस्तीव बन्धने बद्धः, स पश्चात्परितप्यते ॥ ७ ॥

दशरथः
॥ ३३७ ॥

‘जया०’—यदा च कुकुटुम्बस्य कुतसिभिः—आत्मसन्तापकारिणीभिर्विह्वल्यते—विषयभोगान् प्रति विधातं
नीयते, तदा हस्तीव कुकुटुम्बबन्धनबद्धः स पश्चात् परितप्यते ॥ ७ ॥

पुत्रदारपरिकिण्णो मोहसन्ताणसंतओ ।

पंकोसण्णो जहा णागो स पच्छा परितप्पइ ॥ ८ ॥

छा० पुत्रदारपरिकीर्णः, मोहसन्तानसन्ततः ।

पङ्कावसन्नो यथा नागः, स पश्चात्परितप्यते ॥ ८ ॥

‘पुत्रदार०’—पुत्रदारपरिकीर्णः, मोहसन्तानसन्ततः—दर्शनादिमोहनीयकर्मप्रवाहेन व्याप्तः, पङ्कावसन्नो
यथा नागः—कर्ममाऽयमगो वनगज इव, स पश्चात् परितप्यते ॥ ८ ॥

अज्ज आहं गणी हुंतो भाविअप्पा बहुस्सुओ ।

जइ हं रमतो परिआए सामण्णे जिणदेसिए ॥ ९ ॥

छा० अद्य चाऽहं गणी भवेयम्, भावितात्मा बहुश्रुतः ।

यद्यहं रमेय पर्याये, श्रामण्ये जिनदेशिते ॥ ९ ॥

‘अद्य०’—अद्य—अस्मिन्निवसे, अहमिति आत्मनिर्देशे, गणी स्याम्—आचार्यो भवेयम्, भावितात्मा बहु-
श्रुतः, यद्यहमरमिष्यं—रतिमकरिष्यम् पर्याये—प्रवृत्त्यारूपे श्रामण्ये श्रमणानां सम्बन्धिनि—जिनदर्शिते ॥ ९ ॥ अवधा-
नोत्प्रेक्षिणः स्थितीकरणार्थमाह—

दशरथः—२९

चूलिका १

॥ ३३७ ॥

देवलोगसमाणो ऽ परिआओ महेसिणं ।
रयाणं, अरयाणं च महानरयसालिसो ॥ १० ॥
छा० देवलोकसमानस्तु, पर्यायो महर्षीणाम् ।
रतानामरतानां च, महानरकसदृशः ॥ १० ॥

‘देवलोग०’—देवलोकसमानस्तु पर्यायो महर्षीणां रतानां पर्याय एवेति गम्यते, अरतानाञ्च चाद्विषयाभिला-
षिणाञ्च—भगवद्विद्विडम्बकानां महानरकसदृशः ॥ १० ॥ एतदुपसंहारेणैव निगमयन्नाह—

अमरोवमं जाणिअ सुखमुत्तमं ।
रयाण परिआइ तहारयाणं ॥
नरओवमं जाणिअ दुखमुत्तमं ।
रमिज्ज तम्हा परिआइ पंडिए ॥ ११ ॥
छा० अमरोपमं ज्ञात्वा सौख्यमुत्तमम् ।
रतानां पर्याये तथाऽरतानाम् ॥
नरकोपमं ज्ञात्वा दुःखमुत्तमम् ।
रमेत तस्मात्पर्याये पण्डितः ॥ ११ ॥

‘अमरो०’—अमरोत्तमं ज्ञात्वा सौख्यमुत्तमं रतानां पर्याये, तथा अरतानाञ्च नरकोपमं ज्ञात्वा दुःखमुत्तमं, परमादेवं रताऽरतविपाकः, तस्माद्रमेत—शक्तिं(रतिं) कुर्यात्पर्याये षण्डितः ॥ ११ ॥ पर्यायच्युतस्यैहिकदोषमाह—

चूलिका १

धम्माउ भट्टं सिरिओ अवेअं ।
जण्णग्गिविज्झायमिवप्पतेअं ॥
हीलंति णं दुच्चिहियं कुसीला ।
दादुट्ठिअं घोरविसं व णागं ॥ १२ ॥

उ० धर्माद्धट्टं श्रियोऽपेतम् ।
यज्ञाग्निं विध्यातमिवाल्पतेजसम् ॥
अनाद्रियन्ते दुर्विहितं कुशीलाः ।
दंष्ट्रोद्धृतं घोरविषमिव नागम् ॥ १२ ॥

‘धम्माउ०’—धर्माद्धट्टं श्रियोऽपेतं—तपोलक्ष्म्या अपगतं यज्ञाऽग्निं विध्यातमिव यागाऽदसानेऽल्पतेजसम्, ‘अन्’—शब्दोऽभावे, तेजःभून्यं—भग्नकल्पमित्यर्थः, हीलयन्ति—रुद्धयन्ति पतितस्त्वमिति षड्कृत्यपसारणादिना, एनमुन्निभ्रान्तं दुर्विहितं—दुष्टाऽनुष्ठायिनं कुशीलः—तत्सङ्कोचिता लोकाः, [प्राकृतत्वात्] उद्धृतदंष्ट्रम्—उत्खातदंष्ट्रं घोरविषमिव नागम् ॥ १२ ॥ एवमस्य भट्टशिलस्य ओषत ऐहिकं दोषमभिधाय ऐहिकामुभिकमाह—

॥ ३३९ ॥

इहेवऽधम्मो अयसो अकित्ती ।

दुण्णामधिज्जं च पिहुज्जणंमि ॥

चुअस्स धम्माउ अहम्मसेविणो ।

संभिण्णवित्तस्स य (हि)दिट्ठओ गइ ॥ १३ ॥

छा० इहेवाधर्मोऽयशोऽकीर्तिः ।

दुर्नामधेयं च पृथग्जने ॥

च्युतस्य धर्मादधर्मसेविनः ।

सम्भिन्नवित्तस्य च(नीचतो)दिष्टतो गतिः ॥ १३ ॥

‘इहेव०’—इहेवाधर्मोऽयशोऽकीर्तिः, दुर्नामधेयश्च, ‘पुराणः पतितः’ इति कुत्सितनामधेयश्च भवति, पृथग्जने—सामान्यलोकेऽपि, आस्तां विशिष्टलोके, च्युतस्य धर्मादधर्मसेविनः सम्भिन्नवृत्तस्य च—अखण्डनीयखण्डितचारित्रस्य, अधस्ताद्गतिः—नरकेपूष्पातः ॥ १३ ॥ अस्यैव विशेषप्रत्यपायमाह—

भुंजितु भोगाहं पसज्झचेअसा ।

तहाविहं कट्ठु असंजमं बहं ॥

गइं च गच्छे अणहिज्जिअं दुहं ।

वोही अ से णो सुलहा पुणो पुणो ॥ १४ ॥

छा० भुक्त्वा भोगान्प्रसह्यचेतसा ।

तथाविधं कृत्वाऽसंयमं बहुम् ॥

गतिं च गच्छेदनभिध्यातां दुःखाम् ।

बोधिश्च तस्य नो सुलभः पुनः पुनः ॥ १४ ॥

चूलिका १

‘भुञ्जितु०’—भुक्त्वा भोगान् प्रसह्यचेतसा—धर्मनिरपेक्षतया प्रकटचित्तेन तथाविधं कृत्वाऽसंयमं—
कृष्यादिरूपं बहुम्—असन्तोषात्प्रभूतं गतिं च गच्छति अनभिध्याताम्—अनिष्टामित्यर्थः, दुःखां—प्रकृत्यैवाऽसुन्दराम्,
बोधिश्च—जिनधर्माऽवाप्तिः से—अस्यैव वा उन्निष्क्रान्तस्य न सुलभा (भः) पुनः प्रभूतेष्वपि जन्मसु ॥ १४ ॥ यस्मा-
देवं तस्मादुत्पन्नदुःखोऽप्येतदनुचिन्त्य नोत्प्रव्रजेदित्याह—

इमस्स ता नेरइअस्स जंतुणो ।

दुहोवणीअस्स किलेसवत्तिणो ॥

पलिओवमं झिज्झइ सागरोवमं ।

किमंग पुण मज्झ इमं मणोदुहं ॥ १५ ॥

छा० अस्य तावन्नारकस्य जन्तोः ।

दुःखोपनीतस्य क्लेशवर्तिनः ॥

॥ ३४१ ॥

पल्योपमं क्षीयते सागरोपमम् ।

किमङ्ग ! पुनर्ममेदं मनोदुःखम् ॥ १५ ॥

‘ इमस्स० ’—‘ अस्य तावत् ’ इत्यात्मन एव निर्देशः, नारकस्य जन्तोः—नरकमनुप्राप्तस्येत्यर्थः, दुःखोप-
नीतस्य—सामीप्येन प्राप्तदुःखस्य, क्लेशवृत्तेः—एकान्तक्लेशचेष्टितस्य सतो नरके एव पल्योपमं क्षीयते, सागरोपमं
च, किमङ्ग पुनर्ममेदं संयमारतिनिष्पन्नं मनोदुःखम् ? ॥ १५ ॥

न मे चिरं दुःखमिणं भविस्सइ ।

असासया भोगपिवास जंतुणो ॥

न चे सरीरेण इमेण वस्सइ ।

अवस्सइ जीविअपज्जवेण मे ॥ १६ ॥

छा० न मे चिरं दुःखमिदं भविष्यति ।

अशाश्वती भोगपिपासा जन्तोः ॥

न चेच्छरीरेणाऽनेनाऽपयास्यति ।

अपैप्यति जीवितपर्ययेन मे ॥ १६ ॥

‘ न मे० ’—न मम चिरं दुःखमिदं भविष्यति, अशाश्वती भोगपिपासा जन्तोः, न चेच्छरीरेणाऽनेन अपया-
स्यति, वृद्धस्याऽपि सतः, तर्हि अपयास्यत्येव जीवितस्य पर्ययेण—जीवितव्यपगमेन—मरणेन ॥ १६ ॥ अस्यैव फलमाह—

चूलिका १

॥ ३४२ ॥

दृश्यं०
॥ ३४२ ॥

जस्सेवमप्पा उ हविज्ज णिच्छिओ ।

चइज्ज देहं न उ धम्मसासणं ॥

तं तारिसं णो पइलंति इंदिआ ।

उवंतवाया व सुदंसणं गिरिं ॥ १७ ॥

छा० यस्यैवात्मा तु भवेन्निश्चितः ।

त्यजेद्देहं न तु धर्मशासनम् ॥

तं तादृशं नो प्रचालयन्तीन्द्रियाः ।

उत्पतद्वाता इव सुदर्शनं गिरिम् ॥ १७ ॥

‘जस्सेव०’—यस्यैवमुक्तप्रकारेण आत्मेव, तुरेवकारार्थः, भवेन्निश्चितः—दृढः स त्यजेद्देहं, क्वचिद्विघ्ने
आपते सति, न तु धर्मशासनं—धर्माज्ञाम्, तं तादृशं धर्मे निश्चितं न प्रचालयन्ति—प्रकम्पयन्ति इन्द्रियाणि । निद-
र्शनमाह—उत्पतद्वाता इव सुदर्शनं गिरिम् ॥ १७ ॥ उपसंहरन्नाह—

इच्चैव संपत्तिअ बुद्धिमं नरो ।

आयं उवायं विविहं विआणिआ ॥

काएण वाया अडु माणसेणं ।

तिगुत्तिगुत्तो जिणवयणमहिद्धिज्जासि ॥ १८ ॥ त्ति वेमि ।

छा० इत्येवं संदृश्य बुद्धिमान्नरः ।

आयमुपायं विविधं विज्ञाय ॥

कायेन वाचाऽथ मानसेन ।

त्रिगुप्तिगुप्तो जिनवचनमधितिष्ठेत् ॥ १८ ॥ इति ब्रवीमि ।

‘इच्छेव०’-इत्येतदु(वं)दुष्प्रजीवित्वादि सन्नेक्ष्य बुद्धिमान् नरः, आयं-ज्ञानादिलामम्, उपायं-तस्यैव साधनप्रकारं, विविधमनेकप्रकारं विज्ञाय, कायेन वाचाऽथ मनसा (त्रिभिरपि करणैः) त्रिगुप्तिगुप्तः सन् जिनवचनम्-अर्हदुपदेशम् अधितिष्ठेत् । ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥ १८ ॥ इति रतिवाक्याध्ययनाऽवचूरिः ।

॥ रश्मिक्का चूलिआ (चूला) षष्ठमा ॥

॥ इति रतिवाक्या चूलिका (चूडा) प्रथमा ॥



॥ अथ द्वितीया चूलिका ॥

इति ३८
॥ ३४५ ॥

व्याख्यात प्रथमचूडाऽभ्ययनम् । अथ द्वितीयमारभ्यते, अस्यौघत सम्बन्धः प्रतिपादित एव, विशेषतस्त्वन-
न्तराऽभ्ययने संदितः स्थिरीकरणमुक्तम्, इह तु विविक्तचर्योच्यते, इत्ययमभिसम्बन्धः ।

चूलिका २

चूडिअं तु प्रवक्ष्यामि सुअं केवलिभासिअं ।

जं सुणिनु सुपुण्णाणं धम्मे उत्पज्जए मई ॥ १ ॥

छा० चूडिकां तु प्रवक्ष्यामि, श्रुतां केवलिभाषिताम् ।

यच्छ्रुत्वा सुपुण्यानां, धर्म उत्पद्यते मतिः ॥ १ ॥

‘चूडिअं०’—चूडा तु प्रवक्ष्यामि, ‘श्रुत केवलिभाषितमिति’ इयं हि चूडा श्रुत—श्रुतज्ञान वर्तते, कारणे
कार्योपचारात्, एतच्च केवलिभाषितम्—अनन्तरमेव केवलिना प्ररूपितमिति सफल विशेषणम् । एव च वृद्धवादः—कया-
पिदार्पया सद्विष्णुः कुरगडुकमायः सयतश्चातुर्मासिकादावुपवासं कारितः स तदाराधनया मृत एव । ऋषिघातकाऽहमि-
त्युद्दिष्टा सा तीर्थंकरं पृच्छामीति गुणावर्जितदेवतया नीता सीमन्धरसमीपं, पृष्टो भगवान्, अदुष्टचिन्ताऽघातिका इत्य-
भिधाय भगवतेमां चूडां प्राहितेति, इदमेव विशेष श्रुत्वा सुपुण्यानां धर्मे—चारित्र्यधर्मे—उत्पद्यते मतिः ॥ १ ॥

॥ ३४५ ॥

अणुसोअपटिए बहुजणंमि पडिसोअलद्धलक्खेणं ।

पाटिसोअमेव अप्पा दायद्वो होउकामेणं ॥ २ ॥

छा० अनुस्रोतः पतिते बहुजने, प्रतिश्रोतोलब्धलक्ष्येण ।

प्रतिश्रोत एवात्मा, दातव्यो भवतुकामेन ॥ २ ॥

‘अणुस्रोतः’—अनुस्रोतः प्रस्थिते—नदीपूरप्रवाहपतितकाष्ठवद् विषयकुमार्गद्रव्याक्रियाऽनुकूल्येन प्रवृत्ते बहु-
जने, प्रतिश्रोतोलब्धलक्ष्येण द्रव्यतत्त्वस्यामेव नद्या कथाञ्चिदेवतानु(नि)योगात् प्रतिपन्नोतः प्राप्तलक्ष्येण भावतस्तु विषयादि-
विद्वत्संयमलक्ष्येण प्रतिश्रोत एव दुरपाकरणीयमप्यपाकृत्य विषयादि संयमलक्ष्याऽभिमुखमेवात्मा-
—प्रवर्तयितव्यः, भवितुकामेन—संसारसमुद्रपरिहारेण मुक्ततया भवितुकामेन साधुना ॥ २ ॥ अधिकृतमेव

अणुस्रोतसुखो लोको पण्डितोऽसौ सुविहिताणं ।

अणुस्रोतो संसारो पण्डितोऽसौ तस्स उत्तरो ॥ ३ ॥

छा० अनुश्रोतः सुखो लोकः, प्रतिश्रोत आस्रवः सुविहितानाम् ।

अनुश्रोतः संसारः, प्रतिश्रोतस्तस्योत्तारः ॥ ३ ॥

‘अणुस्रोतः’—अनुश्रोतः सुखो लोकः, उदकनिम्नाऽभिसर्पणवत् प्रकृत्याऽनुकूलविषयादिसुखो लोकः कर्म-
—तस्माद्विपरीत आस्रवः—इन्द्रियजयादिरूपः परमार्थविशेषः कायवाङ्मनोव्यापारः, आश्रमो वा
१ । उभयफलमाह—अनुश्रोतः संसारः, प्रतिश्रोतस्तस्येपि [पञ्चम्यर्थे षष्ठी] तस्मात् संसा-
॥ यस्मादेवमत आह—

चुल्लिका २

॥ ३४६ ॥

तम्हा आचारपरक्रमेणं संवरसमाधिबहुलेणं ।

चरिआ गुणा य नियमा य हुंति साहूण दृढ्वा ॥ ४ ॥

छा० तस्मादाचारपराक्रमेण, संवरसमाधिबहुलेन ।

चर्या गुणाश्च नियमाश्च, भवन्ति साधुना द्रष्टव्याः ॥ ४ ॥

चूलिका २

‘तम्हा०’—तस्मादाचारपराक्रमेण—आचारे ज्ञानादौ पराक्रमः—प्रवृत्तिबलं यस्य स आचारपराक्रमः, तेन, संवरसमाधिबहुलेन—संवरे—इन्द्रियादिविषये समाधिः—अनाकुलत्वं बहुलं—प्रभूतं यस्य सः, तेन, चर्या—अनियतवासा-
दिरूपा, गुणाश्च मूलोत्तरगुणाः, नियमाश्च—उत्तरगुणानामेव पिण्डविशुद्ध्यादीनां स्वकालाऽऽसेवननियोगा भवन्ति,
साधूनामेते चर्यादयो भवन्ति द्रष्टव्याः ॥ ४ ॥ चर्यामाह—

अणिणअवासो समुआणचरिआ ।

अण्णापउच्छं पइरिक्किया अ ॥

अप्पोवही कलहविवज्जणा य ।

विहारचरिआ इसिणं पसत्था ॥ ५ ॥

छा० अनिकेतवासः समुदानचर्या ।

अज्ञातोञ्छं प्रतिरिक्ता च ॥

॥ ३४७ ॥

छ० अनुस्रोतःपतिते बहुजने, प्रतिश्रोतोलब्धलक्ष्येण ।

प्रतिश्रोत एवात्मा, दातव्यो भवतुकामेन ॥ २ ॥

‘अणुसोअ०’—अनुस्रोतःप्रस्थिते—नदीपूरप्रवाहपतितकाष्ठवद् विषयकुमार्गद्रव्याक्रियाऽनुकूल्येन प्रवृत्ते बहु-
जने प्रतिश्रोतोलब्धलक्ष्येण द्रव्यतस्तस्यामेव नद्यां कथाच्चिदेवतानु(नि)योगात् प्रतिपश्रोतःप्राप्तलक्ष्येण भावतस्तु विषयादि-
वैपरीत्यात्, कथाच्चिदवाससंयमलक्ष्येण प्रतिश्रोत एव दुरपाकरणीयमन्यपाकृत्य विषयादि संयमलक्ष्याऽभिमुखमेवात्मा-
जीवो दातव्यः—प्रवर्तयितव्यः, भवितुकामेन—संसारसमुद्रपरिहारेण मुक्ततया भवितुकामेन साधुना ॥ २ ॥ अधिकृतमेव
स्पष्टयन्नाह—

अणुसोअसुहो लोओ पडिसोओ आसवो सुविहिआणं ।

अणुसोओ संसारो पडिसोओ तस्स उत्तारो ॥ ३ ॥

छ० अनुश्रोतःसुखो लोकः, प्रतिश्रोत आस्रवः सुविहितानाम् ।

अनुश्रोतः संसारः, प्रतिश्रोतस्तस्योत्तारः ॥ ३ ॥

‘अणुसोअ०’—अनुस्रोतःसुखो लोकः, उदकनिम्नाऽभिसर्पणवत् प्रकृत्याऽनुकूलविषयादिसुखो लोकः कर्म-
गुरुत्वात्, प्रतिश्रोत एव तस्माद्विपरीत आस्रवः—इन्द्रियजयादिरूपः परमार्थपेशलः कायवाङ्मनोव्यापारः, आश्रमो वा
मतग्रहणादिरूपः सुविहितानाम् । उभयफलमाह—अनुस्रोतः संसारः, प्रतिश्रोतस्तस्येपि [पञ्चम्यर्थे पठ्यते] तस्मात् संसा-
रात्, उत्तारः—उत्तरणम् ॥ ३ ॥ यस्मादेवमत आह—

चूलिका २

॥ ३४६ ॥

प्रायो वृत्तौ वर्तते, संसृष्टकल्पेन—हस्तमात्रकादिसंसृष्टविधिना चरेद्भिक्षुः, अन्यथा पुरःकर्माविदोषात्, तज्जातिसंसृष्टे—
आमगोरसादिस्मान्जातीयसंसृष्टे हस्तमात्रकादौ यतिर्यतेत—यत्नं कुर्यात् ॥ ६ ॥

पञ्चविंश
॥ ३४९ ॥

अमज्जमंसासि अमच्छरी अ ।

अभिक्षणं निर्विगडं गया अ ॥

अभिक्षणं काउसगगकारी ।

सज्झायजोगे पयओ हविज्जा ॥ ७ ॥

छा० अमद्यमांसाश्यमत्सरी च ।

अभीक्ष्णं निर्विकृतिं गतश्च ॥

अभीक्ष्णं कायोत्सर्गकारी ।

स्वाध्याययोगे प्रयतो भवेत् ॥ ७ ॥

‘अमज्ज०’—अमद्यमांसाशी भवेत्, अमत्सरी च भवेत्, अभीक्ष्णं—पुनः पुनः पुष्टकारणाभावे विर्विकृति-
कश्च—निर्गतविकृतिपरिभोगश्च भवेत्, अभीक्ष्णं गमनाऽगमनादिषु विकृतिपरिभोगे च कायोत्सर्गकारी भवेत्, स्वाध्याय-
योगे—वाचनादौ प्रयतः—अतिशयप्रयत्नवान् भवेत् ॥ ७ ॥

न पडिण्णविज्जा सयणासणाहं ।

सिज्जं णिसिज्जं तह भत्तपाणं ॥

१ ‘गया’ इति स्थाने ‘गओ’ इति रूपं व्याकरणदृष्ट्या शुद्धं स्यात् ।

२०१६-२०१७

पुलिका १

॥ ३४९ ॥

अल्पोपधिः कलहविवर्जना च ।

विहारचर्या ऋषीणां प्रशस्ताः ॥ ५ ॥

‘अणिअ०’-अनियतवासो मासकल्पादिना, अनिकेतवासो वा-अगृहे-उद्यानादौ वासः, समुदानचर्या अनेकत्र भिक्षाचरणम्, अज्ञातोच्छ्रं-विशुद्धोपकरणविषयम्, ‘पइरिक्कया अ’,-विजनैकान्तसेविता च, अल्पोपधित्वं कलह-विवर्जना च, विहारचर्या-विहरणस्थितिः, एवम्भूता ऋषीणां प्रशस्ता ॥ ५ ॥

आइण्णओमाणविवज्जणा य ।

ओसण्णदिट्ठाहडभत्तपाणे ॥

संसट्ठकप्पेण चरिज्ज भिक्खू ।

तज्जाय-संसट्ठ जई जइज्जा ॥ ६ ॥

छा० आकीर्णाऽवमानविवर्जना च ।

अवसन्नदृष्टाहतभक्तपाने ॥

संसृष्टकल्पेन चरेद्धिक्षुः ।

तज्जातसंसृष्टो यतिर्यतेत ॥ ६ ॥

‘आइण्ण०’-आकीर्णाऽवमानविवर्जना च-आकीर्णं-संखड्यादि, अवमानं-लोकाबहुमानादि, अस्य विव-र्जनम्, आकीर्णं हस्तपादादिल्लणदोपात्, उत्सन्नदृष्टाहतं भक्तपानम्, ऋषीणां प्रशस्तमिति योगः, ‘उत्सन्न’-शब्दः

चूलिका २

॥ ३४८ ॥

असंक्रिष्टैः समं वसेत् ।

मुनिश्चारित्रस्य यतो न हानिः ॥ ९ ॥

‘गृहिणो०’—गृहिणो वैयावृत्यं न कुर्यात्, अभिवादनं—वाङ्मनस्काररूपं, वन्दनं—कायप्रणामलक्षणं, पूजनं वा वस्त्रादिभिः, समभ्यर्चनं वा गृहिणो न कुर्यात्, असंक्रिष्टैः—गृहिवैयावृत्यादिकरणसंकलेशरहितैः साधुभिः समं वसेन्मुनिः, चारित्रस्य यतः—येभ्यः सकाशात् न हानिः ॥ ९ ॥ विशेषमाह—

चुलिका २

न या लभेज्जा निपुणं सहायं ।

गुणाहियं वा गुणो समं वा ॥

एगो वि पावाहं विवर्जयंतो ।

विहरिज्ज कामेसु असज्जमाणो ॥ १० ॥

छा० न वा लभेत निपुणं सहायम् ।

गुणाधिकं वा गुणतः समं वा ॥

एकोऽपि पापानि विवर्जयन् ।

विहरेत्कामेष्वसज्जन् ॥ १० ॥

‘न या०’—न यदि लभेत निपुणं-सहायं, किंविशिष्टम् ? गुणाऽधिकं वा—ज्ञानादिगुणोत्कृष्टं वा, गुणतः समं वा—[तृतीयार्थे पञ्चमी] गुणैस्तुल्यं वा, ‘वा’—शब्दाद्धीनमपि, जात्यं—काञ्चनकल्पं, विनीतं वा, एकोऽपि

॥ ३५१ ॥

१ ‘अभिवादनं वाङ्मनस्कारक्रिया, वन्दनं गुणस्तुतिः’ इति प्रत्यन्तरे ।

गामे कुले वा नगरे वा देशे ।
ममत्वभावं न कर्हन्चि कुज्जा ॥ ८ ॥

छा० न प्रतिज्ञापयेच्छयनासनानि ।
शय्यां निषद्यां तथा भक्तपानम् ॥
ग्रामे कुले वा नगरे वा देशे ।
ममत्वभावं न क्वचित्कुर्यात् ॥ ८ ॥

‘न षडि०’—न प्रतिज्ञापयेत्—भास(सादि)कल्पसमाप्तौ गच्छन् ‘भूयो ममैतानि दातव्यानि’ इति न प्रतिज्ञां कारयेद् गृहस्थं, किमाभित्येत्याह—‘शयनाऽऽसने शय्यां निषद्यां तथा भक्तपानं’—शय्या—वसतिः, निषद्या—स्वाध्यायभूमिः, ग्रामे कुले—श्रावककुलादौ नगरे देशे वा ममत्वभावं—ममेदमिति न क्वचिदुपकरणादिष्वपि कुर्यात् ॥ ८ ॥

गृहिणो वेआवडिअं न कुज्जा ।
अभिवायणं वंदण—पूअणं वा ॥
असंकलिद्धेहि समं वसिज्जा ।
मुणीचरित्तस्स जओ न हाणी ॥ ९ ॥
ग० गृहिणो वैयावृत्यं न कुर्यात् ।
अभिवादनं वन्दन—पूजनं वा ॥

पापानि विवर्जयन् विहरेत्—उचितविहारेण, कामेषु असज्जमानः—सङ्गमगच्छन्, एकोऽपि विहरेत्, न तु पार्श्वस्थादि-
पापमित्रसङ्गं कुर्यात् ॥ १० ॥ विहारकालमानमाह—

संवच्छरं वा वि परं प्रमाणं ।
वीअं च वासं न तर्हि वसिजा ॥
सुत्तस्स मग्गेण चरिज्ज भिक्खू ।
सुत्तस्स अत्थो जह आणवेइ ॥ ११ ॥

छा० संवत्सरं वाऽपि परं प्रमाणम् ।
द्वितीये च वर्षे न तत्र वसेत् ॥
सूत्रस्य मार्गेण चरेद्भिक्षुः ।
सूत्रस्यार्थो यथाऽऽज्ञापयति ॥ ११ ॥

‘संवच्छरं०’—संवत्सरं वाऽपि—‘संवत्सर’-शब्देन वर्षासु चातुर्मासिको ज्येष्ठावग्रह उच्यते, तमपि—
‘अपि’-शब्दान्मासमपि परं प्रमाणम्, वर्षाक्रतुबद्धयोर्द्वितीयश्च वर्षं, ‘च’-शब्दस्य व्यवहितोऽपन्यासः, द्वितीयं वर्षं च—

१ ‘संवत्सरशब्देन चातुर्मासिको ज्येष्ठावग्रहोऽपिशब्दाद्गतुबद्धकाले मासकल्पः, एकत्रोत्कृष्टप्रमाणं निवासकालमानमेतत् ।
द्वितीयं वर्षणं—वर्षाकालं न तत्र वसेत् । यत्रैको वर्षाकालः कृतः, तत्र द्वितीयतृतीयौ परिदित्य चतुर्थः कल्पः कृतः, वर्षा विना
मासद्वयं विमुच्य अन्यः पुनः कल्पते’...इति प्रत्यन्तरस्था स्पष्टतरा व्याख्या ।

चुलिका .

॥ ३५२ ॥

इत्थेव सम्मं अणुपासमाणो ।

अणागयं णो पडिबन्ध कुज्जा ॥ १३ ॥

छा० किं मम परः पश्यति किं वाऽत्मा ।

किं वा स्वलितमहं न विवर्जयामि ॥

इत्येवं सम्यगनुपश्यन् ।

अनागतं नो प्रतिबन्धं कुर्यात् ॥ १३ ॥

‘ किं मे० ’—किं मम परः पश्यति स्वलितम् ? किं वाऽऽत्मा क्वचिन्मनाक् संवेगापन्नः ? किं वाऽहमोषत एव स्वलितं न विवर्जयामि ? इत्येवं सम्यगनुपश्यन्, अनागतं न प्रतिबन्धं कुर्यात् ॥ १३ ॥

जत्थेव पासे कइ दुप्पउत्तं ।

काएण वाया अदु माणसेणं ॥

तत्थेव धीरो पडिसाहरिज्जा ।

आइण्णओ विप्पमिवक्खलीणं ॥ १४ ॥

छा० यत्रैव पश्येत्किञ्चिदुप्युक्तम् ।

कायेन वाचाऽथ मानसेन ॥

तत्रैव धीरः प्रतिसंहरेत् ।

आकीर्णकः क्षिप्रमिव खलिनम् ॥ १४ ॥

अप्पा हु खलु सययं रक्खियव्वो ।

सब्बिदिण्हिं सुसमाहिण्हिं ॥

अरक्खिसओ जाइपहं उवेइ ।

सुरक्खिसओ सब्बदुहाणमुच्चइ ॥ १६ ॥ त्ति बेमि ।

छा० आत्मा खलु सततं रक्षितव्यः ।

सर्वेन्द्रियैः सुसमाहितैः ॥

अरक्षितो जातिपथमुपैति ।

सुरक्षितः सर्वदुःखेभ्यो मुच्यते ॥ १६ ॥ इति ब्रवीमि ।

‘अप्पा०’—‘आत्मा खलु’ इति ‘खलु’-शब्दो विशेषणार्थः शक्तौ सत्यां परोऽपि सततं रक्षितव्यः पारलौकिकापायेभ्यः सर्वेन्द्रियैः—स्पर्शनादिभिः सुसमाहितैः, अरक्षितः सन् जातिपन्थानं—संसारमुपैति, सुरक्षितः सर्वदुःखेभ्यो विमुच्यते । ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥ १६ ॥ इति विविक्तचर्या चूलिकाऽवचूरिः ।

॥ विविक्तचरिआ चूलिआ (चूला) बीआ ।

॥ इति विविक्तचर्या चूलिका (चूडा) द्वितीया ॥



श्रीदशबैकालिक सूत्रका सौभाग्यचन्द्रिका हिन्दी टीका ।

॥ प्रथम अध्ययन ॥

अध्या० १

मङ्गलाचरण—

सुरसाधन सुपमा सुमति, सिद्धि-सफलता-हेतु ।

जिनशुरुवाणीका समक्षि, नमूं भयोदधि-सेतु ॥ १ ॥

वयासिन्धु गुरुदेवसे, ज्ञानविन्दु अपनाय ।

दशबैकालिक सूत्रका, लिखूं अर्थ अनयाय ॥ २ ॥

इतिमं पदं तु य आत्माकां यथाकरं सुगतिमं स्थापन करनेवाली क्रिया धर्म है, जो कि आर्हिंसा, संयम और तपस्व है, सदा एकरूपसे विघ्नविनाशक और इष्टसाधक होनेसे यह उत्कृष्ट मङ्गल है । उपरोक्तधर्ममें जिसका मन सदा लगा रहता है उसको देव भी नमस्कार करते हैं, फिर चक्रवर्ती आदि मनुष्योंका तो कहनाही क्या ॥ १ ॥

धर्म देवके आश्रित है और देव आहारपर अवलम्बित है, इसलिये पूर्वोक्त धर्मके आराधकको आहार किस प्रकार लेना चाहिये इसकी विधि बताते हैं—

जिस प्रकार फूलोंके फूलोंपर भौरा मयांदापूर्वक थोड़े २ रसको पीता है, किन्तु फूलोंको कष्ट नहीं पहुंचाता, और यह अपना आत्माको सुख करलेंता है ॥ २ ॥

इसीप्रकार जो ये दार्ष्ट्याप-रूप लोकमें भ्रमण-तपस्या प्रधान जीवनवाले, मुक्त-(धनकनकादि) बाह्य

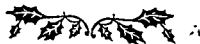
॥ १ ॥

और (मिथ्यात्त्व वगैरह) आभ्यन्तर ग्रंथरहित शान्तिकी साधना करनेवाले साधु ह, वे भी फूलोंपर भ्रमरकी तरह गृहस्थसे दिये गए अचित्त और आधाकर्मादि दोषसे रहित आहारकी एषणा-खोज-में तत्पर रहते हैं ॥ ३ ॥

पूर्वोक्त आहारकी विधिको सुनकर शिष्य कहता है—हम सब इस तरह वृत्ति-जीविका चलायेंगे कि जिससे किसीको भी दुःख नहीं हो । इस प्रतिज्ञाके अनुसार साधु फूलोंपर भौरोंकी तरह गृहस्थके द्वारा अपने लिये किये हुए आहारमेंसे निर्दोष भिक्षा लेनेको गृहस्थके घरोंमें जाते हैं ॥ ४ ॥

उपसंहार करते हुए कहते हैं—मधुकर याने भ्रमरके समान जो मुनि जाति कुल आदिमें अनिश्रित-मोह-रहित होते हैं, वे बुद्ध-तत्त्वके जानकार हैं, इसलिये अनेक घरोंसे अन्तर्प्रान्तादि कल्पानुसार जो भी पिण्ड-आहार मिले उससे संतुष्ट और दान्त-जितेन्द्रिय होते हैं अर्थात् जिस प्रकार भ्रमरकी उपमासे एषणामें प्रयत्नशील होते हैं उसी प्रकार ब्रह्म स्थावर जीवोंके हितार्थ ईर्या आदि समितिमें भी यत्न करते हैं, इससे वे साधु कहलाते हैं ॥ ५ ॥ गुरु (सुधर्मस्वामी)-ऐसा मैं कहता हूँ । इति ।

॥ द्रुमपुष्पिका नामका प्रथम अध्ययन समाप्त ॥



॥ अध्ययन दूसरा ॥



॥ १ ॥

अध्य० २

अब भ्रामण्यपूर्विका नामक दूसरे अध्ययनकी व्याख्या करते हैं—इसका पहले अध्ययनसे सम्बन्ध बताते हैं—प्रथम अध्ययनमें धर्मकी महिमा और धर्मियोंके विशुद्ध आहारकी विधि कही, जो कि इस जिन-शासनमेंही मिलती है। अब दूसरे अध्ययनमें पूर्वोक्त शुद्ध मार्ग स्वीकार करनेपर किसी नवदीक्षित साधुको अधीरतासे मोह पैदा न हो इसलिये धैर्यवान् बननेका उपदेश करते हैं—

जो इच्छाओंको नहीं हटाता वह अशुभभावनारूप संकल्पके अधीन बना हुआ पद २ पर दुःखी होता है, इससे वह भ्रामण्य-साधुपन-को कैसे पालेगा ! ॥ १ ॥

प्रवृत्तियाँ करता हुआ भी साधु नहीं होता इस बातको कहते हैं—

चीनांशुक वगैरे यस्त्र, धूप, पुष्पादि सुगन्ध, अलङ्कार-आभूषण, तथा स्त्रियाँ और सुंदर व कोमल शय्या इन सबको अच्छंद-परयशपनसे जो नहीं भोगते हैं वे त्यागी नहीं कहलाते ॥ २ ॥

अब सच्चे त्यागीका स्वरूप कहते हैं—जोही साधु कान्त-सुंदर और प्रिय-खुदको पसंद ऐसे मिलने योग्य भोगोंको शुभ भावनाओंसे अलग करते हैं अर्थात् उनसे विरत रहते हैं और प्राप्त-मिले हुए भोगोंको स्वाधीन होकर भी छोड़ते हैं, वही त्यागी कहे जाते हैं ॥ ३ ॥

उपरोक्त त्यागीके चित्तमें कदाचित् चंचलता आजाय तो उसके हटानेका उपाय कहते हैं—

इसप्रकार समष्टिसे संयममार्गमें चलते हुए उस त्यागी साधुका भी अगर संयमसे मन बाहर चला जाय अर्थात् कर्मगतिकी विचित्रतासे भुक्तभोगीको पूर्वका स्मरण होकर व अभुक्तभोगीको कुतूहलरूपसे स्त्री

॥ ३ ॥

आदि भोगकी इच्छा हो तो वह साधु ऐसा सोचे कि "वह स्त्री मेरी नहीं और मैं भी उसका नहीं"; इस तरह संसारके सम्बन्ध झूठे और अनित्य हैं, ऐसा सोचकर उस भोगकी ओरसे मोहको हटा ले ॥ ४ ॥

मनोनिग्रहका अन्तरंग उपाय बताकर अब बहिरंग कहते हैं—

अध्य० २

हे मुनि ! आतापना आदि तपका आराधन कर तथा सुकुमारपनको छोड़ क्योंकि सुकुमार आत्माएं प्रायः थोड़ासा कष्ट पाकरही संयमसे गिर जाते हैं, इस लिए यह हेय है। इस प्रकार शब्द रूप आदि कामों- (वासनाओं)को लांघ अर्थात् दूर कर, ऐसा किया तो निश्चय दुःख दूर हुआ समझ, क्योंकि इच्छामूलकही दुःख है। तथा कामके आश्रयभूत द्वेषका छेदन कर और राग-सांसारिक मोह-को अलग कर। इस तरह करनेसे तू संसारमें 'पूर्ण' सुखी होगा ॥ ५ ॥

फिर संयमगृहसे मन बाहर नहीं निकले इसके लिये मुनि क्या विचार करे इस बातको सूत्रकार उदाहरणसे दिखाते हैं—जिसे धूमकेतु-अग्नि-में प्रवेश करना प्राणिमात्रको दुःखरूप है उस जाज्वल्यमान आगमें अगंधन जातिके सर्प उछल पड़ते हैं किन्तु वान्त-छोड़े हुए विषको फिरसे लेना नहीं चाहते। "इस प्रकार जब पशुभी अपनी मर्यादा व मानके लिये प्राण गमा देते हैं लेकिन वान्तको ग्रहण न करनेरूप मर्यादा नहीं छोड़ते तब क्या जिनवचनोंके जानकार होकर तुम परिणाममें दुःखद ऐसे वान्त विषयोंको फिरसे ग्रहण करोगे ? क्या पशुसे भी गये गुजरें हो जिससे ऐसा करते हो ! " ॥ ६ ॥

अरे यशस्कामिन्-यशको चाहनेवाला क्षत्रिय ! जिसलिये तू असंयमजीवन अर्थात् भोगमय जीवनके वास्ते छोड़े हुए भोगोंको अपनाना चाहता है इसलिये तुझे धिक्कार हो। अरे ! इस मलिन जीवनकी अपेक्षा तो मर्यादाहीन ऐसे तेरा मरणही अच्छा होता ॥ ७ ॥

॥ ४ ॥

१. उपरोक्त प्रकरण उत्तरार्धपन सूत्रके २२ वें अध्ययनमें आया हुआ रथनेनिको राजीमतीके उपालम्भरूप अध्ययनका अन्तिम भाग है।

कुलाभिमानको जगाती हुई राजीमती कहती है—

मैं भोगराज-उग्रसेन-की लडकी हूँ और तू अंधकवृष्णि-समुद्रविजय-का पुत्र है । ऐसे प्रधान कुलोंमें अपन गंधन जातिके सर्पकी तरह कुलकलंकी नहीं होजावें इसलिये निभृत-स्थिरचित्त होकर संयमका पालन कर ॥ ८ ॥

चित्तकी चंचलता नहीं मिटानेपर दोष कहते हैं—

ऐसा नहीं करके अगर तू जिन ९ स्त्रियोंको देखेगा उनसे कामभोगकी इच्छा करेगा तो अनेक स्त्रियोंको देखकर वायुसे कंपित जड़वाले हृद वृक्षके समान तू भी चंचल चित्तवाला बनेगा अर्थात् संयममार्गमें स्थिर-चित्त नहीं होनेसे प्रमाद-रूप वायुसे भेरित होकर संसारसागरमें इधर उधर भटकेगा ॥ ९ ॥

इस प्रकार-उस साध्वी राजीमतीके पूर्वोक्त सुभाषित वचनोंको सुनकर अंकुशसे जैसे हाथी स्थानपर आजाता है वैसे वह रथनेमि चारित्रधर्ममें स्थिर हो गया ॥ १० ॥

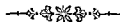
अध्ययनका उपसंहार करते हुए कहते हैं—

संबुद्ध-सम्यग्दृष्टि-विषयोंके स्वभावको अच्छीतरह जाननेवाले, पंडित, प्रविचक्षण-चारित्र्यके परिणाम वाले विद्वान् पुरुष ऐसाही करते हैं याने भोगभावनाको हटाते हैं, और जैसे वह पुरुषोत्तम रथनेमि भोगभावनाको हटाकर संयममें स्थिर हुआ वैसे पंडितपुरुष भोगोंसे निवृत्त होते हैं ॥ ११ ॥ गुरु—ऐसा मैं कहता हूँ । इति ।

॥ श्रामण्यपूर्विका नामका दूसरा अध्ययन समाप्त ॥



॥ तृतीय अध्ययन ॥



॥ ६ ॥

दूसरे अध्ययनके बाद अब भुल्लिकाचारकथा नामक तृतीय अध्ययनकी व्याख्या करते हैं, पूर्वापरसम्बन्ध इसप्रकार है—

दूसरे अध्ययनमें धर्मको स्वीकार करनेपर नवदीक्षितको अधीरतासे संमोह पैदा न हो इसलिये धैर्यवान् होना कहा, वह धैर्य भी आचारमेंही करना योग्य है, अनाचारमें नहीं। इस सम्बन्धसे तीसरे अध्ययनमें अनाचारका वर्णन करते हैं—

जो साधु शास्त्रकथित विधिसे पूजाक संयममें स्थित तथा अनेक प्रकारके बाह्य आभ्यन्तर ग्रन्थस मुक्त हैं, उन स्वपरके रक्षक निर्मग्न महात्माओंके अनाचीर्ण-नहीं करनेयोग्य कर्म ये हैं ॥ १ ॥ जैसे—

ओद्देशिक-साधुके उद्देशसे बना हुआ १, कृतकृत-खरीदा हुआ २, नियाग-नित्य आमन्त्रित आहार ३, अभ्यास-अपने गाँव आदिसे साधुके लिये सामने लाया हुआ ४, इन चार दोषोंसे युक्त आहार वगैरे लेना अनाचीर्ण है। रात्रिभोजन चार भक्ष्ययुक्त करना ५, और स्नान करना ६, कर्पूर आदि सुगंधि द्रव्य ७, और पुष्प-सम्बन्धी माला आदि धारण करना ८, तथा बीजन-पंखा आदिसे हवा लेना ९ ॥ २ ॥ इन अनाचीर्णोंमें आरंभ प्रवर्तन आदि दोष स्वयं समझ लेने चाहिये।

फिर—सन्निधि-धृत आदि पदार्थोंका संचय करना याने रात्रिमें रखना १०, गृहिमात्र-गृहस्थके वरतनोंको काममें लेना याने उसमें भोजन आदिको करना ११, राजपिंड-राजाके खाने योग्य आहार आदि लेना १२, किमिच्छक-जहाँ पृच्छकर दृष्टानुसार आहार वगैरह दिये जाय जैसे दान-शाला आदि, वहाँका आहार लेना १३, संवाधन-अस्थि मांस आदिके सुखनिमित्त चार प्रकारका मर्दन १४, और अंगुली वगैरहसे शीमार्थ दंत-

अध्य० ३

॥ ६ ॥

धावन करना १५, सप्रच्छेना-गृहस्थसम्बन्धी सावध प्रश्न या शोभाके लिये 'मैं कैसा हूँ' ऐसा पूछना १६, और काच वगैरहम देहको देखना १७ ॥ ३ ॥

उपरोक्त सन्निधि आदि अनाचीर्णोंम परिग्रह प्राणातिपात आदि दोष समझने चाहिए। इसी प्रकार—

॥ ७ ॥

अष्टापद जुआविशेष या गृहस्थको भविष्य आदि बतानेरूप अर्थपद कहना वा सिखाना १८, ओर नालिका-पाशा बगरहसे जुआ खेलना १९, गर्मी वगैरहसे रक्षाके लिये छत्र धारण करना, यह स्वपरके लिये अनर्थकारक है २०, रोग व्याधिका प्रतिकार करना २१, और पैरामें जूता बगैरह पहनना २२, तथा अग्निका आरम्भ करना २३ ॥ ४ ॥

पेसेही-शय्यातरके घरका आहार आदि लेना २४, और आसन्दी-छोटा खाट या कुर्सी आदि आसन-विशेष जो घूना हुआ हो २५ तथा पर्यंक-पलंग, इनपर बैठना सोना आदि क्रियाएँ करना २६, विनाकारण गृहस्थके घरमें या घरके बीचमें बैठना २७ और उद्धर्तन-मल हटानके लिये शरीरपर पीठी बगैरहका उघटण करना २८ ॥ ५ ॥ इसी प्रकार—

गृहस्थसे आहार आसन आदि मगानेरूप सेवा कराना तथा आसन आदि देते हुए उसकी सेवा करना २९ और जाति कुल शिल्प आदि बताकर आहार मिलानेरूप जो आजीविका चलाना वह अनाचीर्ण है ३०, तप्तानिर्वृत-पूर्ण निर्जीव नहीं बने हुए 'मिश्र या सचित्त' जलका उपभोग करना ३१, तथा भूख आदिकी आतुरतासे पूर्वके भुक्त भोगाको याद करना या दोषातुरको आश्रय देना ३२ ॥ ६ ॥ फिर अनाचीर्णकोही कहते हैं—

मूलक-मूला ३३, शृगवेर-अदरक ३४ और दधुखड-ऊस ३५, अशस्त्रपरिणत (अचित्त नहीं बने हुए)

१ नवासके लिये मुनिओंको घर देनवाला गृहस्थ शय्यातर कहाता है।

अध्य० ३

॥ ७ ॥

इन सबको लेना, तथा सचित्त कन्द-वज्रकन्द आदि ३६, और मूल-सट्टामूल आदि ३७, कच्चे फल एवं कच्चे धीज ३८, इनको ग्रहण करना अनाचीर्ण है ॥ ७ ॥

अध्य० ३

सौवर्चल-संचल लवण या सज्जी ३९, संधव-संधालवण जो कि पर्वतके एक भागमें पैदा होता है ४०, सादा याने सांभरमें होनेवाला लोण ४१, और रोमालोण-कच्चा रोमकक्षार ४२, सामुद्र-समुद्रसे निकलनेवाला ४३, तथा पांशुक्षार-ऊसर भूमिसे घननेवाला लोण ४४, कालालोण-कृष्ण लवण पर्वतीय प्रदेशमें होनेवाला ४५, ये सब लोण कच्चे हों तो इनका लेना अनाचीर्ण है। आग्नि आदिके प्रयोगसे निर्जाय बने हुएकी हालतमें प्राप्य हैं ॥ ८ ॥

शरीर व वस्त्र आदिको सुगंधित करनेके लिये धूप देना ४६, और दवा वगैरह खाकर वमन करना ४७, वस्तिकर्म-अधिष्ठानमें स्नेहदान याने इनीमा वगैरह लेना ४८, विरेचन-जुलाव लेना ४९, अजन-नेत्रमें काजल आदि आंजना ५०, और दंतवन-दंतकाष्ठसे दांतुन करना ५१, अभ्यंग-शरीरपर तेलसे अभ्यंग करना और देहकी शोभा बढ़ाना ५२। इनमें हिंसा व ममताकी वृद्धि आदि दोषके कारण अनाचीर्णपन है, इसलिये मुनि महाव्रतमें प्रत्यक्षरूपसे अवाधक ऐसे वमन आदि कर्मोंकोभी निष्कारण नहीं करते ॥ ९ ॥

संयम और तपमें लगे रहनेवाले तथा वायुकी तरह अप्रतिबद्ध विहारी ऐसे त्यागी महात्माओंके लिये ऊपर कहे हुए औद्देशिक पिंड आदि ये सब कर्म अनाचीर्ण-नहीं करनेयोग्य हैं ॥ १० ॥ क्योंकि—

वे निर्मम्य महात्मा हिंसा, मृषा आदि पांच आस्रवोंके सम्यग् ज्ञाता व त्यागी हैं, अतएव त्रिगुण-मन, वाणी, व शरीरका काधूम रखनेवाले और उहाँ कायके जीवोंमें संयमवाले हैं, पांच इंद्रियोंके निग्रह करनेवाले व धीर-

॥ ८ ॥

बुद्धिमान हैं, तथा मोक्षके लिये ऋजु याने सरल मार्ग ऐसे संयमको उपादेयरूपसे देखनेवाले होते हैं, इसलिये इन अनाचीर्णोंमें उनकी प्रवृत्ति नहीं होती है ॥ ११ ॥

॥ ९ ॥

फिर उन साधुओंकी विशेषता दिखाते हैं—

जो ज्ञानध्यानमें प्रयत्नशील व समाधिसंपन्न साधु हैं वे उष्णकालमें सूर्यके तापमें आतापन करते हैं और शीतकालमें कम वस्त्र रखकर या वस्त्रको अलग कर शीत सहते हैं, इसीप्रकार वर्षाकालमें हलनचलनको कम कर देहका गोपन याने संयमन किये हुए रहते हैं ॥ १२ ॥

वे साधु किस उद्देशसे क्रिया करते हैं? इस बातको दिखाते हैं—

कर्मनिर्जराके लिये जो कष्ट सह जाय वे परीपह कहाते हैं, अनुकूल प्रतिकूल भेदसे उन परीपहरूप शत्रुओंका जिन्होंने दमन किया है, तथा जो मोहसे अलग और जितेन्द्रिय-शब्द रूपादिमें रागद्वेषरहित हैं, वे इस प्रकारके महात्मा सर्वथा शारीरिक मानसिक दुःखोंका क्षय करनेके लिये संयममें प्रवृत्ति करते हैं ॥ १३ ॥

पूर्वोक्त क्रियाका फल बताते हुए उपसंहार करते हैं—

इसप्रकार अनाचीर्णत्यागरूप दुष्कर त्यागको करके और कठिनाईसे सहनेयोग्य परीपह व तपको सहकर कई महात्मा कर्मके बाकी रहनेसे देवलोकमें जाते हैं, तथा कई कर्मरजसे सर्वथा रहित होनेके कारण सिद्ध होते हैं याने सब दुःखोंका नाश करते हैं ॥ १४ ॥

जो देवलोकमें गये हैं वे भी वहांसे मनुष्यलोकमें आकर संयम और तपस्थासे पूर्वके अवशेष कर्मोंको

अध्या० ३

॥ ९ ॥

१. स्तुतिवन्दन आदि मनके अनुकूल कष्ट अनुकूल परीपह और ताड़ना, तर्जना, गाली आदि मनके विपरीत कष्ट प्रतिकूल परीपह कहाते हैं।

नष्ट कर देते हैं, और कर्मोंको खपा कर सिद्धिमार्ग-मोक्षमार्ग-को पाये हुए त्रायी-स्वपरके रक्षक वे साधु सर्वथा दुःखरहित शुद्ध आत्मरमणतारूप सिद्धिपदको पाते हैं ॥ १५ ॥ सुधर्मा-ऐसा मैं कहता हूँ । इति ।

॥ धुल्लिकाचारकथा नामका तीसरा अध्ययन समाप्त ॥



अध्य० ३

॥ १० ॥

तीसरे अध्ययनके बाद अब पढ़जीवनिका नामक चतुर्थ अध्ययनकी व्याख्या करते हैं, पूर्वापर सम्बन्ध इसप्रकार है—तृतीय अध्ययनमें आचारमें धैर्य रखनेका उपदेश देते हुए अनाचारका वर्णन किया; इस चतुर्थ अध्ययनमें आचार प्रायः पढ़जीवनिकायविषयक है, इस बातको कहते हैं—इस अध्ययनके मुख्य वर्णनीय विषय पांच हैं—जीवाजीवस्वरूपविचार १, चारित्रधर्म २, पट्टकायिकजीवयतना ३, उपदेश ४, और धर्मफल ५, उपरोक्त पांच अधिकारोंमेंसे गुरुशिष्यके संवादद्वारा प्रथम अधिकारमें जीवस्वरूपका वर्णन करते हैं—

हे आयुष्मन् ! जम्बू ! मैंने उस भगवानसे कहा हुआ इसप्रकार सुना है—इस प्रवचनमें पढ़जीवनिका नामक छःप्रकारके जीवोंके वर्णन करनेवाले अध्ययनको केवलज्ञानसे जानकर श्रमण भगवान् काश्यपगोत्री महावीरने कहा है, और युक्तिआंसे अच्छीतरह समझाया है। वैसे धर्मप्रज्ञाति अध्ययनका पढ़ना मेरे लिये हितकर है।

शिष्य कहता है—जिस धर्मप्रज्ञाति अध्ययनको काश्यपगोत्री श्रमण भगवान् महावीरने पूर्णज्ञानसे जानकर अच्छीतरह कहा व समझाया है, वह पढ़जीवनिका नामक अध्ययन नियमसे कौनसा है ? धर्मकी प्ररूपणा करनेवाले उस अध्ययनका पढ़ना मेरे लिये श्रेय-हितकर है अतः कहिये।

शिष्यकी उपरोक्त प्रश्नपद्धतिसे यह बात जाहिर होती है कि-विनीत शिष्यको सभी कार्योंमें गुरुसे पूछना चाहिए।

गुरु फरमाते हैं—काश्यपगोत्री श्रमण भगवान् महावीरने जिसे केवलज्ञानसे समझा और युक्तिपूर्वक समझाया वह पढ़जीवनिका नामक अध्ययन निश्चयसे यह है। इस धर्मप्ररूपक अध्ययनका पठन पाठन मेरे लिये श्रेय है।

इससे यह प्रगट होता है कि गुणवान् शिष्यके लिये गुरुको भी विशिष्ट उपदेश देना चाहिये।

प्रथमजीवस्वरूपाधिकार—

गुरु कहते हैं—सुनो, वह इसप्रकार है—पृथ्वीकायिक १, अप्कायिक २, तेजःकायिक ३, वायुकायिक ४, वनस्पतिकायिक ५, और व्रसकायिक—चलनेफिरनेवाले जीव ६। छह प्रकारके जीवोंके नाम कहके स्वरूप कहते हैं—(पृथ्वी-काठिन्य आदि लक्षणवाले मिट्टी पत्थर आदि पार्थिव पदार्थोंमें पृथ्वीके रूपमें रहनेवाले जीव पृथ्वीकायिक कहते हैं। वेसे अप्-शीत्य व द्रवत्व गुणवाला, जो जीव जलरूप शरीरवाले हैं वे अप्कायिक हैं। और अग्नि-उष्णता आदि लक्षणवालाही जिनका शरीर है वे तेजःकायिक होते हैं। इसी प्रकार-वायुरूप शरीरवाले वायुकायिक, और वनस्पति तृण लता आदि रूपवाले जीव वनस्पतिकायिक समझने चाहिए। सिवाय इनके जो जीव चलने फिरने व भय पाकर भगनेवाले हैं वे व्रसकायिक कहे जाते हैं।

सभी जीवोंका आधार होनेसे पहले पृथ्वीकाय और तदाश्रित अप्कायका निर्देश किया गया, पानीका विरोधी होनेसे बाद तेज-अग्निका ग्रहण किया, अग्निका वर्धक होनेसे फिर वायुका और वायु शाखा आदिके हिलनेसे जाना जाता है अतएव वनस्पतिका ग्रहण किया गया है। वनस्पति व्रस जीवोंका विशेष उपकारक है, वास्ते वनस्पतिके बाद व्रसकायका निर्देश किया गया है।) इनके सजीवत्वको स्पष्टरूपसे सूत्रकारही कहते हैं—

पृथ्वी-भूमि-सम्बन्धी वस्तुएँ चेतनावाली कही गई हैं, उसमें अनेक जीव हैं और वे सब जुड़े १ हैं। यदि पृथ्वीको इस प्रकार जीवपिण्ड माना जाय, तब फिर बैठने ऊठने व मलनिवारण आदि क्रियाएँ करनेसे जरूर उन जीवोंकी हिंसा होगी, फिर यह साधुधर्म पालना कैसे सम्भव होगा ? इसका उत्तर कहते हैं—शीत और आतप (ठंडी व धूप) आदि शंखोंसे आहत होनेके कारण निर्जीव बनी हुई भूमिको छोड़कर पृथ्वी

१. शर दो प्रकारके हैं—स्वकाय-शर और परकाय-शर। काली मिट्टी लाल पीली आदि मिट्टीके लिये स्वकाय अर्थात् अपनी कायका शर है, मिट्टी क्षार आदि जल अम्लिके लिये अथवा जल अम्ल आदि जो मिट्टीके जीवोंके लिये शर है वह परकाय-शर है, अर्थात् दूसरी कायके लिये शर होता है।

चेतनावाली है।

जल—सभी प्रकारका पानी चेतनावाला है, शीत आतप आदि दूसरी वस्तुओंके संयोगसे निर्जीव घने हुए जलके सिवाय अन्य जलमें अनेक जीव जुड़े जुड़े रहते हैं। खुदी हुई भूमिमें स्वाभाविक पैदा हुए वृक्षोंकी तरह।

तेज—इलेक्ट्रिक आदि सभी तरहकी अग्नि चेतनावाली है, इन्धन आदि आहारसे बढ़नेके कारण घालक समान अग्नि भी सर्जाय है। मिट्टी पानी आदिसे बुझी हुई अग्निके सिवाय यह अग्नि भी अनेक जीववाली है जो जीव अपनी जुड़ी २ सत्ता रखते हैं।

वायु—चेतनावाला कहा गया है, बिना प्रेरणाके गतिमान होनेसे वायु चित्तवान्-चेतनावाला है। निर्जीव घने हुए वायुके सिवाय इसमें भी जुड़ी २ सत्तावाले अनेक जीव हैं।

वनस्पतिकाय—ये भी चेतनावाले हैं, अनुकूल प्रतिकूल संयोग पाकर बढ़ने घटनेसे वृक्षादि वनस्पति भी सचेतन हैं। अग्नि आदि बाहरी शक्तियोंसे निर्जीव घने हुएके सिवाय बीजवाला या कच्चा फल, फूल, बीज, वृक्ष लता आदि जुड़ी २ सत्ता रखनेवाले अनेक जीवोंका यह वनस्पतिकाय आश्रय है।

वनस्पतिकायकारी विशेष वर्णन करते हैं—जैसे अग्रबीज-कोरुण्ट आदि अग्रभागमें बीजवाले, मूलबीज-वत्पलकन्दादि जिनकी जड़में बीज हों अर्थात् जो जड़के रोपनेसे लगते हों, पर्वबीज-इक्षु-ऊँस आदि जिनकी परे-गांठोंमें बीज हों, स्कन्धबीज-सलकी आदि जिनके स्कन्धमें बीज हों, बीजरुह-बीजसे पैदा होनेवाले गेहूँ आदि धान्य, संमूर्च्छित-गाने हुए बीजोंके बिना भी वर्षा आदिके जलके संयोगसे पैदा होनेवाले तृण, ढाभ

१. लग्न आदि पृथ्वीके विस्तारमें सनातीय अद्भुतरोपति होनेसे पृथ्वी चेतनावाली है।

२. वैज्ञानिक भी इसके सजीवपनको पंजरे सहयोगसे प्रत्यक्ष दिखा रहे हैं।

दि. टी.-२

पर्वरा सृष्टिष्ठम कहे जाते हैं, इसतरह तृण, लता आदि तथा बीजसे युक्त वनस्पति चेतनावाले कहे जाते हैं।
 लौकिकदर्शनवालोंन भी इस सिद्धान्तको माना है, जैसे—

॥ १४ ॥

“अन्त सज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विता” । मनुस्मृति अ० १

अध्य० ४

अर्थात् ये वनस्पतिकायिक जीव सुखदुःखका अनुभव रखते हैं इसलिये अन्त सज्ञावाले हैं। अग्नि, जल आदि द्रव्यासे जो निर्जीव नहीं बने हैं, वेसे ‘फल, फूल, बीज आदि’ वनस्पतिकाय जुड़ी २ सत्ता धरानेवाले अनेक जीववाले हैं।

अथ व्रसकायको कहते हैं—फिर जो ये अनेक प्रकारके व्रस प्राणी हैं वे भी बहुत हैं, जैसे—अण्डोंसे उत्पन्न होनेवाले अण्डज पक्षी आदि, पोतेसे लिपटे हुए पैदा होनेवाले पोतज हाथी चर्मजलौका आदि, जरयुक्त पैदा होनेवाले जरयुज गोमहिषी मनुष्य आदि, रसके बिगड़नेसे या रसम पैदा होनेवाले जीव रसज, पसीनेसे पैदा होनेवाले जीव स्वेदज यूका मत्स्य आदि, गर्भके बिना एकसाथ सेकड़ा पैदा होनेवाले जीव समूच्छ्रनज कहे जाते हैं जैसे—कीट पतङ्ग आदि, भूमिको भेदकर पैदा होनेवाले जीव उद्भिज्ज, व शय्या आदिमें थोड़ेसे समयमही उपपातरूपसे पैदा होनेवाले द्यनारक ओपपातिक कहते हैं। व्रस जीवोंके खास लक्षण ये हैं—जिन किन्हीं प्राणिआका सामने आना पीछे जाना, बैठका सकोच व विकाश करना, घोलना, इधर उधर फिरना, दुःखसे घबराना भागना और आन-जाने-रूप आगति-गतिको जानना आदि, और (इनमें) जो कीट, पतंग, व जो कुन्थु पिपीलिका-फिडिया आदि हैं वे सब दो इन्द्रियवाले जीव, सब तीन इन्द्रियवाले जीव सब चार इन्द्रियवाले जीव, सब पांच इन्द्रियवाले जीव, पचन्द्रिय जीवोंकोही विशेष रूपसे कहते हैं—सब तिर्यञ्च योनिवाले सब नारक योनिवाल, सब मनुष्य योनिवाल सब देव योनिवाले, ये सब जीव सुखके चाहनेवाले हैं यह निश्चित बात है। यह छट्ठा जीवसमूह व्रसकाय ऐसा कहा जाता है।

॥ १४ ॥

दूसरे अधिकारम चारित्रधर्मका वर्णन करते हैं—

इन छ प्रकारके जीवसमूहापर स्वयं हिंसारूप दण्डका विधान करे नहीं दूसरासे हिंसा कराये नहीं, हिंसा करनेवाले दूसरेको भी अच्छा समझे नहीं (अनुमोदना दवे नहीं)। पूर्वाक्त आज्ञाका स्वीकार करता हुआ शिष्य कहता है—जीवनपर्यन्त तीन करण तीन योगसे अर्थात् मन वचन कायासे करू नहीं, कराऊ नहीं, और करते हुए दूसरकी भी अनुमोदना करू नहीं। हे पूज्य ! पहले किये हुए उन पापाका प्रतिक्रमण करता हूँ, अर्थात् उन पापोंम पीछे हटता हूँ, आत्मसाक्षीसे निन्दा करता हूँ, व गुरुसाक्षीसे गद्गल करता हूँ आत्माको पापसे अलग करता हूँ।

महाव्रताका स्वरूप कहत है—

हे पूज्य ! प्रथम महाव्रत जो प्राणातिपात-हिंसाकी निवृत्तिरूप है उसमे हे पूज्य ! सर्वथा जीवहिंसाका त्याग करता हूँ। कौन जीव ? जैसे—सूक्ष्म या वादर-स्थूल शरीरवाले व्रस अथवा स्थावर जीव, इन जीवोंके प्राणाका अतिपात-नाश करू नहीं, दूसरास प्राणातिपात कराऊ नहीं प्राणाका अतिपात करनेवाले दूसरेको भी भला समझू नहीं, जीवनपर्यन्त तीन करण तीन योगसे अर्थात् मन वचन कायाके योगसे करण-करू नहीं, कराऊ नहीं, करते हुए दूसरकी भी भला जानू नहीं। पहले किये हुए पापासे हे पूज्य ! प्रतिक्रमण करता हूँ, पापकारी आत्माकी निन्दा करता हूँ, गुरुके समक्षम गद्गल करता हूँ आत्माको उस पापसे अलग करता हूँ। हे पूज्य ! पहल महाव्रतमें उपस्थित हुआ हूँ आजसे सब प्रकारकी हिंसासे मेरी निवृत्ति है ॥ १ ॥

हे पूज्य ! अब दूसरे महाव्रतम, जहा कि मृपावादसे निवृत्ति होती है, हे पूज्य ! सब प्रकारके मृपावाद-झूठको छोड़ता हूँ वह क्रोधसे या लोभसे तथा भयसे अथवा हास्यसे स्वयं झूठ बोलू नहीं, दूसरासे झूठ बोलावू नहीं, मृपावाद बोलनेवाले दूसरका भी भला समझू नहीं, जीवनपर्यन्त तीन करण तीन योगसे, मन वचन और शरीर इन तीनोंके योगसे, करण-करू नहीं, कराऊ नहीं, करनेवाले दूसरेको भी भला जानू नहीं। हे पूज्य ! पहले

घोले हुए इन अनेक तरहके छुंठोंका प्रतिक्रमण करता हूँ, पापकारी आत्माकी निन्दा करता हूँ, गुरुके समीपमें विशेष निन्दा करता हूँ, आत्माको पापसे अलग करता हूँ। हे पूज्य ! मैं दूसरे महाव्रतमें उपस्थित हुआ हूँ, इस समयसे सब प्रकारके मृषावाद्से मेरी निवृत्ति है ॥ २ ॥

अब अदत्तादान-विना दी हुई चीजोंको लेनेसे विरमण-त्यागरूप अन्य तीसरे व्रतमें हे पूज्य ! सब प्रकारके अदत्तादानको छोड़ता हूँ, वह जैसे—गांवमें अथवा नगरमें या घनमें, थोड़ा या बहुत, छोटा अथवा बड़ा, अचेतन या सचेतन, इत्यादि अदत्त-विना दिये पदार्थोंको स्वयं लेऊं नहीं, दूसरोंको लेनेमें लगाऊं नहीं, अदत्त लेनेवाले दूसरेको भी भला जानूँ नहीं, यावज्जीवन तीन करण तीन योगसे, मन वचन कायाके योगसे, और करना, करवाना व अनुमोदनारूप करणसे अर्थात् कछं नहीं, कराऊं नहीं, और करते हुए दूसरेको भी भला जानूँ नहीं। हे गुरुदेव ! किये हुए इन पापोंका प्रतिक्रमण करता हूँ, अपनी साक्षीसे निन्दा और गुरुसाक्षीसे उन पापोंकी गद्दी करता हूँ, तथा आत्माको इन पापोंसे दूर करता हूँ। इस प्रकार हे पूज्य ! मैं तीसरे महाव्रतमें उपस्थित हुआ हूँ, अतः सब प्रकारके अदत्तादानरूप इस पापसे मेरी निवृत्ति है ॥ ३ ॥

अब मैथुनविरमणरूप चौथे महाव्रतमें हे भगवन् ! मैं सब प्रकारके मैथुनको छोड़ता हूँ, जैसे कि—वह मैथुन दिव्य-देवसम्बन्धी हो, या मनुष्यसम्बन्धी हो, अथवा पशुसम्बन्धी हो, उन सब मैथुनोंको स्वयं सेवूँ नहीं, दूसरोंसे सेवन कराऊं नहीं, सेवन करनेवाले दूसरेको भी भला जानूँ नहीं, यावज्जीवन तीन करण व तीन योगसे, मन वाणी और शरीरके योगसे, करण-कछं नहीं, कराऊं नहीं, करते हुए दूसरेको भी भला जानूँ नहीं। हे भगवन् ! पहले किये हुए इन पापोंसे अलग होता हूँ, इस प्रकार पापकारी आत्माकी निन्दा करता हूँ, और गुरुकी साक्षीसे गद्दी करता हूँ, तथा आत्माको इन पापोंसे दूर करता हूँ। हे पूज्य ! मैं चौथे महाव्रतमें उपस्थित हुआ हूँ, अब मेरी सब प्रकारके मैथुनसे निवृत्ति है ॥ ४ ॥

हे भगवन् ! परिग्रहसे विरमणरूप अन्य पांचवें महाव्रतमें हे पूज्य ! सब प्रकारके परिग्रहको छोड़ता है, जैसे—थोड़ा या बहुत, छोटा या बड़ा, सचेतन अथवा अचेतन, इत्यादि परिग्रहको स्वयं ग्रहण करने नहीं, दूसरोंसे ग्रहण कराऊँ नहीं, ग्रहण करते हुए दूसरेको भी भला जानूँ नहीं, जीवनपर्यन्त मन वचन कायाके इन तीन योगसे व तीन करणसे—करूँ नहीं, कराऊँ नहीं, करते हुए दूसरेको भी भला जानूँ नहीं । हे भगवन् ! उसका प्रतिक्रमण करता है, और निन्दा करता है, गद्दी करता है तथा आत्माको पापसे अलग करता है । हे भदन्त ! मैं पांचवें महाव्रतमें उपस्थित हुआ हूँ, अब सब प्रकारके परिग्रहसे मेरी निवृत्ति है ॥ ५ ॥

अब हे भगवन् ! रात्रिभोजनविरमणरूप इस छठे व्रतमें हे पूज्य ! मैं सब प्रकारके रात्रिभोजनको छोड़ता हूँ, जैसे—अशन-अद्य आदि, या पान-पीनेके जल आदि, तथा स्वाद्य-खजूर आदि, अथवा स्वाद्य-मुंह साफ करनेके पान आदि, इनमेंसे किसीको रात्रिमें स्वयं मोगूँ नहीं, दूसरोंसे रात्रिमें भोगाऊँ नहीं, रात्रिमें अशनादि भोगने-वाले दूसरेका भी भला जानूँ नहीं, जीवनपर्यन्त मन वचन कायाके तीन योगसे, तीन करणसे—करूँ नहीं, कराऊँ नहीं, करते हुए दूसरेको भी भला जानूँ नहीं । हे पूज्य ! उसका प्रतिक्रमण करता है, निन्दा और गद्दी करता है, पापकारी आत्माको यासरता है । हे भगवन् ! मैं छठे व्रतमें उपस्थित हुआ हूँ, इसलिये अब सब प्रकारके रात्रि-भोजनसे विरमण करता हूँ ॥ ६ ॥

इसप्रकार छठे रात्रिभोजनविरमणसहित इन पांच महाव्रतोंको आत्महितके लिये अंगीकार करके व्यवहार करता हूँ अर्थात् रहता हूँ ।

अब तृतीय अधिकारमें छहकायिक जीवोंकी यतना कहते हैं—

१ पृथ्वीकायकी यतना—जो साधु या साध्वी संयत-१७ प्रकारके संयम रखनेवाला, और विरत-अनेक प्रकारके तपमें रत रहनेवाला है, तथा कर्मग्रन्थके कारणोंकी रोकनेके साथ कर्मोंको मन्द करनेवाला है,

१. ममतासे प्राणोंके समझ करनेकी परिग्रह कहते हैं ।

यह दिनमें अथवा रात्रिमें, अकेला या सभामें रहा हुआ, सोया हुआ या जगा हुआ, पृथ्वीकायक जीवाका हिंसा हो ऐसे कार्यको नहीं करे, जैसे—भूमिको या भित्तिको तथा शिला या पत्थरको, सचिन्त धूल लगे हुए शरीरको, तथा वैसे वस्त्रको, हाथोंसे या पैरोंसे, तथा काष्ठसे या लकड़ीके टुकड़ेसे, अंगुलिसे या लोह आदिकी शलाकासे, अथवा शलाकासमूहसे, पूर्वोक्त सचिन्त भूमिपर रेखा खींचे नहीं, विशेष रीतिसे अनेकवार लिखे नहीं, उनका परस्पर एकका दूसरेसे संघर्ष करे नहीं, तथा उसका भेदन करे नहीं, ऐसेही सचिन्त पृथ्वी पर दूसरोंसे लिखावे नहीं, विलेखन करावे नहीं, परस्पर संघर्ष और भेदन करावे नहीं, लिखते हुए या विलेखन करते हुए या संघर्ष करते हुए अथवा भेदन करते हुए दूसरेको भी भला जाने नहीं। शिष्य स्वीकार करके कहता है—जीवनपर्यन्त तीन करण तीन योगसे अर्थात् मन वचन शरीरके योगसे, करण-करुं नहीं, कराऊं नहीं, करते हुए दूसरेको भी भला जानूं नहीं। हे पूज्य ! पहले किये हुए उस पापका प्रतिक्रमण करता हूँ, निन्दा और गर्हा करता हूँ, आत्माको उस पापसे अलग करता हूँ ॥ १ ॥

१ अपकायकी यतना—

संयम और अनेक प्रकारके तपमें रमण करनेवाला कर्मबन्धको रोकने व मन्द करनेवाला वह साधु अथवा साध्वी, दिनमें या रात्रिमें, अकेला या सभामें रहकर, सोया हुआ अथवा जगा हुआ, जलके जीवोंकी हिंसा नहीं करे, जैसे—हूए आदिका पानी, ओस-रातमें चरसनेवाला सूक्ष्म पानी, हिम-घनीभूत ओसका पानी अर्थात् बर्फ, मदिका-फुहसा-(धूअर), करक-ओलिका पानी, हरतनु-तृणके अगले भागपर बिन्दुरूपसे जमा हुआ पानी, शुद्धोदक-वर्षाका पानी, तथा पानीसे भीजे (गलने) हुए देह या गलते हुए वस्त्र इनमेंसे किसीको अथवा पानीके स्नेह-वाले देह या वैसे वस्त्रको स्पर्श करे नहीं, बारंबार स्पर्श करे नहीं, दावे (निचोरे) नहीं, बारंबार दावे नहीं, क्षारे नहीं, बारंबार क्षारे नहीं, सुखावे नहीं, बारंबार या अधिक सुखावे नहीं, दूसरोसे ये क्रियाएँ करवावे नहीं, स्पर्श करते हुए, बारंबार स्पर्श करते हुए, दबाते हुए या बारंबार दबाते हुए, क्षारते हुए या बारंबार क्षारते हुए, सुखाते हुए या

बारंबार सुगात हुए ऐसे दूसरेको भी भला जान नहीं। (शिष्य) — उपरोक्त पानीके जीवांकी विराधना जीवन पर्यन्त मन घचन कायाके तीन योगसे, और तीन करणसे करूँ नहीं, करवाऊँ नहीं, करते हुए दूसरेको भी भला जानूँ नहीं। पूर्णकृत उस पापका है पूज्य। प्रतिश्रमण करता हूँ, निन्दा और गर्हा करता हूँ, आत्माको पापसे अलग करता हूँ ॥ १ ॥

१ अग्निकायकी यतना—

संयत विरत, पापकर्मको रोकने व मन्द करनेवाला यह साधु या साध्वी, दिनमें अथवा रात्रिमें, अकेला या अनक मिलकर, सोया हुआ या जगा हुआ, अग्निका आरम्भ नहीं करे, जैसे—अद्धार, मुर्मुख, अर्चि अथवा ज्वाला या तृणके अग्रभागमें जलनेवाली अग्नि तथा शुद्ध अग्नि-लोहके गोलेमें जलनेवाली धूँआ व ज्वालारहित अग्नि उल्हा-घिजली आदि। (लकड़ीकी ज्वालारहित अग्निको अद्धार कहते हैं। जिसमें अग्निकण विरल हैं ऐसे भस्मका मुर्मुख कहते हैं। जइस टूटी हुई ज्वालाको अर्चि कहते हैं, जइसे जुटी हुई ज्वालाको ज्वाला कहते हैं। तृणके अग्रभागमें लगी हुई अग्निको अलात कहते हैं। तथा इन्धनरहित अग्निको शुद्ध अग्नि कहते हैं। बिजली जीर्वा आगका उल्हा कहते हैं।) इन भद्-प्रभेदसहित अग्निको इन्धन आदिसे बढ़ावे नहीं, संघट्टन करे नहीं, हवास उत्तेजित कर नहीं तथा जल आदिसे बुझावे नहीं, एव अन्यसे सिञ्चन (वर्द्धन), संघट्टन, उत्तेजन-पुझाना (आदि) करावे नहीं तथा यद्वात हुए, संघट्टन करते हुए, उत्तेजित करते हुए और बुझाते हुए ऐसे दूसरे-का भला जान नहीं। शिष्य—जीवनपर्यन्त मन घचन कायाके तीन योगसे, और करना, करवाना और करते हुए दूसरेको भला जाननकर तीन करणसे अग्निकायके जीवांकी हिंसाको त्यागता हूँ। है पूज्य। उस पापका मैं प्रतिश्रमण करता हूँ, आत्मसाक्षिक उस पापकी निन्दा करता हूँ, और गुरुसाक्षिक गर्हा करता हूँ, पापकारी आत्माको याचता हूँ ॥ १ ॥

४ वायुकायके जीवोंकी यतना—

संयत, घिरत, पापकर्मको रोकने व मन्द करनेवाला ऐसा जो साधु या साध्वी है, वह दिनमें या रात्रिमें, अकेला या अनेक मिलकर, सोया हुआ या जगा हुआ वायुकायिक जीवोंका आरम्भ नहीं करे, जैसे—सितसे अर्थात् चामरसे, विधवन-पखेसे, तालवृन्त-तालपत्रके पंखेसे या पत्र-पत्तेसे अथवा पत्रभङ्ग-पत्तेके टुकड़े-से, शाखासे या शाखाके टुकड़ेसे, पिहुण-मयूरके पंखोंसे, अथवा मयूरीपच्छोंसे, वस्त्रसे या वस्त्रके एक भागसे, हाथसे या मुखसे, अपने शरीरको या बाहरी किसी वस्तुको फूँके नहीं, हवा करे नहीं, तथा दूसरोंसे फूँकाये व हवा करावे नहीं, फूँकते हुए या चीजते हुए ऐसे दूसरेको भी भला जाने नहीं। शिष्य स्वीकारकर कहता है—जीवनपर्यन्त मन वचन कायाक तीन योगसे, तथा करना करवाना व करते हुएको भला जाननेरूप तीन करणसे, वायुकायिक जीवोंको हिंसा करूँ नहीं, कराऊँ नहीं, और करते हुए दूसरे को भला जानूँ नहीं। हे पूज्य! किये हुए उस पापका प्रतिक्रमण करता हूँ, आत्माको साक्षीमें इसको निन्दा करता हूँ और गुरुको साक्षीमें गर्हा करता हूँ, एवं पापकारी आत्माको छोड़ता हूँ ॥ ४ ॥

५ वनस्पतिकायकी यतना—

संयत, घिरत, पापकर्मको रोकनेके साथ मन्द करनेवाला ऐसा जो साधु या साध्वी, वह दिनमें या रात्रिमें, अकेला या अनेकोंके साथ, सोया हुआ या जगा हुआ, वनस्पतिकायिक जीवोंकी हिंसा करे नहीं, जैसे—बीजांपर या बीजपर पड़ो हुई वस्तुओंपर, रूढ़-अङ्गुरोंपर अथवा अङ्गुरोंके ऊपर पड़े हुए पदार्थोंपर, जात-पत्र आदिसे युक्त पोधोंपर, या पोधोंपर प्रातिष्ठित-रहे हुए पदार्थोंपर, दूर्वादि हरितपर या हरितप्रातिष्ठितपर, छिन्न-तत्काल वृक्षसे काटे हुए फल फूल पत्र शाखा आदि, जो अभी गीले होनेसे निर्जीव नहीं बने हैं, उनपर, तथा उनके आश्रित अन्य पदार्थोंपर, ऐसेही किसी अण्ड आदि साचित्तपर या कीट-धुण आदि लगे हुए काष्ठोंपर, चले नहीं, खड़ा रहे नहीं, तथा बैठे नहीं, व लेटे नहीं, ऐसेही वृक्षोंको चलावे नहीं, खड़ा करे नहीं, बैठावे नहीं व लेटावे नहीं,

तथा उनपर चलते हुए, खड़े रहते हुए, बैठते हुए व सोते हुए दूसरेको भला भी जाने नहीं। शिष्य—जीवनपर्यन्त मन वाणी व शरीर इन तीन योगसे, करना करवाना और करते हुएको भला जानना इन तीनों करणसे, उपरोक्त जीवाकी हिंसा करू नहीं, कराऊं नहीं तथा करते हुए दूसरेको भला भी जानूं नहीं। हे गुरुदेव ! किए हुए उस पापका प्रतिक्रमण करता हूँ, आत्माकी साक्षीमें उस पापकी निन्दा करता हूँ और गुरुकी साक्षीसे गहा करता हूँ, तथा पापकारी आत्माको छोड़ता हूँ ॥ ५ ॥

६ व्रसकायकी यतना—

संयत, विरत, पापकर्मको रोकने व मन्त्र करनेवाला साधु या साध्वी, दिनमें या रात्रिमें, अकेला या अनेकोंके साथ, सोया हुआ या जगा हुआ, व्रसकाय जीवाकी हिंसा नहीं करे, जैसे—कीट, पतङ्ग, कुन्थु-सूक्ष्म जीवविशेष तथा फोटी आदि इनको हाथोंपर या पैरोंपर, तथा भुजाओंपर या ऊरु-जङ्घाओंपर अथवा पैदपर, तथा मस्तकपर, वस्त्रापर या पात्रपर तथा कमलपर अथवा पादप्रोङ्गनपर या रजोहरण-ओघेपर, तथा गुच्छक पूजनीपर, उन्दक-पात्रविशेषपर, ऐसेही कारणिकरूपसे ली गई लाठी व दंडेपर, तथा पीठ-छोटे पादपर, या फलक-कामुक घटे पादियेपर, अथवा शय्यापर, व संस्तारकपर तथा इस तरहके किसी अन्य 'जैसे कि—मुर-यंत्रिका पुस्तक आदि' वैसे उपकरणपर पूर्वाक्त कीट आदि हों तो उनको विधिपूर्वक यतनासेही सम्यक् देखे १ कर, रजोहरणसे पूंज १ कर एकान्तमें छोड़ दे, किन्तु उन जीवोंको परस्पर मिलाकर किसी प्रकार आघात नहीं पहुँचावे ॥ ६ ॥

चतुर्थाधिकारम अत्र उपदेश करते हैं—

अयतनासे-सावधानी छोड़कर चलता हुआ जीव प्राणीभूत-व्रसस्थावर जीवोंकी हिंसा करता है, इससे पापकर्मका पन्थ जाता है, और वह बांधा गया पाप उस पापकर्ताके लिये कटु फल देता है ॥ १ ॥

१. पार्श्वीकी पीड़ावाल वस्त्र भी 'गोच्छक' कहते हैं।

अयत-असावधानीसे अथवा सूत्रोंकी आज्ञाके विपरीत ठहरता-खड़ा रहता हुआ भी मनुष्य त्रसस्थावर जीवोंकी हिंसा करता है, इससे वह पापकर्मको बांधता है, जो बांधा हुआ पापकर्म उसको परिणाममें दुःख देता है ॥ २ ॥

इसी प्रकार—अयतनासे बैठता हुआ मनुष्य त्रसस्थावर जीवोंकी हिंसा करता है, ऐसा करता हुआ वह पापकर्मको बांधता है, वह पापकर्म उसको अन्तमें दुःख देनेवाला होता है ॥ ३ ॥

ऐसेही दिनमें या रातमें अयतनासे या अधिक सोता हुआ मनुष्य त्रसस्थावर जीवोंकी हिंसा करता है, उससे वह पापकर्मको बांधता है, वह पापकर्म परिणाममें उसको दुःख देता है ॥ ४ ॥

अयतनासे वा बिना प्रयोजनके चंचलतासे खाता हुआ मनुष्य त्रसस्थावर जीवोंकी हिंसा करता है, उससे वह पापकर्मको बांधता है, जो उसके लिये परिणाममें दुःखदायी होता है ॥ ५ ॥

वैसेही—भापासमिति को छोड़कर अयतनासे बोलता हुआ मनुष्य त्रसस्थावर जीवोंकी हिंसा करता है, जिससे वह पापकर्मको बांधता है, जो पाप उसको अन्तमें दुःखदायी होता है ॥ ६ ॥

शिष्य पूछता है—जब चलना, ठहरना, बैठना, सोना, खाना और बोलना उपरोक्त सभी कार्यमें हिंसा होती है तो फिर कैसे चले ? कैसे ठहरे ? कैसे बैठे व कैसे सोवे ? तथा किस तरह खाता आर बोलता हुआ जीव पापकर्मको नहीं बांधता है ? ॥ ७ ॥

आचार्य उत्तर देते हैं—यतनासे ईर्यासमितिके साथ चले, यतनासे हाथपैरोंको इधर उधर नहीं फेंकता हुआ संयमपूर्वक ठहरे, तथा बैठे, और यतनासे सोवे, ऐसेही यतनासे खाता हुआ, तथा भापासमितिके साथ बोलता हुआ मनुष्य पापकर्मको नहीं बांधता है ॥ ८ ॥

इसी बातको स्पष्ट करते हैं—

जो जीव सब प्राणिओंको अपने समान समझता है, तथा हिंसा आदि आत्मवाको रोकनेसे निरात्मवी और दान्त-जितेन्द्रिय है तथा आगमोक्त विधिसे-पृथ्वी आदि जीवोंको सुखदुःखमें अपने समान अच्छीतरह देखता है, उसको पापकर्मका बन्ध नहीं होता है ॥ ९ ॥

अगर दया पालनेसेही साधुताकी सिद्धि होती है तो फिर ज्ञानकी क्या आवश्यकता है ? नवदीक्षित-साधुओंके मनमें ऐसी शङ्का न होवे इसलिये जीवदयारूप क्रियामें ज्ञानकी भी आवश्यकता बताते हैं—पहले ज्ञान फिर दया-जीवरक्षाप्रधान संयम, इसतरह ज्ञानपूर्वक क्रियाको स्वीकारकर सब साधु रहते हैं। सर्वत्र अन्धतुल्य होनेसे अज्ञानी क्या करेगा ? और जानकारीके अभावसे वह पुण्य पाप क्या समझेगा ? ॥ १० ॥

ज्ञानप्राप्तिका उपाय कहते हैं—शास्त्रको सुनकर कल्याणरूप दयाको जानता है और असंयमस्वरूप पापको भी सुनकर जानता है, संयम असंयम दोनोंके स्वरूपको सुनकर जाने और जानकर जो श्रेयस्कर-हितकर हो उसको ग्रहण करे ॥ ११ ॥

क्योंकि—जो पृथ्वीकाय आदि जीवोंको नहीं जानता तथा अजीवोंको भी नहीं जानता है वह जीव व अजीवोंको नहीं जानता हुआ उनकी रक्षाके लिये संयमको कैसे जानेगा ? ॥ १२ ॥

इस लिये ज्ञानप्राप्ति करे, ज्ञानपूर्वक क्रियासे लाभ—जो जीवोंको जानता है और अजीवोंको भी जानता है, इस तरह जीव अजीवोंको जानता हुआ वह साधुही संयमको जानेगा ॥ १३ ॥

पंचम अधिकारमें ज्ञानपूर्वक क्रियाका फल कहते हैं—जब जीव अजीव इन दोनोंको जानता है, तब सब प्रकारके जीवोंकी विविध गतिको भी जानता है ॥ १४ ॥

जब सब प्रकारके जीवोंकी अनेक प्रकारकी गतिको जानता है, तब पुण्य तथा पाप, बन्ध और मोक्षको भी जानता है ॥ १५ ॥

जब पुण्य पाप तथा बन्ध मोक्षको जानता है, तब मोहकी मन्दतास जो दिव्य-दैवसम्बन्धी व मनुष्य-सम्बन्धी भोग हैं उनको दुःखरूप होनेसे असार समझता है ॥ १६ ॥

जब दिव्य और मनुष्यसम्बन्धी शब्दादि भोगोंको निस्सार समझकर घृणाकी नजरसे देखता है, तब आभ्यन्तर-क्रोध मान आदि व बाहरी-धनधान्य आदिके संयोगको छोड़ देता है ॥ १७ ॥

जब आभ्यन्तर बाह्य याने भीतरी बाहरी संयोगोंको त्यागता है, तब द्रव्य भाव इन दो भेदोंसे मुण्ड होकर अनगारता-साधुपनको धारण करता है ॥ १८ ॥

जब द्रव्यभावसे मुण्ड होकर साधुताको धारण करता है तब हिंसा आदिसे पृथक् होकर उत्तम संवर-धर्मका पालन करता है ॥ १९ ॥

जब संवररूप उत्तम धर्मका पालन करता है, तब पूर्वके मिथ्यादृष्टिपनसे आत्मामें लगी हुई कर्मरज को अलग करता है ॥ २० ॥

जब मिथ्यादृष्टिपनसे लगी हुई कर्मरजको दूर कर लेता है, तब सर्वत्रग याने सब पदार्थोंको जाननेवाले पूर्ण ज्ञान और दर्शनको पाता है ॥ २१ ॥

जब सम्पूर्ण ज्ञान और सम्पूर्ण दर्शनको पा लेता है, तब वह जिन याने रागद्वेषका विजेता, केवली-पूर्णज्ञानी होकर लोक और अलोकको जानता है ॥ २२ ॥

जब वह पूर्णज्ञानी जिन लोक और अलोकको जानता है, तब उचित समयपर योगको अर्थात् मन वचन और शरीरकी प्रवृत्तिको रोककर 'शैलेशी'-पर्वतकी तरह स्थिर दशाको प्राप्त करलेता है ॥ २३ ॥

जब योगको रोककर शैलेशी दशाको प्राप्त करलेता है, तब (पांच जहस्व अक्षरोंको उच्चारण करने जितने थोड़े समयमें) सर्वथा कर्मोंको क्षयकर कर्मरजसे रहित होता हुआ वह महापुरुष सिद्धिगतिमें जाता है ॥ २४ ॥

जब कर्मोंको क्षयकर सर्वथा कर्मरहित बना हुआ आत्मा सिद्धिगतिको जाता है, तब लोक (ऊँचा, नीचा, मध्यरूप त्रिलोकी) के मस्तकपर स्थित, शाश्वत-सदा एकरूपसे रहनेवाला सिद्ध हो जाता है ॥ २५ ॥

यह धर्मका फल जिसके लिये दुर्लभ है उसको कहते हैं—

जो साधु अक्सर सुखका लोलुपी और साता-सुखके लिये आकुल (लालायित) रहता हो, और अमर्यादित सोता हो, तथा शरीरकी शोभाके लिये अधिकतासे जलकी अत्यन्त करनेवाला अर्थात् वारंवार अंगको धोनेवाला हो, ऐसे साधुके लिये सुगति दुर्लभ होती है ॥ २६ ॥

अब सहजरीतिसे सुगति पानेवालेको कहते हैं—

जो तपोगुणकी प्रधानतावाला व ऋजुमति अर्थात् सरल बुद्धिवाला हो और क्षमाप्रधान संयममें लगा रहनेवाला हो, तथा भूख, प्यास आदिके परीपहोंको जीतनेवाला हो, वैसे साधुके लिये सुगति सुलभ होती है ॥ २७ ॥

पिछेली अवस्था (वृद्धावस्था) में या एकवार पतिन होकर दुबारा भी संयममें लगकर वे जल्दी देव-लोकमें जाते हैं, जिनको कि संयम और तप तथा क्षमा व ब्रह्मचर्य प्रिय है ॥ २८ ॥

उपसंहार करते हुए कहते हैं—दुर्लभ चारित्रधर्मको पाकर सदा यत्नवाला सम्यग्दृष्टि जीव पूर्वोक्त इन छह प्रकारके जीवोंकी मन, वाणी व शरीरसे प्रमादपूर्वक विराधना याने हिंसा नहीं करे ॥ २९ ॥ गुरु-प्रेसा में कहता हूँ । इति ।

॥ पद्मजीवनिका नामका चौथा अध्ययन समाप्त ॥



॥ पांचवाँ अध्ययन ॥

उद्देश पहला ।



॥ २६ ॥

अध्य० ५(१)

चतुर्थ अध्ययनके बाद अब पिण्डपणा नामक पंचम अध्ययनकी व्याख्या करते हैं, पूर्वापरसम्बन्ध इस प्रकार है—चीथे अध्ययनमें छायायिक जीवोंकी रक्षाकी प्रधानतावाले ऐसे साधुके आचारका वर्णन रात्रिभोजन-चिरमण और पांच महाव्रतोंके रूपसे किया गया है, वह आचार शरीरके स्वस्थ रहनेपरही पाला जा सकता है और भोजनके बिना प्रायः शरीर स्वस्थ नहीं रह सकता, अतः धर्मज्ञायकी पालनके लिये वह आहार कैसा व किस विधिसे लेना ! इस बातका वर्णन प्रस्तुत अध्ययनमें किया जायगा, इस सम्बन्धसे आये हुए इस अध्ययनका यह आदि सूत्र है—

भिक्षाकालके आनेपर साधु जल्दीबाजी और आहार व शब्दादि विषयोंमें आसक्ति नहीं करता हुआ आगे बढ़ी जानेवाली विधिसे आहारपानीकी गवेषणा-खोज करे ॥ १ ॥ गोचरी आदिमें जाते हुए साधुको चलनेकी विधि कहते हैं—

पहले कहे गुणोंसे युक्त जो साधु गांवमें या नगरमें गोचरार्थ अर्थात् मुख्यभिक्षामें गया हुआ है, वह आगेकी विधिसे उद्वेगरहित होकर धीरे १ शान्त व स्थिर चित्तसे चले ॥ २ ॥ विशेषविधि कहते हैं—गोचरी आदिमें जाता हुआ साधु शरीरप्रमाण भूमिको आगे देखता हुआ तथा मार्गमें बीज, हरित, द्वीन्द्रियादि जीव, सचित्त पानी और मिट्टी इत्यादि सजीव पदार्थ हों तो उनको बचाता हुआ चले ॥ ३ ॥

इसी प्रकार चलते हुए साधुको मार्गमें यदि खड़ेवाली जगह या ऊंची नीची होनेसे विषमभूमि तथा

॥ २६ ॥

स्याणु-सूखे वृक्षका टूट या विजल याने कीचड़ आदि बाधक पदार्थ हों तो उनको छोड़ दे अर्थात् उनसे दूर होकर जावे । ऐसेही सहे व कीचड़ आदिको पार करनेके लिये संक्रमण भी बनाया हो तो दूसरे मार्गके होते हुए साधु उस हिलती हुई छोटी पुलिया आदिसे नहीं जावे ॥ ४ ॥

अध्य०५(१)

अवपात-संक्रमण आदिसे जानेमें दोष बताते हैं—अवपात आदि पूर्वोक्त स्थानोंमें गिरता हुआ या फिसलता हुआ वह साधु द्वीन्द्रिय आदि प्राणिओं याने जीवोंकी व एकेन्द्रियरूप भूतोंकी अर्थात् ब्रस या स्थावरोंकी हिंसा करेगा, साथही अपने देहको भी हानि पहुंचावेगा ॥ ५ ॥

इसलिये जो साधु समाधिभावको रखनेवाला है, वह दूसरे मार्गके होते हुए ऐसे हिंसाके हेतुभूत मार्गसे नहीं जावे, यदि दूसरा मार्ग नहीं हो तो यतनासेही उस मार्गसे जावे ॥ ६ ॥

विशेषरूपसे पृथ्वीकायकी यतना कहते हैं—कोयला, क्षार-भस्म, भूसा और गोबर इन सबोंकी मार्गमें ढेरिपै लगी (पड़ी) हों तो सचित्त धूलिसे भरे हुए पैरोंसे साधु उनको नहीं लांघे ॥ ७ ॥

अप्काच आदिकी यतना—इसीप्रकार वर्षा बरसते रहनेपर व धूअर-धुंध पड़ते साधु नहीं चले, तथा महायात अर्थात् आंधी बहते हुए या पतङ्ग आदि तिर्यक् संपातिम जीवोंके अधिक हो जानेपर भी साधु भिक्षाके लिये नहीं जावे ॥ ८ ॥

ब्रह्मचर्यको अपने वशमें करनेवाले याने भंग करनेवाले ऐसे वेश्याके घरके पास साधु नहीं जावे, क्योंकि वहाँ जानेसे जितेन्द्रिय ब्रह्मचारीके चित्तमें विकार हो जानेकी संभावना है ॥ ९ ॥ फिर—

इस तरहके अयोग्य स्थानमें बारंबार जाते हुए साधुके व्रतोंकी अधिक संसर्गसे पीडा-विराधना होती है, और अधिक संसर्गके कारण उसके ब्रह्मचारित्रमें भी शङ्का होने लगती है ॥ १० ॥

॥ १७ ॥

इसलिये इस दोषको दुर्गतिवर्द्धक जानकर जो एकान्तमें रहनेवाला या मोक्षार्थी साधु है वह वेश्याके निवासको दूरसे छोड़ दे अर्थात् उधर नहीं जावे ॥ ११ ॥

चलनेकी ही विशेष विधि कहते हैं—(प्रथमव्रतकी विराधनाके बाद अन्य व्रतोंको छोड़कर चतुर्थव्रतकी विराधनाका वर्णन करना इसकी प्रधानता बतानेके लिये है। जिसलिये चतुर्थव्रतका भङ्ग अन्य व्रतोंके विराधनाका कारण बन जाता है, इसलिये इसमें प्रधानता है।) यदि कुत्ता, नवप्रसूता-हालहीमें व्याई गौ, मारने-वाला धूल, मत्त घोड़ा व हाथी, तथा बालकोंके खेलनेका स्थान, कलह व युद्धकी जगह ये सब चलते हुए साधुओंके मार्गमें आजाँय तो इन सबोंको साधु दूरसे छोड़के चले ॥ १२ ॥ फिर—

साधु द्रव्यभावसे अधिक ऊँचा (द्रव्यसे ऊँचा शिर कर आकाशको देखता हुआ और भावसे जाति आदिके मानसेयुक्त) होके नहीं चले, इसी प्रकार अधिक नीचा होके भी नहीं चले, जैसे—द्रव्यसे अङ्गोंको विशेष नमाकर और भावसे धीन बना हुआ नहीं चले, किन्तु हर्ष और आकुलतारहित अपने १ विषयमें इन्द्रियोंको दमनकर मुनि चले, (इस आज्ञामें मर्म यह है कि मनकी सहायतासे इन्द्रियाँ कुमाँगोंमें जीवको वरयश खींच लेती हैं, ऐसे मनोनिग्रह करनेवाले विरलेही हैं जो सुन्दर रूप, मधुर स्वर, मोहक गन्धके लिये लालायित नहीं होते हैं, ऐसी स्वाभाविक प्रवृत्ति होनेसे इसका निषेध किया गया है) ॥ १३ ॥

ऐसेही—गोचरीमें गया हुआ साधु जल्दी १ या बोलता हुआ नहीं चले। तथा सदा हंसता हुआ भी द्रव्यभावभेदसे भिन्न ऊँच व नीच कुलोंमें नहीं जावे। (द्रव्यकी अपेक्षासे सुन्दर भवन व उच्च प्रासाद आदिमें रहनेवाला और भावकी अपेक्षासे ऊँची जातिवाला ऊँचा कुल है, ऐसेही द्रव्यभावकी अपेक्षासे अवच-हीनकुल, जैसे—कुटी-क्षोपडी आदिमें रहनेवाला द्रव्यसे हीनकुल, और हीन जातिके कारण भावसे हीनकुल कहा जाता है।) इस निषेधका हेतु उभयविराधना और लोकोपघात आदि है ॥ १४ ॥

१. यही नीचकुल ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र इत्यादि जातियोंकी परस्पर अपेक्षासे लिया गया है। अतएव इससे सत्तरहके नीचकुल पाने लोहनिन्दितमें भी गोचरीके लिये साधुको जाना चाहिये ऐसा नहीं समझें।

फिर—गोचरी आदिमें चलता हुआ साधु आलोक-खिरकी, क्षरोखे आदि, भित्ति, तथा द्वार, और चोरसे खोली गई सन्धि, और जल रखनेकी जगह इन सबको नहीं देखे, क्योंकि इन पूर्वोक्त चीजोंको देखना शङ्का-जनक है इसलिये इन शङ्कास्थानोंको मुनि देखना छोड़ दे ॥ १५ ॥

इसी प्रकार—राजा-चक्रवर्ती आदि, गृहपति-नगरसेठ आदि और कोतवाल चगैरहके शुभविचार करनेके स्थानोंको क्लेशकारक जानकर साधु दूरसे छोड़ दे अर्थात् उधर नहीं जावे ॥ १६ ॥

कैसे फुलमें भिक्षाकी जाना तथा कैसे घरमें नहीं जाना ? इस बातको कहते हैं—लोकोंमें निन्दित या निषिद्ध-टाले हुए ऐसे फुलमें मुनि भिक्षाके लिये नहीं जावे, तथा 'मेरे घरमें कोई नहीं आवे' ऐसे मना करने-वालेके फुलमें भी नहीं जावे । जहाँ जानेसे अप्रीति हो लेकिन किसी कारणसे मना नहीं करता वहाँ नहीं जावे, किन्तु जहाँ जानेसे लोगोंको प्रसन्नता हो वहाँ जावे ॥ १७ ॥

द्वार बन्द हो तो क्या करना ? इसकी विधि बताते हैं—सन आदिके बने हुए चिक, टाट या वस्त्रके पर्देसे दरवाजा ढका हो तो बिना गृहस्थकी आज्ञा लिए खुद उस पर्देको नहीं हटावे, ऐसेही ऊपर नीचे किये हुए कपाटको भी स्वयं नहीं खोले, कारणसे इजाजत लेकर खोले ॥ १८ ॥

भिक्षामें प्रवेश करता हुआ मुनि मलमूत्रकी बाधा नहीं रखे, अगर भूलसे मल आदिका निवारण नहीं किया हो या करनेपर भी इबारा गोचरीमें गये हुएको बाधा हो ही जाय तो निर्जीव जगह जानकर गृहस्थकी आज्ञा मांगकर वहाँ बाधा दूर कर लेवे ॥ १९ ॥

मुनिको कैसे घरमें भिक्षार्थ नहीं जाना यह दिखाते हैं—

जिस घरका दरवाजा नीचा हो व जहाँ अधिक अन्धकार हो ऐसे घर जाने कोठेको मुनि छोड़ दे, क्योंकि यहाँ आँखका व्यापार नहीं होनेसे कीट आदि सूक्ष्म जीव बराबर नहीं देखे जा सकते । इसलिये क्याप्रधान पूजितवाले मुनि ऐसी जगह भिक्षा आदिको नहीं जावे ॥ २० ॥

फिर—जिस घरमें सचित्त फूल व बीज बगैरह बिखरे हों, तथा तत्कालही लीपा पोता गया होनेसे जो गीला हो पेसे घरको भी साधु देखकर छोड़ देवे ॥ २१ ॥

इसीप्रकार—घरके दरवाजेपर बकरा, बच्चा, कुत्ता, अथवा बल्लूआ आदि हो तो उन सबोंको लांघकर या हटाकर साधु उस घरमें प्रवेश नहीं करे ॥ २२ ॥

पूर्वोक्त दोपरहित घरमें जाकर जैसा व्यवहार करे वह दिखाते हैं—गृहस्थके घरमें गया हुआ साधु किसी भी वस्तुको तल्लीन होकर नहीं देखे, तथा भिक्षा लेनेके स्थानके सिवाय लम्बे-दूरतक दृष्टि भी नहीं देवे, पेसेही आँखें फार २ कर नहीं देखे, तथा भिक्षा नहीं मिलनेकी हालतमें भी दीनतासूचक वचनको नहीं बोलता हुआ घरसे पीछा फिर जावे ॥ २३ ॥

इसी प्रकार—गोचरीमें गया हुआ साधु गृहस्थके यहाँ मर्यादित स्थानसे आगे नहीं जावे, किन्तु उस फुलकी मर्यादित भूमिको जानकर उतनीही भूमिमें जावे ॥ २४ ॥

यहाँ किस प्रकार ठहरे ? इस बातको दो गाथाओंसे कहते हैं—

उपरोक्त भूमिमेंही विचक्षण साधु ठहरनेके लिये भूभागको अच्छी तरह देखे, तथा स्नान और मल-स्यानका अवलोकन नहीं करे अर्थात् उस बाजू नहीं देखे ॥ २५ ॥

तथा आगे कहीं रीतिसे वहाँ ठहरे—

सचित्त मिट्टी व जलके लानेका मार्ग, तथा सचित्त बीज और हरित-वनस्पति इनका वर्जन करता हुआ याने इनसे अलग होकर सभी इन्द्रियोंकी समाधिवाला साधु पूर्वोक्त देखी हुई जगहपर ठहरे ॥ २६ ॥
अब गृहस्थ यहाँ आहार आदि लावे तो मुनि कैसा लेवे यह दिखाते हैं—

यहाँ ठहरे हुए उस साधुको देनेके लिये गृहस्थ आहार-पानी लावे तो उसमेंसे जो अकल्पनीय-मुनिके लिये अप्राप्त है उसे नहीं लेवे, यदि कल्पनीय-प्राप्त हो तो लेवे ॥ २७ ॥

फिर कैसे आहारको नहीं ले इस बातको कहते हैं—

आहारको लाते हुए यदि गृहस्थ उसमेंसे यहाँ कुछ श्वर उधर बिखेर (गिरा) दे तो साधु देनेवाले(ली) से फदे कि मुझे इस प्रकारका आहार नहीं कल्पता है ॥ २८ ॥

इसी प्रकार—वेशन्द्रियादि प्राणिओंको और बीज, हरित घग्गैरह एकेन्द्रियोंको पांवसे कुचलती हुई अगर भिक्षा दे तो मुनि असंयम करनेवाली समझकर उस भिक्षाको छोड़ दे अर्थात् वैसी भिक्षा नहीं ले ॥ २९ ॥

उसी प्रकार—भिक्षादाता यदि, प्राप्तुक आहारको सचित्तयुक्त दूसरे भाजनमें लेकर या सचित्तपर रखकर देवे या साधुके लिये सचित्तसे स्पर्श आदि संघट्टकर अथवा सचित्त जलको हिलाकर देवे तो मुनि ऐसी भिक्षा नहीं लेवे ॥ ३० ॥

अप्रकायकी यतनाकी पृथक् करके कहते हैं—

सचित्त पानीमें अवगाहन कर या पानीको हिलाकर यदि दाता साधुके लिये आहार-पानी लावे तो ऐसे आहार लानेवालेको मुनि कह दे कि मुझे इस तरहका आहार नहीं कल्पता है ॥ ३१ ॥

फिर—गृहस्थ यदि साधुको भिक्षा देनेके लिये सचित्त जलसे हाथ, कढछी या अन्य भाजनोंको धोकर उस पुरःकर्मयुक्त हाथ आदिसे भिक्षा दे तो साधु देनेवालेको कह देवे कि मुझे ऐसा आहार लेना नहीं कल्पता है ॥ ३२ ॥

इसी प्रकार—भिक्षा देनेवालेका हाथ यदि सचित्त पानीसे गीला हो या हाथकी रेखाओंमें कुछ गीलापन विलता हो, तथा वाताका हाथ सचित्त रज-मिट्टी अथवा सचित्त ऊसर-क्षारसे भरा हो या हरिताल, हिंशुल,

मैनशील व अन्न और लोणसे भरा हो (तो साधु देनेवालेको कह देवे कि इस तरहका आहार लेना मुझे नहीं कल्पता है) ॥ ३३ ॥

पेसेही गेरू, पीली मट्टी, सफेद मिट्टी याने खड़ी, तथा सचित्त फिटकिरी अथवा चावल आदिका पिष्ट-
अर्थात् पानीमें चावलको कुछ काल रखकर फूल जानेके बाद पीसा हुआ, कुक्कुत्त-पीसा हुआ हलदी घाना
आदि मसाला, इन सब वस्तुओंमेंसे किसी एकसे भी भरे हुए हाथको कृत-युक्त समझना चाहिये, अन्नसे काटे
गये कोंढा सरबूजा आदिके बारीक टुकड़ोंसे भरे हुए हाथको 'उत्कृष्ट' समझना चाहिये, अथवा कूटे हुए इमली
आदिके पत्तोंके टुकड़ोंसे भरे हुए हाथको उत्कृष्ट समझना चाहिये । इसी प्रकार-जो हाथ साग भाजी आदिसे
भरा न हो उसे 'असंस्तुष्ट' और जो भरा हुआ हो उसे संस्तुष्ट समझना चाहिये ॥ ३४ ॥

पेसे हाथोंसे कोई भिक्षा देवे तो मुनिको क्या करना चाहिये सो आगेके श्लोकमें कहते हैं—

जिस आहारको लेनेमें पश्चात्कर्म हो अर्थात् देनेलायक आहार देनेके बाद जहाँ पात्र या हाथ धोय जाँय
पेसा आहार अगर असंस्तुष्ट-विना भरे हुए हाथसे या कढ़ाहीसे अथवा पात्रसे दिया जाय तो भी मुनि जैसे
आहारको नहीं चाहे, यदि पश्चात्कर्मरूपदोषसे रहित हो तो लेवे ॥ ३५ ॥

अचित्त व निर्दोष अन्न आदिसे भरे हुए हाथ, चम्मच और भाजनसे दिये जाते आहारको साधु चाहे
याने लेवे, अगर वह आहार अन्य दोषोंसे रहित हो ॥ ३६ ॥

कैसे दातासे आहार लेना और कैसेसे नहीं लेना ? इस प्रसङ्गमें विधिनिषेध कहते हैं—

१. इनमें सचित्त यह विशेषण सबके साथ समर्थ ।
२. निनमें फण मिले रहनेकी विशेष आशङ्का हो उसे कुक्कुत्त कहते हैं ।

अध्य० ५ (१)

॥ ३२ ॥

एकसाथ दो व्यक्ति भोजन करते हैं उनमेंसे एक देना चाहे तो साधु वैसा एककी इच्छासे दीयमान आहार नहीं लेवे, किन्तु दूसरेकी भी इच्छा देखे याने यह देना दूसरेको इष्ट है या नहीं उसके इस भावको आकृति आदिपरसे समझे ॥ ३७ ॥

यदि दो भोजन करनेवालोंमेंसे दोनों निमन्त्रण करें अर्थात् आहार लेनेकी प्रार्थना करें और जो वहाँ आहार निर्दोष हो तो साधु दिये जानवाले उस आहारको चाहे याने लेवे ॥ ३८ ॥

फिर आहार लानेकी विधि कहते हैं—गर्भवती स्त्रीके लिये अनेक प्रकारकी मिठाई आदि खाने पीनेकी वस्तुएं पानी हैं और यह गर्भवती स्त्री उसे खाती हो तो उस आहारको छोड़ देवे। अगर उसके खा लेनेपर पया हो तो मुनि ले सकता है ॥ ३९ ॥

पेसंदी अगर पूर्ण समयवाली गर्भवती स्त्री खड़ी हुई साधुको आहार देनेके लिये बैठे, अथवा बैठी हुई आहार देनेके लिये ही फिर खड़ी होवे, तो इस प्रकार गर्भवतीके ऊठने बैठनेसे दिया जाता यह आहार-पानी साधुके लिये अमार्ष्ट होता है, इसलिये साधु देनेवालीको कहे कि मुझे ऐसा आहार लेना योग्य नहीं है ॥ ४०-४१ ॥

इसी प्रकार—शालक या शालिकाको दूध पिलाती हुई माता या अन्य स्त्री यदि उस बच्चेको रोते हुए छोड़कर मुनिके लिये आहार-पानी लावे ॥ ४२ ॥

तब मुनि क्या करे? इसपर कहते हैं—यह आहार-पानी मुनिअंके लिये अमार्ष्ट होता है, इसलिये मुनि देनेवालीको कहे कि यह आहार लेना मुझे नहीं कल्पता है ॥ ४३ ॥

अब शङ्कावाले पदार्थोंके विषयमें कहते हैं—जिस आहार-पानीके विषयमें ऐसी शङ्का हो कि यह कल्पनीय है या अकल्पनीय? तो साधु ऐसे शङ्कायुक्त आहार देनेवालीसे कहे कि मुझे यह आहार कल्पनीय नहीं है ॥ ४४ ॥

फिर कैसा आहार नहीं लेना चाहिये इसपर कहते हैं—जो आहार पानीके घड़ेसे अथवा पीसनेकी शिला व खरलसे ढका हो तथा पीठ या वांटनेसे ढका हो या किसी भी मिट्टी आदिके लेप या लाख आदि चिपकानेवाले चिकने पदार्थसे मुंह बन्द कर किसी पात्रमें रक्खा हो ॥ ४५ ॥

और दाता साधुके लियेही उस ढककर रक्खे हुए आहारके पात्रको खोले व खोलकर देवे, तो देनेवालेसे साधु कहे कि मुझे ऐसा आहार नहीं कल्पता है ॥ ४६ ॥

फिर—जिस आहारके लिए साधु अपनी बुद्धिसे ऐसा जाने या गृहस्थके मुंहसे सुने कि—अशन, पान और खाद्य तथा लवंग आदि स्वाद्य—ये सब पदार्थ केवल दानमें देनेके लिये बनाये गए हैं ॥ ४७ ॥

तो इस प्रकारका आहार-पानी साधुओंके लिये निषिद्ध है, ऐसा समझकर पूर्वोक्त आहार देनेवालेको साधु कहे कि यह आहार-पानी मुझे नहीं कल्पता है ॥ ४८ ॥

अगर साधुके जानने या सुननेमें ऐसा आवे कि ये अशन, पान, खाद्य, स्वाद्यरूप, आहार केवल पुण्य-निमित्त बने हैं, तो पुण्यके लिये बना होनेसे वह आहार-पानी साधुके लिये निषिद्ध है ऐसा समझकर साधु देनेवालेसे कहे कि मुझे ऐसा आहार नहीं कल्पता है ॥ ४९-५० ॥

फिर—जो साधु अपने अनुभवसे जाने और दूसरेसे सुने कि यहाँ अशन वा पान, खाद्य व स्वाद्य ये सब याचकोंके लिये बने हैं, तो वह आहार-पानी साधुओंके लिये निषिद्ध है इसलिये साधु देनेवालेको कहे कि ऐसा आहार लेना मुझे नहीं कल्पता है ॥ ५१-५२ ॥

अशन वा पान तथा खाद्य और स्वाद्य यह चतुर्विध आहार शाक्य आदि साधुओंके लिये बना है ऐसा साधु स्वयं जाने या किसीके मुंहसे सुने ॥ ५३ ॥

तो दोषयुक्त होनेसे यह आहार-पानी साधुओंके लिये ब्राह्म नहीं होता है इसलिये साधु देनेवालेको फटे कि ऐसा आहार मुझे नहीं कल्पता है ॥ ५४ ॥

॥ १५ ॥

फिर—निषिद्ध आहारकाही स्वरूप कहते हैं—जो आहार साधुओंके उद्देशसे वहीमें ओवन मिलाकर फरषक (फरया) आदिकी तरह बनाया हो, या खरीदा हो, तथा आधाकर्मके अंशसे मिश्रित या सामनेमें छाया हुआ हो अथवा पहलेसे सीझते हुए आहारमें पीछे साधुके निमित्तसे फिर डालके बनाया गया हो और इंचलसे छीना हुआ तथा अपने व 'साधुके लिये सम्मिलित बनाया हुआ मिश्र हो तो उपरोक्त दोष-पाले आहारको साधु छोड़ दे अर्थात् नहीं लेवे ॥ ५५ ॥

अध्या० ५ (१)

शङ्का दूर करनेके लिये साधु क्या करे ? इसपर कहते हैं—उस शङ्कायुक्त आहारकी उत्पत्तिको मुनि देनेवालेसे पूछे कि यह आहार किसके लिये और किसने बनाया है ? सुनकर शङ्कारहित समझे तो उस शुद्ध आहारको साधु लेवे ॥ ५६ ॥

जो अशन वा पान तथा खाद्य और स्वाद्य पदार्थ सचित्त फूलोंसे अथवा सजीव बीज या हरीसे मिले हुए हों, तो यह इस प्रकारका आहार-पानी साधुके लिये ब्राह्म होता है इसलिये साधु देनेवालेको फटे कि ऐसा आहार-पानी मुझे नहीं कल्पता है ॥ ५७-५८ ॥

पेसंदी—जो अशन व पान एवं खाद्य तथा स्वाद्य पदार्थ, पानीपर रखते हों अथवा कीड़ीनगरा और फाँपर रखते हों, तो इस प्रकारका यह आहार-पानी साधुके लिये लेनेलायक नहीं है, इसलिये मुनि देनेवालेको फटे कि मुझे ऐसा आहार लेना नहीं कल्पता है ॥ ५९-६० ॥

॥ ३५ ॥

अशन अथवा पान, खाद्य तथा स्वाद्य पदार्थ अगर अग्निपर रखते हों और गृहस्थ उस अग्निका संघ-

टहन (स्पर्श) करके भिक्षा देवे तो इस तरहका वह आहार-पानी साधुओंके लिये अयाह्य है इसलिये ऐसे आहार देनेवालेको साधु कहे कि मुझे यह आहार लेना नहीं कल्पता है ॥ ६१-६२ ॥

॥ ३६ ॥

फिर अभिक्ती विराधनासे दिये जाते हुए आहारका निषेध कहते हैं—

अध्य० ५(१)

ऐसेही—मुनिराजको भिक्षा दूं तबतक चुल्हेकी आग बुझ न जाय इस भयसे उस्सकिआ-जलती हुई लकड़ियोंको उसकाकर अर्थात् चुल्हेमें आगे बढ़ाकर, या ओसकिआ-चुल्हेपरकी चीज जल न जाय इस भयसे जलती लकड़ियोंको चुल्हेसे बाहर खींचकर, तथा उज्जालिआ-बुझती हुई आगमें एकवार लकड़ी डालकर, या पज्जालिआ-घारवार अधिकतासे लकड़ी डालकर, निव्वाविआ-जल जानेके भयसे आगको एकदम बुझाकर, या उर्रिसचिआ-अधिक भरे हुए पात्रमेंसे गिरनेके भयसे कुछ निकालकर अथवा साधुओंको देनेके लिये चुल्हेपर चढ़े हुए भाजनसे लेकर, तथा निर्रिसचिआ-जिस वर्तनमें व्यञ्जन आदि उबल रहा हो उस वर्तनसे दूसरे वर्तनमें रखकर अथवा उबलनेवाले भाजनमें जलका सिंचन कर, ओयत्तिआ ओयारिआ-आगपरके वर्तनसे दूसरेमें पलटकर या उसको नीचे उतारकर कोई दाता देवे तो वह आहार-पानी अभिक्ती संघट्टनसे साधुओंके लिये अयाह्य है, अतः ऐसे आहार देनेवालेको साधु यों कहे कि मुझे यह आहार लेना नहीं कल्पता है ॥ ६३-६४ ॥

वर्षा आदि किसी समयमें कीचड़ व पानी आदिके संक्रमणके लिये अर्थात् इस पारसे उसपार जानेके लिये लम्बी लकड़ी या बड़ी शिला रखी हो, अथवा ईंट आदि भी जमाये हों, और वे सब हिलते हों, तब साधु उन लकड़ी आदिके अस्थिर संक्रमणसे नहीं जावे, क्योंकि उसपर होकर जानेमें हिंसारूप असंयम देखा गया है, ऐसेही सभी इन्द्रियोंसे समाधिभाववाला साधु प्रकाशरहित और पीले अन्य मार्गसे भी नहीं जावे ॥ ६५-६६ ॥

॥ ३६ ॥

फिर आहारके सम्बन्धमें कहते हैं—

वाता अगर साधुके लिये ही निसरणी सीढ़ी व बड़ा पाट या चौकी तथा खटिया और कीलक इनमेंसे किसीको भी जंघा करके कांटे व प्रासाद आदिपर चढ़े और उनके सहारे साधुके लिये आहार लाके दे तो चढ़कर लाये हुए उस आहारको साधु ग्रहण नहीं करे ॥ ६७ ॥

इस प्रकारके आहार लेनेमें दोष दिखाते हैं--कठिनाईसे चढ़ती हुई वह स्त्री यदि गिर जाय तो हाथ पैरको संदित करे, घोट पड़ुं चावे, और पृथ्वीकायिक व जो पृथ्वीके आश्रित हैं उन जीवोंकी भी हिंसा करेगी ॥ ६८ ॥

इस प्रकारके षडे दोषोंका जानकर महर्षि साधु अधिक दोषयुक्त है इसलिये मालासे उतारकर दी हुई भिक्षाको नहीं लेते हैं ॥ ६९ ॥

सुरण आदि फन्द व विदारिका आदि मूल, तथा तालफल आदि प्रलम्ब, वा कटा हुआ पत्रशाक, ये अगर फट्टे हों, ऐसेही तुम्बक-घीयाशाक-कोई २ इसे तुलसी भी कहते हैं-और अदरक ये कच्चे हों तो इन वनस्पति-ओंको साधु नहीं लेंगे (आग आदिसे अच्छी तरह प्रासुक हो गये हों तो ले सकते हैं) ॥ ७० ॥

इसी प्रकार बाजारमें सनूका चूर्ण, चोरोका चून तथा तिलपापड़ी व द्रवीभूत (ढीला) गुड, और चूड़ा तथा अन्य भी घैसे मोड़क आदि जो अधिक पदार्थ हैं वे यदि बेचनेके लिये दुकानपर फेलाये हुए हों और अनेक दिनोंसे पड़े रहनेके कारण सचिन्त धूलिसे लिपटे हों, यदि ऐसी चीजें गृहस्थ साधुको देवे तो साधु देने-वालेसे फट्टे कि मुझे ऐसा आहार नहीं कल्पता है ॥ ७१-७२ ॥

: पक्षस्थिकं-याने गुठलिओंकी अधिकतावाले सीताफल आदि, तथा अनिमिष नामक बहुत कांटेवाला फल ऐसेही अस्थिक और तिड्डुकी फल, तथा बिल्व वा इक्षुखंड व शाल्मली (साधु इन फलोंको नहीं लेवे) ॥ ७३ ॥

१. सीढ़ी मा.पः भिक्षा देनेवाली होती है, अतः स्वीग्रहण किया गया ।

२. विशेष जानकारके लिये मूलकी द्विपणी देखें ।

हि. टी.-४

इन सब फलोंको क्यों नहीं लेना इसको दिखाते हैं—

जिस लिये उपरोक्त वनस्पतिओंमें खानेयोग्य भाग कम होता है और बाहर फेंकनेका भाग बहुत होता है, इसलिये ऐसे आहार देनेवालेको साधु कहे कि मुझे ऐसा आहार लेना नहीं कल्पता है ॥ ७४ ॥

अब पानीके बाबत कहते हैं—उसी प्रकार—आहारग्रहणकी विधिके समानही अच्छे-बुरे-अच्छे-द्राक्षापान आदि, बुरे-वर्णाविहीन-पेय पदार्थकी अथवा गुडके घड़ेकी धोया हुआ पानी, तथा संस्वेदिम-कठौते आदिकी धोया हुआ पानी या पिष्टोदक, तथा चावलोंका पानी ये सब अगर तत्कालके धोये हुए हों तो साधु नहीं लेवे ॥ ७५ ॥

इसीमें विधि कहते हैं—जो पानी अधिक समयका धोया हुआ है ऐसा अपनी बुद्धिसे अथवा देखनेसे समझ या गृहपतिकी पूछकर वा किसीसे सुनकर शङ्कारहित जाने तो (उसको ग्रहण करे) ॥ ७६ ॥

इसी विषयमें कहते हैं—परीक्षासे निर्जीव बना जानकर ऐसे पानीको साधु ग्रहण करे, अगर शङ्कायुक्त हो तो जीभपर रखकर (चखकर) निश्चय करे ॥ ७७ ॥

निश्चय करनेकी विधि बताते हैं—हे वहन ! थोड़ासा पानी मुझे परीक्षार्थ चखनेके लिये हाथपर दो, अग्राह्य होनेपर कहे कि ऐसा अति खट्टा अथवा दुर्गन्धिवाला पानी मेरी प्यास हटानेमें समर्थ नहीं है, इसलिये यह (अनुपयोगी होनेसे) मुझे मत दो ॥ ७८ ॥

अत्यन्त खट्टा व दुर्गन्धियुक्त होनेसे जो पानी प्यास हटानेमें समर्थ नहीं है, ऐसे पानीको लेते हुए साधु देनेवालीसे कहे कि मुझे ऐसा पानी लेना नहीं कल्पता है ॥ ७९ ॥

और उस तरहका अनुपयोगी पानी विना इच्छासे या अन्य-मनस्क भावसे अगर ले लिया गया हो, तो उस जलको मुनि न स्वयं पीवे अथवा न दूसरेको भी पीनेके लिये दिलावे ॥ ८० ॥

उस जलको नहीं पीवे तो क्या करे ? इसपर कहते हैं—एकान्त स्थानमें जाकर वहाँ निर्जीव स्थानको देखकर यत्नपूर्वक विधिसे उस जलको परठ देवे और परठकर ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करे ॥ ८१ ॥

अब भोजनकी विधि कहते हैं—गोचरीमें गया हुआ साधु तपस्या आदि विशेष कारणसे यदि वहाँ जल आविको भोगना चाहे तो निर्जन व निर्जीव ऐसे घरको अथवा किसी भित्ति (दियाल) के पीछे भागको अच्छी तरह देखकर कही जानेवाली विधिसे वहाँ आहारादि करे ॥ ८२ ॥

विधि—बुद्धिमान साधु गृहस्थकी आज्ञा लेकर ऊपरसे ढके हुए उस स्थानमें उपयोगपूर्वक पूजनीसे हाथ आदि अङ्गोंको पूजकर संवृत आत्मा होकर वहाँ भोजन करे ॥ ८३ ॥

पूर्वोक्त विधिसे वहाँ आहार करते हुए उस साधुके आहारमें अगर कोई अस्वाद्य वस्तु निकल जाय, जैसे कि गुठली, कांटा अथवा तृण, लकड़ीके टुकड़े या कंकरी, ऐसे दूसरा भी इस तरहका कोई पदार्थ हो तो निम्नोक्त विधिसे मुनि उसे ढाल दे ॥ ८४ ॥

ढालनेकी विधि कहते हैं—आहारसे निकले हुए उस पदार्थको साधु हाथसे उठाकर जिस किसी जगहमें फेंक न देवे, तथा न मुँहसे थूके, फिर करे क्या ? तो उस पदार्थको हाथसे लेकर एकान्त स्थानमें चला जाये ॥ ८५ ॥

और वहाँ जाकर अचित्त (निर्जीव) भूमिको देखकर यतनासे उसे परठ (ढाल) देवे और परठकर ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करे ॥ ८६ ॥

अगर साधु जहाँ ठहरा हो उस उपाश्रय आदिमें आकरही आहार करना चाहे तो आहारसहित पात्रको लेकर वहाँ आवे, और आकर आहारको व भूमिको सरसरी नजरसे देख ले । आहार करनेकी भूमिको देखकर, (विशेष विधि कहते हैं—) 'निस्सही', 'मत्थण्य वंदामि' आदि कहते हुए विनयसे प्रवेश करके साधु गुरुके पास ईर्यापथिक सूत्र पढ़े, और पढ़कर गुरुके पास आया हुआ प्रतिक्रमण अर्थात् कायोत्सर्ग करे ॥ ८७-८८ ॥

कायोत्सर्गमें क्या करे यह दिखाते हैं—जाने आनेमें तथा आहार-पानी लेनेमें जो अतिचार लगे हों, उन सब अतिचारोंको साधु क्रमसे जानकर (हृदयमें धारण करे)। विधिपूर्वक कायोत्सर्गको पूर्ण करके—सरल-बुद्धि व उद्वेगरहित साधु भिक्षामें जो जैसा लिया हो उसकी वैसीही गुरुके पास अविक्षित याने स्थिर चित्तसे अच्छी तरह आलोचना करे ॥ ८९-९० ॥

अज्ञान व विस्मृति होनेके कारण यदि अच्छीतरह आलोचना नहीं हुई हो या कहनेमें पहले पीछे कहा गया हो, अथवा गृहस्थसे भिक्षामें पूर्वकर्म व पश्चात्कर्म किया गया हो, तो उसका फिर प्रतिक्रमण करे और कायोत्सर्गमें बैठा हुआ इसप्रकार विचारे ॥ ९१ ॥

अहो ! तीर्थङ्करोंने साधुओंके लिये कैसी निर्दोष भिक्षावृत्ति बताई है ! जो मोक्ष साधनेका हेतु और साधुओंके देहको धारण करनेवाली है ॥ ९२ ॥

(इसप्रकार ध्यानमें विचारकर) फिर नमस्कारमन्त्रसे ध्यानको पूर्ण कर अर्थात् पारकर जिनसंस्तव-चतुर्विंशतिस्तव करे, फिर स्वाध्याय करके क्षणभर-कुछ कालके लिये मुनि विश्राम करे ॥ ९३ ॥

फिर—निर्जरास्व लाभको चाहनेवाला साधु विश्राम करता हुआ इस हित अर्थको सोचे कि अगर कोई साधु मेरे आहारसे कुछ अपने लिये लेनेका अनुमति करे तो मैं संसारसे तारित-तारा हुआ हो जाऊँ ॥ ९४ ॥

इसतरहके विचारके बाद, भोजनके समयमें प्रेमभावसे साधुओंको क्रमके अनुसार निमन्त्रण करे, 'निमन्त्रण करनेसे' यदि कोई साधु उससे लेना चाहे तो उसके साथ वहाँ भोजन करे ॥ ९५ ॥ भोजनकी विधि कहते हैं—

१. 'पडिक्कमामि गोवरग्यचरिआए' आदि पाठसे भिक्षा-विशुद्धिका विचार करे।

२. 'नमो अरिहंताण' कहके कायोत्सर्ग पूर्ण किया जाता है, यही पचपदोंकी वन्दनास्व पूर्णपाठ नमस्कारमंत्र कहा जाता है।

निमन्त्रण करनेपर भी अगर कोई साधु उसमेंसे लेना नहीं चाहे तो वह निमन्त्रण करनेवाला साधु खुद अकेलाही प्रकाशवाले स्थान व पात्रमें यत्नपूर्वक नीचे नहीं गिराता हुआ भोजन करे ॥ ९६ ॥

इस विषयको विशेष कहते हैं—शास्त्रोक्त विधिसे प्राप्त और दूसरेके वास्ते बना हुआ अथवा मोक्षका साधक करके लिये गये उस आहारको साधु समभावसे मधुघृतकी तरह समझकर खा लेवे। वह आहार चाहे तीता अथवा कडुआ या कपायला हो, खट्टा अथवा मिठा या नमकीना हो (खा लेना चाहिये) ॥ ९७ ॥

फिर कहते हैं—विधिसे मिला हुआ आहार चाहे हार्ग आदि संस्काररहित होनेसे अरस हो अथवा बहुत पुराना होनेसे विरस हो, व्यञ्जन आदिसे युक्त वा रहित हो, कहके दिया हो अथवा बिना कहे दिया हो, व्यञ्जनकी अधिकतासे गीला हो अगर व्यञ्जनकी कमीसे सूखा हो, बोरके चूर्ण व उडदके चाकलेका भोजन हो, विधिपूर्वक मिला हुआ वह आहार थोड़ा हो या अधिक भी असारसा हो, निर्जीव वा सर्वथा शुद्ध ऐसे उस आहारकी निन्दा नहीं करे, फिर क्या करे? तो इस बातको कहते हैं—अपनी जाति आदिकी अपेक्षा बिना दिवाप व यन्त्र मन्त्र आदिके प्रभावको बिना बताए मुधाजीवी साधु बिना किसी अपेक्षाके मिले हुए आहारको दोषरहित होकर शान्तिसे भोगे ॥ ९८-९९ ॥

उपसंहार करते कहते हैं—निस्स्वार्थ बुद्धिसे आहार देनेवाले दाता दुर्लभ हैं, और ऐसेही निस्स्वार्थ बुद्धिसे जीनेवाले अर्थात् आहार लेनेवाले साधु भी दुर्लभ हैं। इनके लिये फल कहते हैं—निस्स्वार्थ दाता व निस्स्वार्थ जीवी दोनोंही सुगतिमें जाते हैं ॥ १०० ॥ गुरु-ऐसा मैं कहता हूँ। इति।

॥ पिण्डपणा नामक पांचवें अध्ययनका पहला उद्देश समाप्त ॥



॥ पांचवाँ अध्ययन ॥

उद्देश दूसरा ।



अध्य० ५(२)

प्रस्तुत पिण्डपणा अध्ययनके जो उपयोगी विषय प्रथम उद्देशकमें नहीं कहे गये उनको द्वितीय उद्देशकमें कहते हैं—

पूर्वोक्त विधिसे प्राप्त निर्दोष आहारको चाहे वह सुगन्ध हो वा दुर्गन्ध मुनि पात्रको अङ्गुलीसे निर्लेप पृच्छकर सब भोग ले (खा ले), नीरस आदि कुछ भी छोड़े नहीं ॥ १ ॥

साधु उपाश्रयमें अथवा स्वाध्यायभूमिमें या असमजस कार्योंके निषेधसे शय्यारूप नैपेधिकीमें आकर वा पूर्वोक्त रीतिसे गोचरीमें गये हुए मठ वगैरहमें आहार करता हुआ साधु अपर्याप्त (अधूरा) आहारको भोग-कर यदि उस आहारके अल्प होनेसे निर्वाह नहीं हो तो ॥ २ ॥

तब आहारका पुनः प्रयोजन होनेपर पहले कंही गई और आगे कही जानेवाली इस प्रधान विधिसे मुनि आहार-पानीकी गवेषणा करे ॥ ३ ॥

भिक्षाके लिये किस समय जाना ? इसपर कहते हैं—समयपरही साधु भिक्षाके लिये जावे और उचित समयसेही पीछा लौट आवे, और अकालको छोड़कर स्वाध्याय भिक्षा आदि जिस समयका जो कार्य हो उसको उसी समयपर करे ॥ ४ ॥

अकालमें विचरनेवाले मुनिको दूसरा साधु कहता है—हे साधो ! यदि तू अकालमें भिक्षा आदिको जाता है, और कालको नहीं देखता तो इससे स्वयं अपनी आत्माको पीडित करता है। सन्निवेश अर्थात् ग्राम आदिको भी घुरा कहता है (सन्निवेशकी भी निन्दा करता है) ॥ ५ ॥

अकालभ्रमणमें उपरोक्त दोष समझके साधु क्या करे? इसे दिखाते हैं—भिक्षाका काल होनेपर साधु भिक्षाके लिये जावे व शक्तिपूर्वक पुरुषार्थ करे, कभी नहीं मिला तो भी लाभ नहीं हुआ ऐसा समझकर चिन्ता नहीं करे, किन्तु इस तरह वीर्याचारकी आराधना और अलाभसे अनायास तपकी आराधना हुई समझकर सहन करे ॥ ६ ॥

अथ क्षेत्रसम्बन्धी यतना कहते हैं—उसी प्रकार-काल सम्बन्धी यतनाकी तरहही गोचरीमें जाते हुए साधुको अन्न आदिके निमित्त आए हुए अच्छे बुरे अनेक प्राणी मार्गमें मिल जाय तो साधु उनके सन्मुख नहीं जावे, किन्तु उनको कष्ट न हो उस प्रकार यतनासे जावे ॥ ७ ॥

फिर गोचरीमें गया हुआ साधु क्या नहीं करे? यह कहते हैं—गोचराम याने प्रधानभिक्षामें गया हुआ साधु कर्णपर भी नहीं धेड़े, और न वहाँ बैठकर विस्तृत धर्मकथाही कहे ॥ ८ ॥

अथ द्रव्यसम्बन्धी यतना कहते हैं—गोचरीमें गया हुआ साधु अर्गला, परिघा तथा द्वार व कपाटोंको अवलम्बन कर अर्धाङ्ग पकड़कर मुनि खड़ा नहीं रहे ॥ ९ ॥

अथ भावयतना दिखाते हैं—आहार अथवा पानीके लियेही गृहस्थके द्वारपर भ्रमण या ब्राह्मण, कृपण अथवा दरिद्र (भित्तारी) आ रहे हों तो आते हुए उनको उलंघन कर-पीछे हटाकर साधु घरमें प्रवेश नहीं करे, और न उनकी दृष्टिके समक्ष राधा भी रहे, फिर क्या करे? तो एक तरफ जाकर जहाँपर दिख नहीं पड़े वहाँ ठहर जाय ॥ १०-११ ॥

ऐसा नहीं करनेपर दोष दिखाते हैं—लांघकर जानेसे अथवा सामनेमें खड़ा रहनेसे याचकको या उस दाताको या बाँगीको लाभमें अन्तराय और देनेमें असुविधा आदि कारणोंसे कदाचित् अप्रीति उत्पन्न हो, और प्रयत्न-सिद्धान्तकी लघुता भी होवे इसलिये मुनि एकान्त जाकर ठहरे ॥ १२ ॥

अब वहाँ जानेकी विधि कहते हैं—वातासे निषेधको पाकर अथवा दानको पाकर वहाँसे उन साधु, ब्राह्मण, दरिद्र व भिखारिओंके लौट जानेपर मुनि वहाँ आहार-पानीके लिये चला जावे ॥ १३ ॥

लाल कमल, नील कमल अथवा कुमुद-चन्द्रकिरणसे विकसित होनेवाला कमल, तथा मगदन्तिका और इस तरहके दूसरे बेला मोगरा आदि सचित्त फूल तोड़कर अगर कोई आहार-पानी देवे ॥ १४ ॥

ऐसे सचित्त फूल आदिको जिसमें परितोषना हो वैसा वह भक्त पान-आहारपानी साधुओंके लिये अकल्पनीय है, इसलिये ऐसे आहार-पानी देनेवालेको साधु कहे कि मुझे यह आहार-पानी नहीं कल्पता है ॥ १५ ॥

गृहस्थके घरपर उत्पल, पद्म आदि कमलोंके फूल या चन्द्रविकासी कुमुद आदिके फूल, या मगदन्तिका-मोगरा आदिके फूल हों अथवा दूसरे अनेक तरहके फूल हों, पहले कटे हुए भी यदि वे फूल सचित्त हों और उन सचित्त फूल आदिका संमर्दन-संघट्टन करके गृहस्थ आहार-पानी देवे तो वह आहार-पानी साधुओंके लिये अग्राह्य है, इसलिये ऐसे आहार देनेवालेको साधु कहे कि मुझे यह आहार नहीं कल्पता है ॥ १६-१७ ॥

किस तरहके वनस्पतिको साधु नहीं लेवे इस बातको दो गाथाओंसे कहते हैं—कमलका कन्द अथवा विरालिकारूप पलाशका कन्द तथा चन्द्रविकासी कुमुद व कमलनाल, और मृणालिका याने कमलनालके घाचमें रहनेवाले सूत्ररूप तंतु, और सर्पनालिका-सरसोंके डाँट (डिंट), व उसके टुकड़े-उपरोक्त चीजें अगर शस्त्रपरिणत-सर्वथा निजाव नहीं हुई हो तो (साधु नहीं लेवे) ॥ १८ ॥

वृक्षका अथवा मधुर वृणका या अन्यभी किसी हरीका पत्ता-पल्लव यदि कच्चा है तो साधु उसको छाँट दे अर्थात् नहीं लेवे ॥ १९ ॥

१. वृत्तिकारने इस शब्दके दो अर्थ किये हैं, जैसे—भेत्तिका अथवा मल्लिका-मालती । इन दो अर्थोंमेंसे अन्तिम अर्थही उचित मालूम होता है ।

जिस फलीमें बराबर बीज-दाने नहीं पड़े हों ऐसी मूंग आदिकी फली यदि कच्ची हो तथा एकबार मूनी गई हो, गृहस्थ यदि वैसा आहार बेता हो तो देनेवालेको साधु कहे कि मुझ ऐसा सचित्त या शंकायुक्त आहार लेना नहीं कल्पता है ॥ २० ॥

फिर—इसीप्रकार साधु अग्नि आदिसे बिना सिक्षाए हुए घोर, वंशकरेला तथा श्रीपर्णी नामके फलोंको व तिलपापटीको तथा कच्चे नीमफलोंको नहीं लेवे ॥ २१ ॥

उसी प्रकार—पीसे गए चावल या चावलोंका चून, शुद्ध पानी-धोवन तथा गर्म पानी-पूरा गरम नहीं बना हुआ या ठंढा होकर फिरसे सचित्त बना हुआ, तिलपिष्ट-भीजे हुए तिलोंको पीसकर बनाया गया पीठ, व सरसोंकी रली-उपरोक्त पदार्थ कच्चे हों तो साधु नहीं लेवे ॥ २२ ॥

इसी प्रकार—कपित्थ-काँठका फल तथा मातुलिङ्ग-विजोरेका फल, मूला और उसकी गांदल जो कच्ची या अग्नि आदि शस्त्रसे परिणत नहीं है उसको साधु मनसे भी नहीं चाहे ॥ २३ ॥

इसी प्रकार—फलोंके चूर्ण व यव आदि बीजोंका चूर्ण व विभीतक-बहेडा और प्रियालफल इनको कथा जानकर अर्थात् सचित्त समझकर मुनि छोट दे, नहीं लेवे ॥ २४ ॥

सामूहिक और शुद्ध भिक्षाका निमित्त लेकर साधु सदा ऊंच नीच कुलोंमें जावे, निर्धन होनेसे नीच फलानेवाले कुलको छोट कर धन मानकी दृष्टिसे ऊंचे कुलमें नहीं जावे अर्थात् सधन, निर्धन, सभी कुलोंमें जावे ॥ २५ ॥

विद्वान् मुनि दीनतारहित जीवन-निर्वाहकी वृत्तिको खोजे, यदि गवेयणा-खोज करनेपर भी योग्य

आहार नहीं मिले तो दुःख नहीं करे, और आहारके मिलनेपर मूर्च्छारहित उसके परिणामको-जाननेवाला मुनि आहार-सम्बन्धी शुद्धि की खोजमें सावधान रहे ॥ २६ ॥

और इस प्रकार विचार करे—गृहस्थके घरमें अनेक प्रकारके खाद्य स्वाद्य आदि आहारोंकी अधिकता है, फिर भी गृहस्थ कृपणता आदि कारणसे उन आहारोंमेंसे नहीं देवे तो भी विद्वान् साधु वहाँ क्रोध नहीं करे, अपनी इच्छासे गृहस्थ देवे चाहे नहीं देवे यह उसकी इच्छाकी बात है, मुनि इसमें विरुद्ध विचार नहीं करे ॥ २७ ॥

इसी बातको स्पष्ट कहते हैं—प्रत्यक्षमें वस्तुओंके दिखते रहनेपर भी यदि गृहस्थ शय्या, आसन, वस्त्र अथवा आहार व पानी नहीं देवे तो भी साधु नहीं देनेवाले उस गृहस्थपर क्रोध नहीं करे ॥ २८ ॥

स्त्री अथवा पुरुष, तरुण या वृद्ध, ये सब जब वन्दना कर रहे हों तब उनसे साधु कुछ नहीं मांगे और वस्तुके नहीं मिलनेपर कटु वचन नहीं बोले ॥ २९ ॥

अगर कोई वन्दना नहीं करे तो साधु उसपर क्रोध नहीं करे और राजा आदिके वन्दन करनेपर अहङ्कार भी नहीं करे, इस प्रकारसे भगवानकी आज्ञा पालनेवाले साधुकी साधुता (साधुपन) अखण्ड रहती है ॥ ३० ॥

अपने पक्षमें चोरीका निषेध कहते हैं—मेरे लिए हुए इस सरस आहारको दिखानेपर आचार्य उपाध्याय आदि स्वयं नहीं ले लें, इस विचारसे कोई जघन्य विचारवाला साधु कभी उत्तम आहारको पाकर लोभसे छिपाता है ॥ ३१ ॥

ऐसा करनेमें दोष दिखाते हैं—जिसको पापपूर्ण अपना मतलबही मुख्य है ऐसा लोभी साधु आहारके विषयमें बहुत पापसञ्चय करता है, वह साधु जिस किसी आहारसे सन्तुष्ट करनेलायक नहीं होता और असन्तोषी होनेसे निर्वाण अर्थात् मुक्तिको भी नहीं पाता है ॥ ३२ ॥

अथ परोक्षमें हरण करनेवालोंको कहते हैं—कोई एक साधु कभी अनेक प्रकारके आहार-पानीको पाकर उसमेंसे अच्छा १ मार्गमें खाकर वर्ण व रसरहित साधारण आहारको उपाश्रयमें लावे ॥ ३३ ॥

ऐसा करनेमें कारण दिखाते हैं—उपाश्रयमें रहनेवाले ये साधु सच्ची बात न मालूम हो तबतक मुझे जानें कि यह साधु आत्मार्थी है, सन्तुष्ट होकर प्रान्त अर्थात् असार आहारको भी रुक्षवृत्तिवाला बनकर सेवन करता है तथा साधारण आहारसे सन्तुष्ट करनेलायक है ॥ ३४ ॥

इस प्रकार पूजाके लिये यशको चाहनेवाला तथा मान सन्मानका अर्थी वह साधु बहुत पापोंको उत्पन्न करता है और मायाशल्यको भी करता है ॥ ३५ ॥

अपने संयमकी रक्षा करता हुआ मुनि सुराकी अथवा प्रसन्ना व मेरक या घिसेही सीधु आवि अन्य भी किसी मायक द्रव्यको केवलीकी साक्षीसे नहीं पीवे ॥ ३६ ॥

जो साधु धर्मसंशयसे रहित एकान्तमें गुह्य कोई नहीं जानता है ऐसा समझकर मद्य पीता है वह भगवद्वाक्का विरोधी होनेसे भगवानका चोर है, है शिष्यों! उस मद्यपीके दोषोंको देखो और उसकी 'निकृति'—मायाको गुह्यसे सुनो ॥ ३७ ॥

उस मद्यपी साधुकी मद्यमें आसक्ति-प्रीति बढ़ती है, और झूठ कपट भी बढ़ता है। तथा अयश बढ़ता है, मद्य नहीं मिलनेसे अशान्ति बढ़ती है, इसप्रकार मद्यपीका असाधुपन निरन्तर बढ़ता रहता है ॥ ३८ ॥

यह मद्यपी साधु—चोर अपने कुकर्मोंसे घबराया रहता है, घिसे वह दुर्बुद्धि साधु—अपने कर्मोंसे सदा, विभ्रित रहता है, इस तरहका साधु मरण समयमें भी संवरकी आराधना नहीं कर पाता है ॥ ३९ ॥

इस प्रकारका व्यसनी साधु आचार्योंकी तथा अन्य साधुओंकी भी आराधना नहीं करता, गृहस्थ भी उसकी निन्दा करते हैं, जिसलिये कि वे उस मद्यपीके आचरणको जानते हैं ॥ ४० ॥

इसी घातको उपसंहारमें कहते हैं—इसतरह दुर्गुणोंको धारण करनेवाला और सद्गुणोंको छोड़नेवाला घिसा मद्यपी साधु मरणसमयमें भी संवरधर्मकी ठीक आराधना नहीं करता है ॥ ४१ ॥

ऐसा समझकर क्या करना चाहिये ? इस बातको आगे कहते हैं—बुद्धिमान् साधु मद्यपानरूप प्रमादसे अलग रहकर तपस्याको करता है तथा प्रणीत अर्थात् सरस-स्निग्ध आहारको भी छोड़ता है और मैं तपस्वी हूँ ऐसे अहङ्कारसे भी रहित होता है ॥ ४२ ॥

है शिष्यों । उस सुसाधुके कल्याणस्वरूप संयमको देखो, जो कि मोक्षरूप निरुपमसुखका साधन होनेसे विपुल-विशाल है, और अनेक साधुओंसे पूजित व जो मोक्षरूप अर्थसे युक्त है ऐसे संयमको मैं कहूँगा, मुझसे सुनो ॥ ४३ ॥

इसप्रकार—अप्रमाद आदि गुणोंको देखने व धारण करनेवाला और दुर्गुणोंको छोड़नेवाला वैसा साधु मरणसमयमें भी संवरधर्मकी आराधना करता है ॥ ४४ ॥

तथा—ऐसा गुणयुक्त साधु आचार्योंकी और अन्य साधुओंकी भी सेवा करता है, गृहस्थ भी वैसे संयमी साधुको जिसलिये गुणयुक्त जानते हैं इसलिये पूजते हैं अर्थात् सेवा करते हैं ॥ ४५ ॥

जो साधु तपका व्रतका और रूपका चोर है तथा आचार और भावोंका चोर है अर्थात् तप, व्रत, रूप, भाव, आचार आदि गुणोंको न होनेपर भी कपटसे, अपनेमें दिखाना चाहता है वह मनुष्य कित्तिपी देवपनको अर्थात् देवोंमें नीचपदको प्राप्त करता है ॥ ४६ ॥

देवभवको पाकर भी वह साधु पूर्वोक्त कपटक्रियाके कारण कित्तिपी देवोंमें पैदा होकर भी वहाँ ऐसा नहीं समझता कि मुझे क्या करनेसे यह फल मिला है ॥ ४७ ॥

उस देवभवसे च्युत होकर भी वह साधु मनुष्यभवमें बोकड़ोंकी तरह मूकपन-शृंगापन-को प्राप्त करता है तथा परम्परासे नरक व तिर्यक् चोनिको पाता है जहाँ कि उसको जिनधर्मकी प्राप्ति दुर्लभ होती है ॥ ४८ ॥

अब इस विषयका उपसंहार करते हैं—मर्यादाशील साधु ज्ञातपुत्र श्रीमहावीरसे कहे गए इन दोषोंको दूरकर थोड़ा भी छल-कपट व मृपावादको छोड़ देवे अर्थात् इन्हें आचरणमें नहीं आने देवे ॥ ४९ ॥

साधु भिक्षाकी पपणा-आहारशुद्धिको तत्त्वोंके जानकार मुनिओंसे सीखकर उस विषयमें इन्द्रियोंके उपयोगको रखे और उत्तमसंयमी गुणवान् होकर विचरे अर्थात् भिक्षाकी समाचारीका ठीकसे पालन करे ॥ ५० ॥ गुरु-देसा में कहता हूँ । इति ।

॥ पिण्डपणा नामका पांचवाँ अध्ययन समाप्त ॥



॥ छठा अध्ययन ॥

अध्य० ६

॥ ५० ॥

अब छठे अध्ययनकी व्याख्या करते हैं। पांचवें अध्ययनसे इसका सम्बन्ध इस प्रकार है—पांचवें अध्ययनमें साधुओंके लिये भिक्षा-विशुद्धि अर्थात् शुद्धभिक्षा पानेके उपाय कहे गए हैं, गोचरीमें गए हुए मुनि-ओंसे यदि कोई उनका आचार पूछे तो मुनि वहां विस्तारपूर्वक नहीं कहकर उपाश्रयमें आकर कहें। इसी विचारसे छठे अध्ययनमें साधुओंके आचारगोचरकी कहते हैं—

विशिष्टज्ञान व क्षायोपशमिक आदि दर्शनसे सम्पन्न तथा संयम और तपमें लीन ऐसे आगमके जानकार आचार्य जो कि साधुके उतरनेयोग्य उद्यानमें ठहरे हुए हैं ॥ १ ॥

उद्यानमें विराजमान उन आचार्योंको राजा और राजमन्त्री, ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय आदि स्थिरचित्त होकर पूछते हैं कि हे पूज्य महाराज ! आपका आचारगोचर (कियाकलाप) कैसा है ? ॥ २ ॥

इसप्रकार उन राजा आदिसे पूछे गए स्थिरचित्त याने शान्तहृदय व जितेन्द्रिय तथा सर्व जीवोंके हितकारी ऐसे विचक्षण आचार्य महाराज आसेवना व ग्रहणारूप शिक्षासे युक्त होकर धर्मकथा कहते हैं ॥ ३ ॥

हे भव्यजीवों ! तुम धर्मका मुख्य फल जो मोक्ष है उसको चाहनेवाले साधुओंके आचारगोचरको हमसे सुनो, जो कि सम्पूर्ण आचार कर्मशस्त्रोंके चलते भयङ्कर है और साधारण जीवोंसे दुराश्रय याने दुःखसे अपनानेयोग्य है ॥ ४ ॥

लोकमें जो संयमधर्म अत्यन्त दुष्कर है उस आचारका ऐसा वर्णन दूसरे प्रवचनोंमें नहीं है, मोक्षके हेतु-

१. अनुवादमें आदरके लिये यह वचन किया गया है।

॥ ५० ॥

रूप संयमस्थानकों भजनेवाले साधुओंके लिये इस तरह आचारधर्मका वर्णन जिनमतसे अन्यत्र न कहीं हुआ न होगा ॥ ५ ॥

बाल, वृद्ध, रोगी और निरोगी इन सबोंके लिये जो गुण अखण्ड व अस्फुटित रूपसे थोड़ीबहुत भी विराधना बिना किये पालन करनेलायक हैं, वे गुण जैसे हैं वैसेही उन्हें सुनो ॥ ६ ॥

अज्ञानी साधु जिन वश और आठ अर्थात् अठारह स्थानोंको लेकर अपराध करता है, उनमेंसे किसी एक स्थानमें भी प्रमाद करनेवाला साधु निर्यन्त्र-धर्मसे गिरता है अर्थात् भ्रष्ट होता है ॥ ७ ॥

संख्यामात्रसे कहे हुए इन अठारह स्थानोंके परिचयको संक्षेपमें कहते हैं—वर्जनीय अठारह स्थान, जैसे—छद्म प्रतांकी तथा छद्मकायिक जीवोंकी विराधना करना ये चारह स्थान हुए, और अकल्पनीय पिण्ड लेना १ गृहस्थोंके धातुपात्रोंसे काम लेना २ पलंगपर सोना बैठना ३ गृहस्थोंके घरोंमें बिना खास कारण बैठना ४ स्नान करना ५ शुद्धार करना ६, इस प्रकार सबको मिलानेसे १८ स्थान हुए । प्राचीन वृत्तिकारोंने इस गाथाको निर्युक्तिगत मानी है ॥ ८ ॥

अब इन १८ स्थानोंमेंसे एक एकका वर्णन करते हैं—उन अठारह स्थानोंमें अहिंसाके अनासेवनको भगवान् महावीरने पहला पापस्थान बताया है, धर्मसाधनरूपसे यही अहिंसा निष्ठुण देखी गई है, क्योंकि इस अहिंसासेही सब जीवोंकी रक्षा होती है, अन्यत्र नहीं ॥ ९ ॥

संसारमें जितने जीव हैं वे चाहे स्थावर हों या त्रस्त हों, जानते हुए या अजानपने उन जीवोंकी हिंसा करे नहीं, और दूसरोंसे करावे भी नहीं ॥ १० ॥

हिंसात्यागमें कारण विज्ञाते हैं—सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहते हैं, इसलिये कुछके हृत् होनेसे रीढ़ पेसे प्राणिवध (हिंसा) को साधु छोड़ते अर्थात् नहीं करते हैं ॥ ११ ॥

अध्या० ६

॥ ५१ ॥

अब मृषावादरूप दूसरा स्थान कहते हैं—अपने लिये या दूसरोंके लिये साधु पीडाकारी व झूठ बोले नहीं, कोपसे वा मान, माया, लोभसे अगर भय, हास्य आदि कारणसे दूसरोंसे भी वैसे वचन बोलावे नहीं ॥१२॥

क्योंकि मृषावाद निश्चयसे समस्त संसारमें सब साधुओंसे निन्दित है, और जीवोंके अविश्वासका कारण है। इसलिये साधु मृषावादको छोड़ देवे ॥ १३ ॥

अब तीसरे स्थानको कहते हैं—द्विपद आदि सचित्त अथवा सुवर्ण आदि-अचित्त वा मूल्यसे तथा माप तोलसे थोड़ा अगर बहुत, किंवाहुना दांतोंको साफ करनेके लिये तृणमात्र भी जिसके अवग्रहमें है उससे बिना मांगे- (नहीं लेवे) ॥ १४ ॥

पूर्वोक्त अदत्त वस्तुओंको साधु स्वयं कभी लेते नहीं तथा दूसरोंको लेनेकी प्रेरणा करते नहीं, अथवा लेनेवाले अन्यकी भी अनुमोदना नहीं करते ॥ १५ ॥

तीसरा स्थान कह चुके अब चौथे स्थानको कहते हैं—अब्रह्मचर्य-कुशीलपना घोर-भयङ्कर है, और प्रमाद अर्थात् सब तरहकी गलतिओंकी जड़ है, इसलिये चारित्र्यमङ्गके कारणोंको छोड़नेवाले मुनि इस मैथुनसंयोगका आचरण नहीं करते ॥ १६ ॥

अब्रह्मत्यागका कारण कहते हैं—अनन्त संसारका कारण होनेसे जो जिनवचनके जानकारोंसे दुराराध्य है, ऐसा यह मैथुनसेवन अधर्मकी जड़ और बड़े १ दोषोंकी उन्नतिका हेतु है, इसलिये निर्यन्त्र मुनि इस मैथुनसंसर्गको त्याग देते हैं ॥ १७ ॥

अब पांचवाँ स्थान कहते हैं—जो साधु ज्ञातपुत्र अर्थात् महावीरके वचनोंमें रत-तल्लीन रहनेवाले हैं, वे पचाया हुआ अचित्त लवण तथा समुद्रीय लवण याने सचित्त लवण, तथा तेल, घी, और पतला गुड आदि पदार्थोंको रात्रिमें रखना नहीं चाहते हैं ॥ १८ ॥

सन्निधिकरणमें दोष दिखाते हैं—यह संचयकरण लोभका अनुभाव है, इसलिये तीर्थङ्कर आदि ऐसा मानते हैं कि जो किसीभी तरहका सञ्चय करता है वह भावसे गृहस्थ है, प्रव्रजित-साधु नहीं है ॥ १९ ॥

फिर साधुओंका वस्त्र आदि धारण करना भी सञ्चय करना होगा ? इसपर कहते हैं—जो भी वस्त्र पात्र अथवा कम्बल और पादमोछन है वह भी संयम व लज्जाके लियेही साधु धारण करते हैं और मूर्च्छारहित भोगते हैं ॥ २० ॥

अध्य० ६

इस प्रकार साधुके उस सकारण वस्त्रादि धारणको परिग्रह नहीं कहा है किन्तु स्व-परके रक्षक ज्ञातपुत्र-श्रीमहावीरने मूर्च्छा याने आसक्तिको परिग्रह कहा है, उनसे निश्चय समझकर ऐसा महर्षि गणधरका कहना है ॥ २१ ॥

उपकरणोंके अभावमें भी मूर्च्छा हो सकती है तो वस्त्र आदि उपकरणोंके होनेपर कैसे नहीं होगी ? इसपर कहते हैं—योग्य क्षेत्र और योग्य कालमें (सब जगह) शास्त्रोक्त उपकरणोंसे युक्त भी मुनि जीवोंकी रक्षाके लिये वस्त्र आदि बाह्य परिग्रहके होनेपर भी उसमें मूर्च्छा नहीं करते हैं, फिर अन्य वस्तुओंकी तो बातही क्या ? तत्त्वके जानकार वे साधु अपने देहपर भी ममता नहीं करते हैं ॥ २२ ॥

अब छट्ठा स्थान कहते हैं—अहो आश्चर्यकी बात है कि सब तीर्थङ्करोंने साधुके लिये दोषके अभावसे व गुणवृद्धिके कारण सदा स्थिर रहनेवाला तपःकर्म बताया है, जो संयमनिर्वाहके समान याने अनुकूल वृत्ति और एकमक्तभोजन है यह नित्यका तपःकर्म है ॥ २३ ॥

अब रात्रिभोजनमें दोष कहते हैं—ये प्रत्यक्षमें त्रस अथवा स्थावररूप जो सूक्ष्म प्राणी हैं उनको रात्रिमें नहीं देखता हुआ साधु शुद्ध आहारको कैसे भोगेगा ? ॥ २४ ॥

॥ ५३ ॥

रात्रिभोजनमें दोष दिखाकर अब रात्रिमें आहार आदि ग्रहण करनेमें दोष दिखाते हैं, जैसे— पानीसे

मीलें और बीजोंसे मिले हुए आहारको तथा भूमिपर जो सूक्ष्म प्राणी गिरे हुए हैं उनको दिनमें तो निवारण कर सकता है किन्तु रात्रिमें उन सूक्ष्म जीवोंके विषयमें कैसे चलेगा अर्थात् इनका निवारण किस तरह कर सकता है ? ॥ २५ ॥

ज्ञातपुत्रसे भाषित इस हिंसारूप दोषको और आत्मविराधना आदि अन्यको देखकर साधु सभी प्रकारके आहारोंका लेकर रात्रिभोजनको नहीं करते हैं ॥ २६ ॥

अब छः कार्योंमेंसे पृथ्वीकायिक जीवोंकी हिंसाका निवारणरूप सातवाँ स्थान कहते हैं—सुसमाधि-वाले साधु मन वचन और शरीरसे तथा तीन प्रकारके करण व योगोंसे पृथ्वीकायिक जीवोंकी हिंसा नहीं करते हैं ॥ २७ ॥

क्योंकि पृथ्वीकी हिंसा करता हुआ जीव उसके आश्रित अनेक प्रकारके व्रस और स्थावर, दृश्य तथा अदृश्य जीवोंकी भी हिंसा करता है ॥ २८ ॥

इसलिये साधु दुर्गतिको बढ़ानेवाले इस हिंसारूप दोषको जानकर जीवनपर्यन्तके लिये पृथ्वीकायिक जीवोंके हिंसामय आरम्भको त्याग देवे ॥ २९ ॥

आठवाँ स्थान—सुसमाधिमान् मुनि मन, वचन और शरीरसे, तीन प्रकारके करण व योगोंसे अप्-कायिक जीवोंकी हिंसा नहीं करते हैं ॥ ३० ॥

क्योंकि अप्कायिक जीवोंकी हिंसा करता हुआ वह मुनि उस जलके आश्रित अनेक दृश्य व अदृश्यरूप व्रस और स्थावर प्राणिओंको मारता है ॥ ३१ ॥

इसलिये जलकायिक जीवोंकी हिंसारूप इस दोषको दुर्गति बढ़ानेवाला जानकर मुनि जीवनभरके लिये जलकायिक (हिंसात्मक) आरम्भको छोड़ देवे ॥ ३२ ॥

नववाँ स्थान—साधु पापकारी अग्निको जलाना नहीं चाहते हैं जो कि सभी वायुसे दुराश्रय अर्थात् चारों ओरसे धारवाला होनेके कारण दुःखसे आश्रयण करनेयोग्य है, व एक प्रकारका तीक्ष्ण (तीखी धारवाला) शस्त्र है ॥ ३३ ॥

फिर—जो अग्नि पूर्वमें अथवा पश्चिममें, वक्षिण तथा उत्तरमें, नीचे तथा ऊपर व विदिशाओंमें भी इस प्रकार सभी तरफसे जलाती है ॥ ३४ ॥

इस प्रकार यह अग्नि जीवोंको आघात पहुंचानेवाली है इसमें सन्देह नहीं है, इसलिये साधु प्रकाशके लिये अथवा तपानेके लिये उस आगका आरम्भ नहीं करते अर्थात् नहीं जलाते हैं ॥ ३५ ॥

इसलिये अग्निके आरम्भसे इस हिंसाक्षपी दोषको दुर्गति बढानेवाला जानकर, साधु जीवनपर्यन्तके लिये अग्निके आरम्भको छोड देवे ॥ ३६ ॥

दसवाँ स्थान—तीर्थङ्करदेव इस वायुके आरम्भको अग्निके समानही पापकी बहुलतावाला मानते हैं, इसलिये सुसाधुओंने वायुके इस आरम्भको सेवन नहीं किया ॥ ३७ ॥

इसी बातको स्पष्ट कहते हैं—तालवृन्तसे व पत्रसे अथवा वृक्षकी शाखाके हिलानेसे या अन्य वीज-नांसे वे साधु बीजना (हवा खाना) नहीं चाहते हैं, तथा न दूसरोंकी बीजाना (हवा खिलाना) भी चाहते हैं ॥ ३८ ॥

जो भी वस्त्र पात्र अथवा कम्बल या रजोहेरण आदि उपकरण हैं उनमेंसे किसी एकसे भी वे साधु वायु-का संचालन नहीं करते हैं, किन्तु यतनासेही उन्हें लेते और धारण करते अर्थात् रखते हैं ॥ ३९ ॥

इसलिये इस दुर्गतिवर्त्यक शेषको जानकर, साधु जीवनरचनेक लिये साधुकापके आरम्भका छोट वे ॥ ४० ॥

॥ ५६ ॥

ग्यारहवाँ स्थान—उत्तम समाधिवाले जो सुनि है वे मन, पापों और दसियों तीन प्रकारक करम व योगोंसे यनस्पतिकायक जीवोंकी हिंसा नहीं करते है ॥ ४१ ॥

यनस्पतिही हिंसा करता हुआ साधु उसको आभित भनक मग और रपावर, हाथ और भद्राव जीवोंका मारता है ॥ ४२ ॥

इसलिये इस हिंसाकर शेषको दुर्गतिवर्त्यक समझकर जीवनरचने साधु यनस्पतिकापके आरम्भका छोट वे जाने नहीं करे ॥ ४३ ॥

बारहवाँ स्थान—मन, यपन और पापोंसे तीन करम व योगोंसे आरम्भका हिंसा नहीं करता है साधु उत्तम समाधिवाले है ॥ ४४ ॥

प्रसक्तिकायकी हिंसा करना हुआ यह साधु उसको आभित भनक मग, रपावर, छोट और बड़ जीवोंको भी मारता है ॥ ४५ ॥

इसलिये इस हिंसाकर शेषको दुर्गतिवर्त्यक समझकर साधु जीवनरचने प्रसक्तिकायकी हिंसा नहीं करे ॥ ४६ ॥

तेरहवाँ स्थान—अकल्पनीय-नहीं छेनकापके आहार आदि जो चार पदार्थ साधुजीक लिये अग्रह है उनको विधिपूर्वक छोड़ता हुआ सुनि संयमकी पालना करे ॥ ४७ ॥

उन चार पदार्थोंको गिनाते है—पिण्ड अर्थात् आहार, दाया अर्थात् स्थान, बह और भीषा पान । इनमें यदि अकल्पनीय हो तो साधु उसको नहीं खाए और कल्पनीय हो तो पदम करे ॥ ४८ ॥

अध्या ६

५६ ॥

जो साधु नित्य-आमन्त्रित आहार और क्रीत-खरीदा हुआ, औद्देशिक-साधुके लिये किया गया, तथा आहुत-सामनेमें लाकर दिया हुआ, इनमेंसे किसी प्रकारका आहार लेते हैं वे साधु उस आहारके बनानेमें हुई भई हिंसाकी अनुमोदना करते हैं ऐसा महर्षि महावीरने कहा है ॥ ४९ ॥

इसलिये जो आहार-पानी निमन्त्रित, क्रीत, औद्देशिक व सन्मुख लाया हुआ है वैसे आहार-पानीको निश्चल आत्मावाले धर्मजीवी (धर्मके लिये जीनेवाले) साधु छोड़ देते हैं याने नहीं लेते हैं ॥ ५० ॥

चौदहवाँ स्थान कहते हैं—कांस्य-कटोरे आदिमें वा कांसेके स्थाली आदि पात्रोंमें और मिट्टी आदिके बड़े कुण्डोंमें अन्य दोषरहित भी अशन-पान आदि भोगता हुआ साधु साधुके आचारोंसे गिर जाता है ॥ ५१ ॥

इसमें कारण बताते हैं—कच्चे-सचित्त पानीसे पात्र आदिको धोनेरूप आरम्भमें व पात्रोंको धो चुकनेपर बचे हुए पानीको कुंडे आदिमें गिरानेमें जिसलिये जीव मारे जाते हैं, उस कारणसे गृहस्थके पात्रोंमें भोजन करनेसे केवलज्ञानिओंने उन अप्रकायादि जीवोंका पूर्वोक्त (गृहस्थके पात्रमें भोजन करनेवाले साधुओंके लिये) असंयम देखा है ॥ ५२ ॥

सिवाय इसके गृहस्थके पात्रोंमें आहार करनेसे कदाचित् पश्चात्कर्म-भोजन करनेके बाद सचित्तका आरम्भ हो, अथवा पुराकर्म-आहार करनेसे पहलेही सचित्तका आरम्भ हो चुका हो जो कि नहीं कल्पता है, इसलिये साधु गृहस्थके पात्रोंमें आहार-पानी नहीं करते हैं ॥ ५३ ॥

पंद्रहवाँ स्थान—आर्य साधुओंको गृहस्थोंकी आसन्दी और पलङ्क तथा मञ्चपर, ऐसेही टेककर बैठने-योग्य आसन सिंहासन, कुर्सी आदिपर बैठना या सोना योग्य नहीं है ॥ ५४ ॥

इसीमें अपवाद कहते हैं—तीर्थद्वारके बचनोंपर निर्भर रहनेवाले साधु अच्छी तरह देखे बिना आसन्दी और पलङ्कपर नहीं बैठते हैं तथा निपट्या व बेंतके बूने हुए पीठपर भी नहीं बैठते हैं ॥ ५५ ॥

स्नानको अथवा चन्दन आदि कल्क या लोध नामक सुगन्धि द्रव्यको और कुङ्कुम, केसर या इसके समान अन्य किसी सुगन्धि द्रव्यको शरीरपर उवटन व लेपन करनेके लिये साधु कभी भी उपयोगमें नहीं लेते हैं ॥ ६४ ॥

अठारहवाँ स्थान—जो साधु अल्प (श्वेत प्रमाणोपेत) वस्त्रधारी अथवा नग्न-जिनकल्पी हैं तथा द्रव्य-भावसे मुण्डित रहते हैं और बड़े हुए नख व केश रखते हैं, मैथुनभावसे उपशान्त-दूर रहनेवाले वैसे साधु-ओंको शरीर आदिकी शोभासे क्या करना है ? ॥ ६५ ॥

शरीरकी शोभा करनेवाला साधु उस शोभाके लिये चिकने कर्मको बांधता है जिससे वह दुःखसे तैरने-योग्य घोर संसारसागरमें गिरता है ॥ ६६ ॥

तीर्थङ्करदेव विभूषा निमित्तक चित्तको विभूषाके जैसा दोषी मानते हैं, इसलिये दोषोंसे पूर्ण इस विभूषाको स्वपरके रक्षक साधुओंने सेवन नहीं किया है ॥ ६७ ॥

फल कहते हुए उपसंहार करते हैं—मोहरहित यथार्थ देखनेवाले, तथा संयम और सरलतारूप गुणवाले, विशुद्ध तपमें लगे रहनेवाले साधु अनुपशान्त आत्माको निर्मल भावनासे खपाते हैं अर्थात् विशुद्ध करते हैं, वे महात्मा पूर्वके सञ्चित कर्मोंको अलग करते हैं और नवीन कर्मोंका संग्रह नहीं करते ॥ ६८ ॥

जो साधु सदा उपशान्त तथा ममत्वरहित और धनधान्य आवि बाह्य आभ्यन्तर परिग्रहसे विरत हैं तथा परलोकके लिये उपकारक स्वविद्यासे युक्त व यशस्वी हैं, वे पद्मकायके रक्षक मुनि शरद् ऋतुमें निर्मल चन्द्रकी तरह घमकते हुए कर्ममलसे रहित सिद्धिगति या देव-विमानोंको प्राप्त करते हैं ॥ ६९ ॥ गुरु-ऐसा मैं कहता हूँ । इति ।

॥ धर्मार्थकामाध्ययन नामका छठ्ठा अध्ययन समाप्त ॥



॥ सातवाँ अध्ययन ॥



अध्य० ७

॥ ६० ॥

इस अध्ययनका पूर्वसे सम्बन्ध इस प्रकार है—

भिक्षामें गया हुआ साधु जनताके पूछनेपर वहाँही विस्तारसे साधुके आचारोंको नहीं कहे, किन्तु जहाँ ठहरा हो वहाँ आकर कहे, ऐसा छुट्टे अध्ययनमें वर्णन किया गया है, यहाँ तो निवासस्थानमें आकर भी साधु भाषासमितिपूर्वकही कहे, इसलिये सातवें अध्ययनमें भाषाकी शुद्धि बताते हैं—

बुद्धिमान् साधु चारोंही भाषाओंके स्वरूपको अच्छीतरह जानके सत्य और व्यवहार इन-दो भाषासेही शुद्ध प्रयोगरूप विनयको सीखे, तथा शेष दो भाषाओंको सर्वथा नहीं बोले ॥ १ ॥

नहीं बोलनेलायक भाषाका स्वरूप बताते हैं—जो भाषा सत्य किन्तु पीडाकारी होनेसे अवक्तव्य-नहीं बोलनेयोग्य है और जो मिश्र-झूठ-सांच मिली हुई या मिथ्या-बिल्कुल झूठ भाषा है, तथा तत्त्वज्ञ तीर्थङ्करोंने जिस भाषाका प्रयोग नहीं किया है, उस भाषाको प्रज्ञावान् साधु नहीं बोले ॥ २ ॥

कैसी भाषा वक्तव्य है? इस बातको कहते हैं—बुद्धिमान् साधु असत्यामृषा-जो झूठ सांच दोनोंसे एक भी नहीं अर्थात् व्यवहार-भाषा और सत्य भाषाको बोले, वह व्यवहार तथा सत्य भाषा भी पापरहित अकर्कश-कोमल हो, उसको अच्छी तरह विचारके सन्देहरहित बोले ॥ ३ ॥

मिश्रभाषाका निषेध करते हैं—वह धीर-साधु पूर्वोक्त सावध व कर्कश विषयको अथवा ऐसा अन्य जो अर्थ शाश्वत याने सदाकालस्थायी मोक्षको प्रतिकूल (उलट) करता हो ऐसे अर्थको लेकर साधु उस व्यवहार और सत्य भाषाको भी नहीं बोले ॥ ४ ॥

॥ ६० ॥

इस समय मृषा भाषासे बचनेके लिये कहते हैं—जो असत्य सत्यके समान रूपवाला है जैसे स्त्रीरूप-
धारी पुरुषको स्त्री कहने आदि, उस भाषाको भी जो मनुष्य बोलता है, वैसे बात बोलनेसे पहलेही वह वक्ता
पापसे मुक्त हो जाता है, फिर जो छुटतेही झूठ बोलता है उसके लिये तो कहनाही क्या ? ॥ ५ ॥

जिसलिये तथामूर्ति-सत्यकी समानरूपवाला वितथ भी पापका कारण है इसलिये हम कल अवश्य
जायेंगे, या अवश्य बोलेंगे अथवा कल हमारा यह कार्य होगाही या मैं इस कार्यको जरूर करूंगा अथवा यह
साधु हमारी सेवा अवश्य करेगा ॥ ६ ॥

इसप्रकारकी जो भाषाएँ भविष्यकालमें शब्दायुक्त हैं अथवा वर्तमानकालके लिये तथा भूतकालके लिये
जो पदार्थ शब्दायुक्त हैं, धीरे साधु उस शब्दायुक्त भाषाको भी छोड़ दे-निश्चयरूपसे नहीं बोले ॥ ७ ॥

भूत, भविष्य और वर्तमान इन तीनों कालमें जिस पदार्थको अच्छी तरह नहीं जाने उस विषयमें यह
पेसाही है हम तरह साधु (अवधारणी भाषा) नहीं बोले ॥ ८ ॥

ऐसेही भूत, भविष्य व वर्तमान कालमें जिस विषयपर शब्दां हो उसको भी यह पेसाही है इस तरह साधु
नहीं फटे ॥ ९ ॥

जैसा फटे यह दिवाते हैं—भूत, भविष्य और वर्तमान इन तीनों कालमें जो पदार्थ शब्दरहित हो अर्थात्
जिस पदार्थमें किसी तरहकी शब्दा नहीं हैं उसको यह पेसाही है इसतरह कहे ॥ १० ॥

इसी प्रकार—जो भाषा निधुर-फटोर हो तथा बहुतसे जीवोंकी घातक हो वैसे भाषा जिससे पापका
बन्ध होता है वह सत्य भी हो तो नहीं बोलना चाहिये ॥ ११ ॥

उदाहरण देकर इस विषयको स्पष्ट करते हैं—इसी प्रकार कानेका काना अथवा नपुंसकको यह नपुंसक
है पेसा नहीं फटे, ऐसेही रोगीको भी रोगी व चोरको चोर पेसा नहीं कहना चाहिये ॥ १२ ॥

इस अर्थसे अथवा इसी तरहके दूसरे अन्य अर्थोंसे जिनसे कि दूसरा जीव पीडित होता है साधु-सम्बन्धी आचारके दोषोंको जाननेवाला बुद्धिमान् साधु उन अर्थोंको नहीं बोले ॥ १३ ॥

इसी प्रकार हे होल-भूर्ख या हालिक, गोल-गोला (जारज) ऐसा, अथवा श्वान या वसुल इस प्रकार और द्रमक-दरिद्र व दुर्भग-भाग्यहीन (ये होल गोल आदि देशभेदसे गालीकी तरह बोले जाते हैं); प्रज्ञावान् साधु इस तरहके वचन नहीं बोले ॥ १४ ॥

अब स्त्री पुरुषके विभागरूपसे अवाच्य (नहीं बोलनेयोग्य) वचनको कहते हैं—हे आर्यिके ! अथवा प्रार्यिके ! हे अम्ब !, और हे मौसी ! ऐसा भी, अथवा हे भूआ ! हे भानजी ! वा हे पुत्री ! और हे पौत्री ! ऐसा— ॥ १५ ॥

तथा—हे हले ! हले ! ऐसा, अथवा अन्ने ! व भट्टे ! ऐसा, स्वामिनि ! गोमिनि ! होले ! गोले ! वसुले ! इस प्रकारके शब्दोंसे स्त्रीको नहीं पुकारे ॥ १६ ॥

अब जिस तरह बोले उस बातको दिखाते हैं—किसी कारणसे स्त्रीसे बोलना हो तो उसका नाम लेकर या फिर वह स्त्री जिस गोत्रकी हो उस गोत्रसेही संबोधनकर बोले (पुकारे) यथायोग्य बाल वृद्ध आदि काल व सौराष्ट्र वगैरह देशका विचार कर साधु उसके अनुसारही प्रयोजनसे थोड़ा एकवार या खास कारणसे अधिक बोले ॥ १७ ॥

अब पुरुषके विषयमें कहते हैं—हे आर्यक अथवा प्रार्यक ! वप्प-बाप ! और पितृन्ध ! ऐसा, तथा मातुल ! भागिनेय-भानेज ! ऐसा, तथा पुत्र ! पौत्र ! इस प्रकारके भी सांसारिक सम्बन्धोंसे मुनि नहीं बोले ॥ १८ ॥

हे भो ! हल ! पेसा, या अन्न ! भट्ट ! स्वामिन् ! गोमिन् ! इस प्रकारके अथवा होल ! गोल ! वसुल ! इस तरहके अनुचित (नीचे) शब्दोंसे साधु किसी पुरुषको नहीं पुकारे-बोले ॥ १९ ॥

अब जिस प्रकार बोलें उस प्रकारको बताते हैं—जिससे बोलना है उसके नामको कहकर अथवा वह पुरुष जिस गोत्रका है उस गोत्रसे यथायोग्य देशकाल गुण आदिका विचार कर साधु प्रयोजनसे एकवार या अनेकवार बोले ॥ २० ॥

अब पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चकी अपेक्षा बोलनेकी विधि कहते हैं—गो आदि पञ्चेन्द्रिय प्राणिओंके विषयमें जयतक ऐसा निश्चय न हो जाय कि यह खालिङ्गी है या-पुलिङ्गी या नपुंसकलिङ्गी है, तबतक प्रयोजन होनेपर उसे जातियाचक शब्दसे जाने यह अमुक जातिका पशु है (जैसा कि—गोजातीय, अश्वजातीय इत्यादि) ऐसा बोले ॥ २१ ॥

इसी तरह मनुष्यको, पशुको, पक्षीको या पेट व भुजाओंसे ससरके चलनेवाले सरिसृप-जीवको लक्ष्यकर (देखकर), यह मनुष्य खूब, मोटा है अथवा यह पशु आदि बहुत मेढ़-चरबीवाला है तथा यह सर्प आदि मारनेलायक है, और सिझाने-पकानेलायक है, मुनि ऐसे सावध वचन नहीं बोले ॥ २२ ॥

अगर किसी प्रकरणके चलते बोलनाही पड़े तो इसतरह बोलें—पूर्वकथित स्थूल मनुष्य आदिको देखकर ऐसा कहें कि यह सप्रतरहसे घटाचटा, बलसम्पन्न और मांससे उपचित है, तथा संजात वा प्रीणित (प्रसन्न) एवं विशाल शरीरवाला है ऐसा बोले ॥ २३ ॥

फिर नहीं बोलनेयोग्य भाषाके प्रकारकोही कहते हैं—इसी प्रकार ये गाएँ बहनेयोग्य हैं, और ये कल्होड़ (जवान पल्लटे) दमन करनेयोग्य हैं, तथा ये बेल रथमें बहनेयोग्य हैं, इस तरहके वचनोंको बुद्धिमान् साधु नहीं बोले ॥ २४ ॥

अध० ७

॥ ६३ ॥

॥ ६३ ॥

किस प्रकारसे बोलना चाहिये ? इस बातको दिखाते हैं—दम्य-दमन करनेयोग्य बेलको जवान बेल है ऐसा कहे, और धनुको रस देनेवाली है ऐसा कहे, छोटे बेलको न्हस्व और बड़ेको महलक व रथमें वहनेयोग्यको संवहनीय-अच्छा वहनेयोग्य है ऐसा कहे ॥ २५ ॥

इसी प्रकार उद्यान, पर्वत और वनोंमें जाकर वहाँ बड़े वृक्षोंको देखकर बुद्धिमान् साधु इस आगे कहे प्रकारसे नहीं बोले ॥ २६ ॥

जैसे—ये वृक्ष प्रासाद व स्तम्भोंके योग्य हैं तथा तोरण और घरके व परिघा अर्गला व नौकाके, ऐसेही उदकद्रोणी अर्थात् प्राचीन जलयन्त्र-जिसको अरहट्ट कहते हैं—इन सबके लिये योग्य हैं ॥ २७ ॥

फिर—पाँठ-छोटा पाटा और चंगबेरा-काष्ठपात्रविशेष व हल अथवा मयिक याने जोते हुए क्षेत्रोंको सम-सपाट बनानेके लिये लम्बी लकड़ी, या यन्त्रयाष्टि अर्थात् घानी आदिके खंभे, अथवा नाभी-बेलगाड़ीके चक्रका मध्यभाग व गंडिका-सोनारोंके चाँदी आदि कूटनेके लिये आधारकाष्ठ (एरण) इत्यादि चीजें बनानेको ये वृक्ष योग्य हैं (ऐसा प्रज्ञावान् साधु नहीं बोले) ॥ २८ ॥

इसी प्रकार आसन्दक आदि आसन, पलङ्क आदि शय्या और रथ आदि यान इन वृक्षोंसे होंगे, अथवा उपाश्रयमें इनका कुछ उपयोग होगा इस तरहकी जीवोंके उपघात करनेवाली भाषाकी प्रज्ञावान् साधु नहीं बोले ॥ २९ ॥

अब प्रयोजन होनेपर बोलनेका तरीका बताते हैं—वैसेही पूर्वोक्त रीतिसे उद्यान, पर्वत और वनमें जाकर व बड़े वृक्षोंको देखकर प्रज्ञावान् साधु प्रयोजनसे इस प्रकार बोले ॥ ३० ॥

ये वृक्ष उत्तम जातिमान् हैं, दीर्घ-नालिकेर आदिकी तरह लम्बे व नन्दिवृक्ष आदिके समान वृत्त-गोल हैं, अधिक विस्तारवाले और छोटी बड़ी शाखावाले हैं, तथा शाखा प्रशाखा आदिसे दर्शनीय हैं ऐसा बोले ॥ ३१ ॥

इसी प्रकार आम्र आदि ये फल पके हुए हैं, या पकाकर खानेयोग्य हैं ऐसा नहीं बोले, तथा अधिक

पक जानेंसे फाटनेलायक हैं, इससे अधिक समयको ये नहीं सह सकते, अभीतक ये कोमल तथा दो भाग करने-योग्य हैं इस प्रकार साधु नहीं बोलें ॥ ३२ ॥

अगर साधुको रास्ता आदि दिखाना हो तो इस तरह बोलें—ये आम्र (आदि) वृक्ष फलोंके भारको उठानेमें असमर्थ हैं, तथा पके हुए फलोंकी अधिकतावाले हैं, तथा फल भी निष्पन्नपाक और अधिक हैं, पाक-सम्पन्न होनेसे इन फलोंका घट्टणकाल नजदीक है, अथवा इन फलोंमें अभी गुठलियाँ नहीं बंधी हैं, मुनि इस प्रकार निरवय भाषा बोलें ॥ ३३ ॥

इसी तरह ये शालि आदि औषधियों पक चुकी हैं, और चबले आदिकी ये फलियाँ नीली कान्तिवाली हैं तथा ये धान्य आदि फाटनेयोग्य वा भूतनेलायक हैं ऐसा, व ये अग्निमें सेककर छानी आदिके रूपसे (अधपके शालि आदिका संकट भुट्टेरूपमें) रानेयोग्य हैं ऐसा नहीं बोलें ॥ ३४ ॥

रास्ता दिखाना आदि कारण होनेपर जिस तरह बोलना चाहिये उसे कहते हैं—ये धान्य अङ्कुररूपसे ऊग चुके हैं, निष्पन्नमात्र व स्थिर हो चुके हैं, तथा बाधाओंसे भी निकल चुके हैं, और गर्भित यान अभी फंसेकाहर नहीं निकले या निकले हुए हैं तथा चावल आदि बीजरूप सारसे सम्पन्न हैं, इस तरह निरवय भाषा बोलें ॥ ३५ ॥

इसी तरह संगर्ही क्रिया देव पित्र आदिके लिये करनी चाहिये ऐसा नहीं बोलें अथवा चोरको भी समझकर यह वध्य है ऐसा नहीं बोलना चाहिये और यह नदी तेरनेलायक है या नहीं ? ऐसा किसीके पूछनेपर यह नहीं सुनर है या इतर-दु-रासे तेरनेयोग्य है ऐसा नहीं कहे ॥ ३६ ॥

१. जट्टरा जीवोंकी आयु राक्षित होती है, ऐसे आत्मनवान जीमनमाको संसदी कहते हैं ।

प्रयोजन होनेसे इस तरह बोले—सखड़ीको सकीर्ण सखड़ी व चोरको प्राणोंको बदलेम रखकर व्यग्रहार करनेवाला ऐसा कह आर नदिआक सम्बन्धम साधु साध्वीका प्रयोजन हानपर ऐसा कह कि इस नदीके तीर्थ बहुत समतलवाल है ॥ ३७ ॥

अध्य० ७

इसी तरह ये नदियाँ जलस भरी हुई हैं, या शरीरसे तेरकर पार करनेयोग्य है ऐसा भी नहीं कहे, (क्याकि भरी हुई समझकर लग भयक कारण धर्म श्रवण करनेसे निवृत्त हागे तथा तेरनेयोग्य सुनकर साधुके वचनसे अपना तेरना निर्विघ्न समझकर लोग तेरनेम प्रवृत्त हो जावगे) ऐसेही नौकासे पार करनेयोग्य है इस प्रकार वा तटपर बैठकर हाथस या प्राणिआस इनका पानी पीनेयाग्य हे ऐसा भी नहीं कहे ॥ ३८ ॥

किन्तु जिस प्रकार कह उम दिखात है—ये नदिया बहुत भरी हैं, तथा अगाध याने प्रायः गम्भीर है, दूसरी नदिआक पानीका पीउ बहानवाली याने प्रवञ वेगवाली है और बहुत विस्तृत जलराशिसे युक्त भी है, बुद्धिमान साधु प्रयोजनस इस प्रकार वाल ॥ ३९ ॥

वचनसम्बन्धी विधि व प्रतिपक्षक प्रकरणमही फिर कहते हैं—ऐसेही दूसरोके लिये किये हुए अथवा किय जात हुए या भविष्यम किय जानवाल सावध-पापयुक्त व्यापारको जानकर मुनि उसके सम्बन्धम सावध वचन नहीं घाल ॥ ४० ॥

इसी प्रकार किय हुए सभा आदि सावध कार्योंको अच्छा किया ऐसा नहीं कहे, सीझे हुएको यह अच्छा सीसा या पका हुआ है ऐसा नहीं कह, कट हुए वन आदिको यह अच्छी तरह कटा है, तथा हरण किये धन आदिक लिय यह कजुसाका धन अच्छा लिवा और यह शत्रु मरा अच्छा हुआ, धनाभिमानकी धन खूब खतम (समाप्त) किया, व यह लडकी अच्छी सुन्दर है इत्यादि सावध वचनोंकी साधु त्याग देवे अर्थात् नहीं घाल ॥ ४१ ॥

॥ ६६ ॥

पूर्वोक्त वचनही निरवयव हो तो बोले, जैसे—इस साधुने वेयावच्च (व्यावच्च-सेवा) अच्छी की व इस मुनिका ब्रह्मचर्य सुपक्व-अच्छा पका है, तथा सुच्छिन्न-इस साधुने स्नेहबन्धनको ठीक काट लिया, और शिष्य आदिके अज्ञानका इस मुनिने अच्छा हरण किया, यह साधु पण्डित-समाधि मरणसे अच्छा मरा, प्रमादरहित इस मुनिका कार्य अच्छा समाप्त (कर्मसमूह अच्छा नष्ट) हुआ तथा इस साधुकी क्रिया अच्छी है। मुनि इस प्रकारके निरवयव वचन बोले।

कहे गए या समझे गए निषेधोका अपवाद कहते हैं—यदि ग्लान आदिके लिये चाहता हो तो पकी हुई वस्तुको यह प्रयत्नसे पकाई गई है ऐसा कहे, तथा काटे हुए पदार्थको यह प्रयत्नसे काटा गया है ऐसा कहे, ऐसेही यह लड़की प्रयत्नसे सुन्दरी बनाई गई है यदि दीक्षा लेवे तो अच्छी तरह सम्हालनेयोग्य होगी अथवा कृतादि ये सभी व्यापार कर्मके हेतु हैं, इसी प्रकार किसीके शरीरपर गाढ़ प्रहार (घाव) को देखकर यह प्रहार सहज नहीं, गहरा है, ऐसा बोले, इससे अप्रीति आदि दोषोका वचाव होता है ॥ ४२ ॥

कहीं व्यवहार आदिमें किसीके पूछनेपर या बिनापूछे मुनि ऐसा नहीं बोले—इन चीजोंके बीचमें यह वस्तु सबसे अच्छी या बहुत ऊँचे कीमतकी है, अथवा यह चीज अनुपम है, इसके जैसी दूसरी कोई चीज हैही नहीं, यह चीज अच्छी नहीं होनेसे खरीदनेयोग्य नहीं है और अनन्तगुण व अनन्तपर्याय होनेसे यह अवक्तव्य है (बोलनेलायक नहीं है), अथवा यह वस्तु अप्रीतिकारी है ऐसा नहीं बोले ॥ ४३ ॥

किसीके कुछ सन्देश आदि कहनेपर—मैं इन सभी बातोंको उससे कहूँगा, और इसी प्रकार तुम भी यह सब कह देना ऐसा नहीं बोले, क्योंकि किसीकी कही हुई बात स्वर व्यञ्जन पद आदिसे ज्योंकी त्यों नहीं कही जासकती, इसलिये ऐसा कहना अनुचित है, जिसलिये ऐसी बात है इसलिये प्रज्ञावान् साधु सभी जगह सब बातोंको अच्छी तरह विचार कर ऐसा बोले कि जिससे कहीं भी मृपावाद आदि किसी तरहका सावध दोष नहीं लगे ॥ ४४ ॥

फिर कोई चीज खरीदकर किसीके दिखानेपर यह अच्छी खरीदी, इसीतरह बची हुई चीजको अच्छा किया यह वस्तु बेच दी ऐसा नहीं बोले, ऐसेही खरीदते हुए कोई पूछे कि यह चीज केसी है ? इसपर ऐसा कहना कि यह चीज तो खरीदने लायकही नहीं है अथवा यह चीज तो जरूर खरीदनेलायक है, इसीतरह यह गुड आदि किराना आगामी कालमें महंगा बिकेगा इसलिये इसको लो, ओर यह घी आदि सस्ता बिकेगा इसलिये इसको छोड़ दो या बेच दो, मुनि ऐसा पण्य वस्तुके बारेमें नहीं बोले ॥ ४५ ॥

चीज चाहे सस्ती हो या महंगी हो खरीदनेलायक हो अथवा बेचनेलायक हो, (खरीदनेमें या बेचनेमें भी) किरानेके लिये प्रयोजन उत्पन्न होनेपर अर्थात् गृहस्थके पूछनेपर मुनि निरवयव याने पापरहित इस प्रकारके वचन बोल कि हमारे जैसे तपस्विओंको इस विषयमें कहनेका अधिकारही नहीं है ॥ ४६ ॥

इसी तरह धीर प्रज्ञावान् साधु किसीभी असंयमी पुरुषको यहां बैठो, इधर आओ, या इस कार्यको करो, यहाँ सोओ, कुछ खाओ रहो, व गौत्रको जाओ इत्यादि, ऐसी सावध व आदेशकारी बात नहीं बोले ॥ ४७ ॥

ये बहुतसे आजीवक आदि असाधु लोकमें साधु कहे जाते हैं, मुनि वेसे असाधुको साधु ऐसा नहीं कहे, किन्तु साधुकोही साधु ऐसा कहे ॥ ४८ ॥

कैसेको साधु कहे यह दिखाते हैं—जो ज्ञान व दर्शनसे सम्पन्न ओर संयम व तपमें लगे हो, इस प्रकारके सद्गुणोंसे सुशोभित ऐसे संयमियोंकोही साधु कहे ॥ ४९ ॥

देवोंक या मनुष्योंके अथवा तिर्यश्चोंके विग्रह-लडाईमें फलानेकी विजय हो अथवा फलानेकी विजय नहीं हो ऐसा नहीं बोले ॥ ५० ॥

मलय आदि पर्वत और चारिख अथवा ठंढी व गर्मी वा क्षेम-कुशल सुभिक्ष आदि हैं, अथवा शिव-उपसर्गकी शान्ति ये सब कर्म हागे अथवा नहीं हागे ऐसा नहीं बोले ॥ ५१ ॥

इसीप्रकार मेघको लेकर या आकाशको अथवा मनुष्यको लेकर यह देव यह देव ऐसी भाषा नहीं बोल, किस तरह कहना यह दिखाते हैं—बादलको आकाशमें चढ़ा देखकर यह बादल बहुत चढ़ा हुआ या समुन्नत है अथवा यह मेघ बरस चुका है ऐसा बोलना ॥ ५२ ॥

अध्य० ७

फिर—आकाशको अन्तरिक्ष और सुरासे सेवित है ऐसा कहे, इसी तरह सम्पत्तिमान पुरुषको देखकर यह धनी है इस प्रकार बाले ॥ ५३ ॥

इसी तरह जो भाषा पापकी अनुमोदना करनेवाली है, जस कि—यह ग्राम अच्छा नष्ट किया गया आदि, और जो अवधारिणी-निश्चयकारिणी भाषा है जसे कि—यह बात तो ऐसीही है, अथवा जो दूसराको उपघात (कष्ट) करनेवाली है उस भाषाको क्रोधसे लोभसे, भयसे अथवा परिहाससे (या मानसे अथवा प्रेमसे) या हसता हुआ भी साधु नहीं बोल ॥ ५४ ॥

शुद्ध भाषा बोलनेसे ऐहिक फल कहते हैं—अपने वाक्याकी शुद्धिको अथवा सद्वाक्यशुद्धिको अच्छी तरह देखकर जो साधु सदा सदाप भाषाको त्याग देता है और शब्द व स्वरसे परिमित तथा देशकाल आदिसे बाधरहित ऐसी शुद्ध भाषाको बोलनेवाला वह साधु साधुओंके (सज्जनाके) बीच प्रशंसाको प्राप्त करता है ॥ ५५ ॥

उपसहार करते हुए कहते हैं—जो भाषाके दोषोंको और गुणोंको जानकर उसमें दुष्ट भाषाको छोड़ने वाला और पद्मजीवनिकायमें सम्यक् रखनेवाला है, तथा ध्यामय-साधुभावमें सदा ध्यान करनेवाला है वह बुद्ध-बोधवान् साधु हितकारी तथा मनोहर-सबके अनुकूल वचन बोले ॥ ५६ ॥

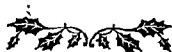
॥ ६९ ॥

फलनिर्वाणपूर्वक अध्ययनकी समाप्ति करते हैं—परीक्षा करके बोलनेवाला तथा जितेन्द्रिय और क्रोध मान माया लोभरूप चार कपायोंसे दूर रहनेवाला तथा द्रव्यभाव इन दाना प्रतिबन्धोंसे रहित ऐसा वह साधु

...
पूर्वजन्मके अथवा पूर्वकालके किये पापोंको हटाकर इसलोक तथा परलोक उभयकी आराधना करलेता
है ॥ ५७ ॥ ऐसा मैं कहता हूँ । इति ।

॥ ७० ॥

॥ वाक्यशुद्धि नामका सातवाँ अध्ययन समाप्त ॥



अध्य० ७

॥ ७० ॥

॥ आठवाँ अध्ययन ॥



॥ ७१ ॥

अध्य० ८

अब आचारप्रणिधि नामका आठवाँ अध्ययन शुरू होता है। इस अध्ययनका गत सातवें अध्ययनसे ऐसा सम्बन्ध है—सातवें अध्ययनमें ऐसा कह आए हैं कि मुनिओंको वचनके गुणदोषोंका जानकार होकर निर्दोष भाषा बोलना चाहिये याने उनको भाषाशुद्धि करना चाहिये। वैसी निरवयव भाषा आचारमें लगे रहनेवालोंकीही हो सकती है, इसलिये साधुको आचारमें यत्नवान् होना चाहिये। उस आचारका इस अध्ययनमें वर्णन किया गया है, इसी सम्बन्धसे यह आचारप्रणिधि नामका आठवाँ अध्ययन आता है। उसका आदिसूत्र यह है—

आचारप्रणिधि-साधुके आचारमें शरीर आदि योगोंकी प्रवृत्तिको पाकर साधुओंको जिस प्रकारसे कर्तव्य करना चाहिये उस प्रकारको आपलोगोंके लिये कहूँगा। हे मेरे शिष्यों! आपलोग मेरेसे आनुपूर्वीसे-कम-पार सुनो ॥ १ ॥

उस प्रकारकी कहते हैं—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और बीजसहित वनस्पति, इस्तरह ये पाँच एकेन्द्रिय और द्वीन्द्रिय आदि प्रसप्राणी ये सब जीव हैं ऐसा महापि महावीरने कहा है ॥ २ ॥

उन पृथ्वीकायिक आदि जीवोंके लिये साधुको सदा मन वचन व शरीर इन तीनोंके योगसे अहिंसक व्यापारपाला होना चाहिये, क्योंकि इस्तरह अहिंसामें वर्तमान साधुही संयमी होता है ॥ ३ ॥

सुखमाधियाला संयमी साधु तीन करण व तीन योगसे शुद्ध पृथिवीको, भित्ति अर्थात् दियाल अथवा नदी आदिके तटको, तथा शिला और लट्ठ-ईंटोंके टुकड़ोंको न स्वयं तोड़े और नहीं घिसे ॥ ४ ॥

शुद्ध पृथिवी अर्थात् सजीव पृथिवीके ऊपर साधु नहीं बैठे और सचित्त भूलिसे भरे हुए आसनपर भी नहीं बैठे। अचित्त भूमिपर अगर बैठना हो तो भूमि और आसनको यतनासे अच्छी तरह पूंजकर तथा भूमिके स्वामीसे आज्ञा लेकर फिर बैठे ॥ ५ ॥

॥ ७१ ॥

पृथिवीकायिक जीवोंकी यतना कह चुके, अब अप्कायिक जीवोंकी यतना कहते हैं—संयमी साधु सचित्त जलको काममें नहीं लेवे, तथा बारिसमें गिरे हुए ओलेको, बारिसके पानीको तथा बर्फको व इस प्रकारके ओस आदि अन्य सचित्त पानीको भी सेवन नहीं करे, किन्तु जो तपाकर प्रासुक हुआ है ऐसे गरम पानीको व सीवीर आदि अचित्त धोवनपानीको ग्रहण करे ॥ ६ ॥

अध्य० ८

नदी पार किया हुआ अथवा भिक्षामें जाकर वरसातमें भीजा हुआ साधु पानीसे गीले अपने शरीरको चस्म आदिसं नहीं पोंडे, अथवा हाथसे स्पर्श भी नहीं करे; और तो क्या? उसतरह भीजे हुए शरीर आदिको धेसकर साधु तनिक संघट्टन भी नहीं करे ॥ ७ ॥

अप्रकायकी विधि कह चुके, अब अग्निकायके विधिको कहते हैं—ज्वालारहित अङ्गारको अथवा लोहके गोलेमें धधकती हुई निर्धूम अग्निको, अर्चि-जडसे टूटी हुई ज्वालाको, अथवा अलात-जलते उल्मुकोंको याने काष्ठके अग्रभागपर लगी हुई अग्निको साधु उत्तेजन करे नहीं, संघट्टन करे नहीं, सुलगावे नहीं तथा उसको युष्मावे नहीं ॥ ८ ॥

अग्निकायाविधि कह चुके, अब वायुकायिक विधिको कहते हैं—तालके पंखेसे अथवा कमल आदिके पत्तेसे या वृक्षकी शाखासे अथवा किसी साधारण व्यजन (पंखे) से अपने शरीरको हवा करे नहीं अथवा किसी बाहरी पुद्गल-गरम पानी, दूध या आहारको भी हवा करे नहीं ॥ ९ ॥

वायुकायकी विधि कहकर अब वनस्पतिकायकी विधिको कहते हैं—तृणोंको अथवा कदम्ब आदि वृक्षोंको नहीं काटे, अथवा किसी वृक्षके फल, मूल व पत्ते आदिको नहीं तोडे (काटे), ऐसेही जो शस्त्र आदिसे निर्जीव नहीं बने हैं ऐसे अनेक प्रकारके वीजोंको साधु मनसे भी नहीं चाहें ॥ १० ॥

॥ ७२ ॥

फिर—गहन अर्थात् लताकुओंमें नहीं ठहरे, तथा फैलाये गए धान्य आदिके बीजांपर और हरित-तृणा-
द्विपर नहीं बैठे, ऐसेही अनन्तकाय सचित्त जलपर अथवा उत्तिङ्गपनकपर भी साधु नहीं बैठे ॥ ११ ॥

वनस्पतिकायविधि कहकर अब व्रसकायविधिकों कहते हैं—सब जीवोंमें उपरत-हिंसासे अलग रहने-
वाला साधु व्रसप्राणी-द्वीन्द्रियादि जीवोंकी वचनसे अथवा शरीरसे तथा इनके बीचमें रहनेवाला मनसे भी हिंसा,
नहीं करे, किन्तु नरक आदि चार गतिओंमें भगनेवाले अनेक प्रकारके जगतको कर्मोंसे परतन्त्र बना हुआ देखे ।
इस तरह देखना वैराग्यका कारण होता है ॥ १२ ॥

अब सूक्ष्मजीवसम्बन्धी विधिकों कहते हैं—जिनके स्वरूप आगे कहे जाचेंगे ऐसे आठ सूक्ष्मोंको अच्छी
तरह देखकर मुनि उपयोगसे ठहरे, बैठे या सोवे, जिन आठ सूक्ष्मोंको ज्ञपरिज्ञा व प्रत्याख्यानपरिज्ञासे जानकर
साधु सर्वजीवोंमें दयाका अधिकारी होता है ॥ १३ ॥

जिन्हें कि दयाका अधिकारी बननेवाला साधु पूछे, वे आठ सूक्ष्म कौन कौन हैं ? वे आठ वक्ष्यमाण
सूक्ष्म वस्तुएँ ये हैं जिनको विद्वान् साधु कहे ॥ १४ ॥

इन आठ सूक्ष्मोंको स्पष्टरूपसे कहते हैं—१ स्नेहसूक्ष्म जैसे—अवश्याय, हिम, महिका, करक, हरतनुरूप ये
सब आकाशसे गिरे हुए पानीके भेद हैं (व्याख्या पहले कर आये हैं वहाँ देखें), २ पुष्पसूक्ष्म जैसे—वट, उदुम्बर
आदिके सूक्ष्म फूल, ३ प्राणिसूक्ष्म जैसे—कुन्धु आदि जो कि चलनेपरही जाने जाते हैं, ४ उत्तिङ्गसूक्ष्म जैसे—
कोटिकानगर आदि, ५ पनकसूक्ष्म जैसे—काई जी बरसातके समयमें जमीन व लकड़ीपर लगी हुए पञ्चवर्णकी
दिखते हैं, ६ बीजसूक्ष्म जैसे—शालि आदि धान्योंके मुखपर कणरूप होते हैं, जिसको लोक तुपमुख कहते हैं,

१. उत्तिङ्ग अर्थात् सपंचत्र आदि, तथा पनक याने पञ्चवर्णकी काई ।

अध्य० ८

॥ ७३ ॥

७ हरितसूक्ष्म जो कि भूमिसे निकलनेके समय भूमिके रंगमेही दिखते हैं, और ८ अण्डसूक्ष्म जैसे—कीड़ी, मक्खी आदि जीवोंके बारीक अण्ड जो कि कठिनाईसे देखे जाते हैं, यह आठवाँ सूक्ष्म है ॥ १५ ॥

इसतरह इन आठ सूक्ष्मोंको सब तरहसे जानकर संयमी साधु निद्रा आदि प्रमादोंसे दूर होकर व सब इन्द्रियोंके विषयमें रागद्वेष नृर्द्धी करनेरूप समाधियुक्त होकर उन जीवोंके संरक्षणमें मन, वचन व शरीरसे यत्न करे ॥ १६ ॥

साधु समय आनेपर शक्तिपूर्वक विधिसे पात्र व कम्बलको प्रतिलेखन करे-देखे, ऐसेही शय्याको अथवा उच्चारभूमिको, संस्तारकको व आसनको भी साधु सदा अच्छी तरहसे देखे ॥ १७ ॥

ऐसेही उच्चार-विष्टा, प्रक्षवण-मूत्र, कफ, नाकका मल और जल-शरीरका मल इन सबोंको प्रासुक भूमि धुँवकर संयमी साधु परिष्ठापन करे अर्थात् त्यागे ॥ १८ ॥

अब गोचरीमें जानेपर ठहरने आदिकी विधि कहते हैं—

साधु पानीके लिये अथवा आहारके लिये गृहस्थोंके घरमें प्रवेश कर यतनासे खड़ा रहे और आवश्यक-तानुसार परिमित बोले, तथा किसीभी तरहके सुन्दर रूपांपर मनको नहीं जाने देवे ॥ १९ ॥

गोचरी जाते हुए मार्गमें किसीके कुछ पूछनेपर साधु इसप्रकार कहे—भिक्षु-साधु कानोंसे बहुत सुनता है और आँखोंसे बहुत देखता है, लेकिन देखी या सुनी हुई सब बातें कहना उसको योग्य नहीं है ॥ २० ॥

दूसरोंके गुप्तसे सुना हुआ या अपनी आँखसे देखा हुआ जो वचन दूसरेके लिये उपधातक हो वैसा वचन साधु नहीं बोले और किसीभी उपायसे गृहस्थके साथ सम्बन्ध या गृहस्थके कामका आचरण नहीं करे ॥ २१ ॥

अध्य० ८

॥ ७४ ॥

रूप रस आदि सब गुणोंसे युक्त उत्तम आहार अथवा इससे उलट रसशून्य कदशन इन दोनोंमें पहले अच्छेको भद्रक और दूसरे बुरेको पापक ऐसा नहीं कहे; अगर दूसरा कोई पूछे भी कि आज आहार कैसा मिला। फिरभी इस तरह पूछा हुआ या बिना पूछा हुआ वह साधु अच्छा या बुरा लाभ हुआ या अलाभ ऐसा नहीं कहे ॥ २२ ॥

उत्तम भोजनमें गृद्ध होकर साधु कहीं एक जगह लोभी नहीं होवे याने किसी एक ईश्वरादि कुलमेंही भिक्षाफा नहीं जावे, किन्तु किसी तरह जल्पना नहीं करता हुआ उच्छ-ज्ञात अज्ञात ऐसे अनेक घरोंमें सामूहिक भिक्षाफा जावे। फीत, औद्दिशिक, आहुत या अप्राप्तुक अर्थात् सचित्त आहारको किसी तरह पाकर प्रदण भी नहीं करे ॥ २३ ॥

मुधाजीवी व असम्यद्ध-किसी वस्तुमें नहीं बंधनेवाला संयमी साधु अणुमात्र भी संनिधि अर्थात् संचय नहीं करे और घर अचर-स्थायर जंगमरूप जगत्की रक्षामें लगा रहे ॥ २४ ॥

और रुक्षभोजी बने, सदा सन्तुष्ट रहे, इच्छाको कम करे, और थोड़ासा आहार करे, वैसेही क्रोध आदिके फल प्रदानेवाले जिनशासनको सुनकर क्रोध भी नहीं करे ॥ २५ ॥

फानको सुख देनेवाले मधुर शब्दोंमें प्रेम नहीं करे, तथा वारुण व कर्कश स्पर्शको पाकर शरीरसे उसको सहन करे ॥ २६ ॥

साधु भूखको, प्यासको, विषम व कर्कश शय्याको, शीत व उष्णको और मोहनीय कर्मके उदयसे होने-वाली अरति और भयको मनसे दूरे बने बिनाही सहन करे और ऐसा सोचे कि देहको दुःख देना बड़े लाभका कारण है ॥ २७ ॥

सूर्यके अस्त हो जानेपर और प्रभातमें पीछा उदय होनेके पहले साधु सब प्रकारके आहार आदि पदार्थोंके भोगकी मनसे भी इच्छा नहीं करे ॥ २८ ॥

साधु आहारके नहीं मिलनेपर भी अतिन्तिन-यद्वातद्वा नहीं बोलनेवाला व चपलतारहित होवे, वैसेही मितभाषी व अल्पाहारी-मर्यादित आहार करनेवाला होनेसे पेटके विषयमें दान्त-संयमशील होवे, और थोड़े, आहारको पाकर क्रोध या गृहस्थकी निन्दा नहीं करे ॥ २९ ॥

साधु दूसरेकी निन्दा नहीं करे और न अपनी प्रशंसा करे, तथा मैं पण्डित व लब्धिसम्पन्न हूँ इसप्रकार श्रुतज्ञानसे या अधिक लाभसे गर्व भी नहीं करे। इसी तरह ऊँची जाति, बड़ी तपस्या तथा तीव्र बुद्धि आदिको पाकर उनसे भी अभिमान नहीं करे ॥ ३० ॥

यह साधु आमोगसे अर्थात् जानता हुआ अथवा नहीं जानता हुआ, अपनेसे रागद्वेषक वशीभूत हो जानेस अगर कभी मूलगुण व उत्तरगुणकी विराधना हो जाय तो, ऐसे अधार्मिकपद-अकर्तव्यको करके शीघ्रही आत्माको संवरण करे अर्थात् रोकले ॥ ३१ ॥

जो साधु निर्मलहृदय व सदा प्रकटभाववाला है, तथा कहीं भी प्रतिबन्ध नहीं रखनेवाला जितेन्द्रिय है, वह सावधयोगरूप अनाचारको करके गुरुके समीपमें आलोचना करता हुआ उस अनाचारमेंसे न तो कुछ छिपावे और न सर्वथा अपलापही करे ॥ ३२ ॥

जबनीत साधु महात्मा आचार्यके वचनको व्यर्थ न होने देवे, किन्तु उस आज्ञाको 'तद्वृत्ति' आदि वचनसे ग्रहण कर कर्म धाने क्रियासे पूर्ण करे ॥ ३३ ॥

जीवनको अध्रुव-नश्वर जानकर तथा सम्यग्दर्शन आदि सिद्धिमार्गको नित्य हितकर जानकर और अपनी आयुको परिमित-अल्प समझकर मुनि कर्मबन्धके हेतुभूत विषय-भोगोंसे निवृत्त होवे याने अलग होवे ॥ ३४ ॥

अध्य० ८

॥ ७६ ॥

मानसिक बल और शरीरकी दृढताका देखकर तथा अपनी धृद्धा व नीरोगताको और क्षेत्र काल आदिकों जानकर साधु आत्माका संयममार्गमें लगा देवे ॥ ३५ ॥ (वृत्तिकारने इसकी व्याख्या नहीं की है)

उपदेशके अधिकारमेंही विदोष कहते हैं—

जबतक जरा-बृद्धावस्था नहीं सताती और सामर्थ्यको क्षीण करनेवाली व्याधि जबतक नहीं बढ़ती, तथा मियाम सहायक कर्ण आदि इन्द्रियों जबतक क्षीण नहीं होती हैं तबतक भव्य आत्मा श्रुतचारित्ररूप धर्मका आराधन करे ॥ ३६ ॥

धर्म करनेका उपाय बताते हैं—क्रोध और मान, माया और लोभ, ये सब पापके बढ़ानेवाले हैं, इसलिये प्रत्येकको पापवर्द्धक जानकर अपना हित चाहता हुआ मुनि इन दोंपोंको छोड़ देवे ॥ ३७ ॥

इनके नहीं छोड़नेपर इस लोकमेंही अपकार दिताते हैं, जैसे—क्रोध प्रेमका नाश करता है, मान विनयका नाश करनेवाला है, माया-कपट मित्रोंको नष्ट करदेती है और लोभ सभीका नाश करनेवाला है ॥ ३८ ॥

इन पापोंका नष्ट करनेका उपाय कहते हैं—उपशम-शान्तिसे क्रोधको नष्ट करे, इसी तरह मानको मांझ-कोमलभावसे जीते, मायाको झुलता-सरलपनसे तथा लोभको सन्तोषसे जीते अर्थात् निःस्पृह बनकर यश करे ॥ ३९ ॥

इन प्रबंध आदिसेही परलोकका अपाय बताते हैं, जैसे कि—क्रोध और मान अगर अनिगृहीत याने काबू नहीं किए हुए हैं, और माया तथा लोभ यदि बढ़ते हुए हैं, तो ये क्रोध आदि चार सम्पूर्ण काल या क्लेशकारी कषाय अशुभभावरूप जलसे पुनर्जन्मरूप वृक्षके मूलोंका सिञ्चन करते हैं ॥ ४० ॥

मुनि इस स्थितिमें कषायाका निपट करनेके लिये ऐसा करे—रत्नाधिकोंमें अर्थात् अपनेसे पूर्व दीक्षा दिये हुए साधुओंमें विनयका प्रयोग करे, और सदा धृवशीलता अर्थात् अठारह हजार शीलाङ्गोंकी रक्षाको

अपनी शक्तिभर नहीं छोटे (या कम नहीं करे), तथा कछुवेके समान अपने अङ्गोपाङ्गोंसे रक्षित रहे और तपस्या व संयममें पराक्रम दिखावे ॥ ४१ ॥ फिर—

आत्मारथी मुनि निद्राको बहुमान नहीं देवे याने अधिक नहीं सोवे, तथा अधिक हास्य नहीं करे व परस्पर आलाप-संलाप-रूप एकान्त-कथा करनेमें भी नहीं रमे, किन्तु सदा स्वाध्यायमें लगा रहे ॥ ४२ ॥

योग अर्थात् मन, वचन व शरीर इनके व्यापारको सदा आलस्यरहित होकर श्रमणधर्ममें लगानेवाला साधु ज्ञानादिरूप सर्वश्रेष्ठ अर्थको पाता है ॥ ४३ ॥

इसलोक और परलोकमें हितकारी ऐसे जिस अर्थसे अर्थात् ज्ञानादि गुणसे जीव सुगतिको याने परम्परा-सिद्धिगतिको जाता है, (उस ज्ञानके विषयमें) बहुश्रुतकी अर्थात् आगमवृद्धकी सेवा करे, सेवा करता हुआ साधु उनसे अर्थका निश्चय पूछे ॥ ४४ ॥

गुरुकी सेवामें बैठनेकी विधि कहते हैं—साधु हाथ पैर और शरीरको संयत कर व जितेन्द्रिय होकर नम्रतासे उपयोगपूर्वक गुरुके सन्निधिमें बैठे ॥ ४५ ॥

गुरुके आगे पीछे या बगलमें, अथवा मार्गमें अविनय व वन्दना करनेमें बाधा आदि दोष हो उसतरह नहीं बैठे, तथा गुरुके समीपमें पैरपर पैर रख अर्थात् पलथी मारकर नहीं बैठे ॥ ४६ ॥

शरीरसंयमका वर्णन करके अब वचनसंयमको कहते हैं—विना पूछे (निष्कारण) साधु नहीं बोले, कोई बोलता हो उसके बीचमें भी नहीं बोले, पृष्ठमांस-किसीके परोक्षमें उसके दोषोंका कथन नहीं करे और कपटमय झूठ वचन नहीं बोले ॥ ४७ ॥

जिस वचनसे किसीको अप्रीति हो अथवा सुननेवाला शीघ्र क्रोध करने लग जाय ऐसी भाषा-जो कि उभयलोकमें विरोधी है-किसीभी अवस्थामें साधु नहीं बोले ॥ ४८ ॥

घोलनेकी पद्धति घटाते हैं—जो भाषा देते गए (खुले) अर्थवाली हो और सो भी परिमित, सन्देशरहित, स्वर आवृत्ति पूर्ण, स्पष्ट व परिचित हो, या व्यर्थ वकवादरूप न हो, और उद्देश्य पैदा करनेवाली न हो, ऐसी भाषाको धितन्ययुक्त साधु घोलें ॥ ४९ ॥

आचारपञ्चसिंघर-आचाराद्वा आदि आचार व भगवती आदि प्रज्ञाप्ति-सूत्रोंको धारण करनेवाला और जो दृष्टिवादको पढ़ा हो ऐसे विशिष्ट पुरुषको भी वाणीमें गलती या भूल हो जाय तो उसे जानकर साधु उसकी हंसी नहीं करे ॥ ५० ॥

गृहस्थके पृष्ठनेपर अभिनी आदि नक्षत्र, शुभ अशुभ स्वप्नके फल, वशीकरण आदि योग, शकुन आदि निमित्त व विचित्र साधु आदिके मन्त्र और औपधियाँ इन सबको कहना एकेन्द्रिय आदि जीवोंकी विराधनाका स्थान है, इसलिये साधु असंयमिओंसे ये सब बातें नहीं कहे ॥ ५१ ॥

साधुओंके ठहरनेयोग्य स्थानको कहते हैं—मुनि दूसरोंके लिये बनाये हुए, मलमूत्रनिवारणकी जगह-पाले और स्त्री-पशु-ह्रस्वसे रहित ऐसे स्थान-गृहको सेवन करे, ऐसेही अन्यके लिये किये गये शयन व आसनको काममें लें ॥ ५२ ॥

शय्या-वसतिस्थान जनशून्य हो, मुनि वहाँपर स्त्रीसम्बन्धी कथा नहीं कहे तथा गृहस्थोंके साथ विशेष परिचय नहीं करे, साधुओंके साथ परिचय करे ॥ ५३ ॥

स्त्रीसंसर्ग नहीं करनेमें कारण दिखाते हैं—जैसे कुम्कुट-मुरगेके बच्चोंको सदा बिल्लीसे भय बना रहता है, ऐसेही मल्लिकार्जुनकी स्त्रीके शरीरसे भय रहता है ॥ ५४ ॥

“ नीतिकार स्त्रीशरीरकी निन्दामें बहुत आगे बढ़े हुए हैं, जैसे—‘ नारी प्रत्यक्ष राक्षसी ’ अर्थात् स्त्रियाँ

साक्षात् राक्षसी हैं, इत्यादि। इन वचनोंमें कदाचित् सच्चार्द होनेपर भी कहता है, इस कहताको छोड़कर आत आगमको शोभे ऐसा वचन ऊपर कहा गया है।”

॥ ८० ॥

स्त्रीके विषयमें विशेष निषेध करते हैं—भित्ति (दिवाल) आदिके ऊपर चितारी हुई स्त्रीको भी साधु नहीं देखे, ऐसेही शूद्रारसे सुशोभित स्त्रीको नहीं देखे, यदि अचानक दिख पड़े तो जैसे सूर्यकी ओर देखकर नजर शीघ्र हटजाती है वैसेही स्त्रीके अङ्गपरसे भी दृष्टिको जल्दी लौटा ले ॥ ५५ ॥

अध्य० ८

जिसके हाथपैर कटे हुए हैं और जो कान व नाकसे रहित तथा सो वर्षके उमरवाली है, ऐसी अर्द्धोंसे विकल और बूढ़ी स्त्रीको भी ब्रह्मचारी नहीं देखे, फिर तरुणीको देखनेकी तो बातही क्या ? ॥ ५६ ॥

शरीर आदिकी विभूषा-सजावट, स्त्रियोंका अधिक परिचय और सरस व उत्तम भोजन ये तीनों बातें आत्मचिन्तन करनेवाले मनुष्योंके लिये तालपुट-जहाल विषके समान हैं ॥ ५७ ॥

स्त्रियोंके अङ्ग-प्रत्यङ्गोंकी रचना, उनके मधुर-वचन एवं कटाक्ष-तिरछी नजरसे देखना इन सबको ब्रह्मचारी पुरुष तल्लीन होकर नहीं देखे, क्योंकि ये सब कामको और अनुरागको बढ़ानेवाले हैं ॥ ५८ ॥

साधु मनोहर ऐसे शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श इन पांच विषयोंमें प्रेम स्थापन नहीं करे, किन्तु उन विषयोंकी अनित्यता और पुद्गलोंके परिणामोंको समझकर (आपातमात्र मधुर और परिणाममें सन्ताप देनेवाले) इन विषयोंको त्याग देवे ॥ ५९ ॥

इसी बातको स्पष्ट करते हैं—शब्द आदि विषयोंके मध्यमें रहनेवाले उन पुद्गलोंके अवस्थान्तरप्राप्तिरूप परिणामको यथातथा—जैसा का वैसा याने ये पुद्गल आदि अनेक रूपसे बदलते रहते हैं इसतरह जानकर मुनि तृष्णा-इच्छारहित व क्रोध आदि कषायोंके उपशमसे शान्तिमय आत्मा होकर विचरे ॥ ६० ॥

॥ ८० ॥

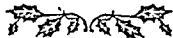
मुनि जिस श्रद्धाके कारण अविरति-प्रभावरूप कीचड़से बाहर निकला है और उत्तम पर्यायस्थान अर्थात् साधुपनका पाया है, उसी श्रद्धाका तथा आचार्योंके समस्त दया, वाक्षिण्य आदि गुणोंको पालन करे ॥ ६१ ॥

आचारप्रणिधिका फल कहत है—जो बाह्य व आभ्यन्तर तपको, धृष्टी आदि जीवोंके आश्रित संयम योगका तथा आगमक पठनपाठनरूप स्वाध्यायका करनेवाला है, वह साधु समस्त अस्त्रशस्त्रोंसे सुसज्जित व चतुर्द्विर्णा सनासे युक्त घूर पुरुषकी तरह कपाय व परीपटोंसे घिरा हुआ भी अपनी रक्षाम तथा पर-कपाय आदि शत्रुओंके निवारण करनेमें पर्याप्त-समर्थ होता है ॥ ६२ ॥

इसका स्पष्ट फल है—स्वाध्याय और उत्तम ध्यानमें तल्लीन रहनेवाला तथा स्वपरके रक्षक, पापभावनासे रहित और तपस्यामें तत्पर रहनेवाला ऐसे साधुका जन्मान्तरका किया हुआ पापमल धुलकर नष्ट हो जाता है, जैसे कि आगम फूकनसे आगसे तपा हुआ चांदीका मल (लार आदिका ससर्ग) नष्ट हो जाता है ॥ ६३ ॥

इससे—काल बाबलोंके दृष्ट जानेसे जैसे चन्द्रमा चमक ऊठता है, वैसे वह परीपट आदि दुष्टोंको सदनवाला, जितन्द्रिय और क्षुब्धज्ञानसे युक्त तथा ममत्त्वसे रहित व अकिञ्चन साधु कर्मरूप बाबलोंके दृष्ट जानेपर फयलज्ञानरूप प्रकाशसे युक्त होकर शाश्वत होता है ॥ ६४ ॥ ऐसा मैं करता हूँ । इति ।

॥ आचारप्रणिधि नामका आठवा अध्ययन समाप्त ॥



॥ नववाँ अध्ययन ॥



उद्देश पहला ।



अध्य० ९(१)

इस अध्ययनका पूर्व अध्ययनके साथ ऐसा सम्बन्ध है। आठवें अध्ययनमें कह आए हैं कि निरवद्य-वचन आचारमें तल्लीन रहनेवाले मुनिओंके होते हैं, इसलिए साधुको आचारमें यत्न करना चाहिये; मुनि आचारवान् यथोचित विनयसे सम्पन्न होनेवालाही हो सकता है, इसलिये नवम अध्ययनमें विनयको कहते हैं। कहा भी है—

“आयारपणिहाणंमि, जे सम्मं वट्ठइ घुहे।

णाणादीण विणीए जे, मोक्खट्ठा निविगिच्छए” ॥ १ ॥

अर्थात्-आचारके विधानमें वही विद्वान् मुनि अच्छी तरह संलग्न रह सकता है, जो कि ज्ञानादि गुणोंमें विनयवान् है और मोक्ष पानेमें जिसे किसी प्रकारका सन्देह नहीं है। उक्त सम्बन्धसे आये हुए इस अध्ययनका यह आदिसूत्र है—

विनय प्रधानतासे पांच प्रकारका है, जैसे कि—लोकाराधनाके लिये लोकोपचार-विनय १, धनको पानेके लिये अर्थ-विनय २, काम-सुखनिमित्त काम-विनय ३, भय हटानेके लिये भय-विनय ४ और मोक्ष पानेके लिये मोक्ष-विनय ॥ ५ ॥

लोकोपचार-विनयका स्वरूप इसप्रकार है—कोई अपने घरमें आवे उसके लिये ऊठकर खड़ा होना,

अञ्जलि जोड़ना, आसन देना, दूरका अतिथि हो तो भोजन कराना, जाते वक्त कुछ दूर साथ जाना, मधुर बोलना आदि । ऐसेही द्रव्य-विनय आदि समझना ।

मोक्ष-विनयके पांच भेद हैं, जैसे कि—दर्शनविनय १, ज्ञानविनय २, चारित्र्यविनय ३, तपोविनय ४, और औपचारिक-विनय ५ । दर्शनसे अर्थात् जिनप्रणीत आगमके ऊपर अमिट श्रद्धासे होनेवाला दर्शनविनय कहा जाता है । इस विनयके ५२ भेद हैं, जो विस्तारभयसे यहाँ नहीं लिये हैं ।

इसी तरह द्रव्य-भाव-भेदसे समाधि दो प्रकारकी है; दर्शन, ज्ञान, तप व चारित्र्यका भावमेंही अन्तर्भाव हो जाता है ।

विनय-समाधि अध्ययनकी यह पहली गाथा है—

स्तम्भ-जाति आदिके अभिमानसे, क्रोधसे, माया-कपटसे, तथा निद्रा आदि प्रमादसे युक्त साधु गुरुके समीपमें आसिचना-महणारूप विनयको नहीं सीख सकता है, क्योंकि ये क्रोध आदि दुर्गुण उस साधुके लिये अमृतिभाव-अधोगतिका कारण है । वांसका फल जैसे उसके नाशका कारण बनता है, वैसे ये दुर्गुण मुनिके गुणरूप भावप्राणके नाशके लिये होते हैं ॥ १ ॥

जो कोई द्रव्यलिङ्गी साधु गुरुको मन्दबुद्धि ऐसा जानकर अर्थात् शास्त्रमें कही गई युक्तिओंसे यह गुरु शास्त्रालोचनामें समर्थ नहीं है ऐसा जानकर, तथा कारणान्तरसे यह डहर-बच्चा और अल्पश्रुत-थोड़ा पढ़ा हुआ है ऐसा समझकर गुरुकी निन्दा करते हैं अर्थात् स्थापित मन्दबुद्धिवाले आचार्यको 'तुम मन्दबुद्धि हा' ऐसा कहते हैं, वे साधु मिथ्यात्वको प्राप्त करते हुए शास्त्राज्ञाके विरुद्ध गुरुजनोंकी आज्ञातना करते हैं ॥ २ ॥

कमोंकी विचित्रतासे कितनेक वयोवृद्ध भी स्वभावसे मन्दबुद्धि बने रहते हैं और कितनेक डहर-अल्प-वयवाले भी अमन्द-तीव्र बुद्धिवाले तथा श्रुतसे युक्त होते हैं इसलिये जो आचारवान् हैं और जिनकी आत्मा दया

शिक्षिण्यादि गुणोंमें स्थिर है, उनका अनादर नहीं करना चाहिये, क्योंकि हीलना पाये हुए जो साधु हैं वे, लकड़ी आदि स्थिर इन्धनको जैसे आगि भस्म करदेती है वैसे, उस आशातना करनेवालेके गुणोंको भस्म करदेते हैं ॥३॥

अध्य० ९(१)

अब प्रधानतासे अल्पवयवालोंकी निन्दाका निषेध करते हैं—जो कोई अज्ञानी जीव अल्पवयवाला-बच्चा जानकर सर्पको पीटा पहुँचाता है अर्थात् दुःख देता है, तो दुःखी किया गया वह सर्प उस दुःख देनेवालेके नाशका कारण बनजाता है, इसी तरह कारणवश आचार्यपदपर विराजमान अल्पवयवाले आचार्यकी निन्दा करनेवाला मन्दबुद्धि जीव भी द्वीन्द्रिय आदि जातिके मार्गको प्राप्त करता है अर्थात् संसारमें परिभ्रमण करता है ॥ ४ ॥

दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकमें भेद बताते हैं—अतिकुद्ध हुआ भी सर्प किसीके जीवन-नाशसे बढकर और क्या कर सकता है ? किन्तु हीलनासे अप्रसन्न बने हुए आचार्यश्री मिथ्यात्वरूप अवोधिके कारण बनते हैं और इसी कारणसे गुरुओंकी आशातनासे मोक्ष नहीं मिलता है ॥ ५ ॥

जो कोई जलती हुई आगपर चलता है अथवा सर्पको भी निश्चयसे कोपयुक्त बनाता है अथवा जो जीव-नकी इच्छा रखता हुआ विषको खाता है, वही उपमा-समानता गुरुजनोंकी आशातनाके विषयमें है ॥ ६ ॥

कदाचित् मन्त्र आदिके प्रतिबन्धसे वह आग नहीं जलावे, कदाचित् खिसलाया हुआ सर्प भी नहीं काटे, या खाया गया जहाल विष नहीं मारे, ये सब हो सकते हैं, किन्तु गुरुजनोंकी हीलनारूप आशातनासे मोक्ष याने कर्मबन्धनसे छूटकारा नहीं हो सकता है ॥ ७ ॥

जो कोई मस्तकसे पहाडको फोडना चाहे या सोये हुए सिंहको जगावे अथवा जो शस्त्रकी तीखी धारके कपर मुष्टि-प्रहार करे, वही उपमा गुरुजनोंकी आशातनाके विषयमें है ॥ ८ ॥

॥८४॥

कदाचित् मस्तकके प्रहारसे पहाड भी फूट जाय, कदाचित् खिसलाया हुआ सिंह भी नहीं खावे, वा

कदाचित् शस्त्रकी तीखी धार प्रहार करनेपर भी हाथको नहीं काटे, फिर भी गुरुजनोंकी आशातनासे मोक्ष नहीं है ॥ ९ ॥

॥ ८५ ॥

इसप्रकार आग्नि आदिके आक्रमणसे भी गुरुओंकी आशातना भयङ्कर है इसलिये क्या करना चाहिये ? सो कहते हैं—

अध्य० ९(१)

अप्रसन्न हुए आचार्यश्री उस हीलना करनेवालेके लिये अबोधिके कारण होते हैं, वास्ते निराबाध-बाधारहित मोक्षरूप सुखको चाहनेवाला मुनि गुरुजनोंकी प्रसन्नतामें तत्पर होकर व्यवहार करे ॥ १० ॥

जिसप्रकार आहिताग्नि-आजीवन अग्निपूजक ब्राह्मण विविध आहुतियोंसे और मन्त्रपदोंसे अभिषिक्त-धधकती हुई आगको नमस्कार करता है, इसी प्रकार अनन्तज्ञानसे युक्त हुआ साधु भी आचार्यको नमस्कार करे तथा उसकी सेवा वजावे ॥ ११ ॥

जिनके पास धर्मपद-सिद्धान्तको सीखे उनके पास विनययुक्त व्यवहार करे, प्राञ्जलिपूर्वक नतमस्तक होकर सत्कार करे, शरीरसे सेवा करे, 'वन्दे' इत्यादिरूप वचनसे आज्ञा पाले (सत्कार करे), (आचार्य कहते हैं)—भो शिष्यों ! तुमको मनसे भी गुरुका सत्कार करना चाहिये ॥ १२ ॥

लज्जा, दया, संयम और ब्रह्मचर्य ये सब कल्याण-भागी जीवके लिये विशुद्धिके स्थान हैं, जो गुरु मुझे सदा अनुशासन करते हैं अर्थात् संयम आदि सिखाते हैं, ऐसे उन गुरुओंको मैं निरन्तर पूजता हूँ याने सत्कार देता हूँ ॥ १३ ॥

॥ ८५ ॥

आचार्यकी महिमा कहते हैं—जिस प्रकार रात्रिके अन्तमें अर्थात् प्रातःकालमें किरणसमूहसे तपता हुआ सूर्य सम्पूर्ण भारतवर्षको प्रकाशित करता है, इसी प्रकार आगमरूप श्रुत, परब्रह्मसे निवृत्तिरूप शील, और

बुद्धिसे युक्त होकर आचार्य भी जीवादितत्त्वोंको प्रकाशित करते हैं। साधुओंके बीचमें वे वैसे शोभित होते हैं जैसे कि सामानिक देवोंके बीचमें इन्द्र शोभते हैं ॥ १४ ॥ फिर—

जिस प्रकार कार्तिकी पौर्णिमासीमें उदित हुआ तथा नक्षत्रगण व तारागणसे घिरा हुआ चन्द्र निर्मल व वादलोंसे रहित आकाशमें शोभित होता है, उसी प्रकार वह गणी-आचार्य साधुओंके मध्यमें शोभित होता है। (ऐसी महिमासे युक्त वे आचार्य पूजनीय हैं) ॥ १५ ॥

जो आचार्य ज्ञान आदि भावरत्नोंके आकर तथा समाधियोग-उत्तमध्यान, श्रुत-आगम, शाल एवं बुद्धिके द्वारा मोक्षको चाहनेवाले अथवा मोक्षरूप विशाल इच्छावाले हैं, ऐसे आचार्योंको अनुत्तर ज्ञानादि पानेकी इच्छावाला साधु आराधना करे, और उनको निर्जरारूप धर्मका कामी बनकर वारंवार सन्तुष्ट करे ॥ १६ ॥

मेधावी-बुद्धिमान साधु गुरुकी आराधनाके फलको कहनेवाले ऐसे इन सुन्दर वचनोंको सुनकर निद्रा आदि प्रमादसे रहित होकर आचार्यकी सेवा करे, और इस प्रकार वह सेवक साधु अनेक गुणोंका आराधन कर सर्वश्रेष्ठ सिद्धिको पाता है ॥ १७ ॥ ऐसा मैं कहता हूँ। इति।

॥ विनय-समाधि नामक नववें अध्ययनका प्रथम उद्देश समाप्त ॥



अध्य० ९(१)

॥ ८६ ॥

॥ ८६ ॥

॥ नववाँ अध्ययन ॥



उद्देश दूसरा ।



अध्य० ९(२)

विनयके अधिकारमेंही दूसरा उद्देशक कहाजाता है । उसमें यह पहली गाथा है—

मूल-जड़सेही वृक्षके स्कन्धोंकी उत्पत्ति होती है, वादमें स्कन्धसे शाखाएँ उत्पन्न होती हैं, शाखासे प्रशाखाएँ होती हैं और उनसे भी पत्ते निकलते हैं, फिर वृक्षके पत्तोंसे फूल और फूलोंसे फल तथा फलोंसे रस होता है ॥ १ ॥

दार्शनिक योजना करते हैं-इसीतरह-वृक्षके मूलकी तरह धर्मका मूल विनय है । वृक्षके फल व रसकी तरह उस विनयधर्मका चरम व उत्तम फल मोक्ष है, (इसलिये विनय करना चाहिये) जिससे कि विनयवान् साधु पूर्णतया कीर्ति, समस्त आगम व प्रशंसनीय पदको शीघ्रही प्राप्त करता है ॥ २ ॥

जो जीव बड़ा क्रोधी व मृगके समान जड़ या अज्ञानी है अर्थात् जो हितवचन कहनेपर भी खिसला जाता है और जो जाति आदिके मदसे मदोन्मत्त है, तथा कदुवचन बोलनेवाला, कपटी व शठ है अर्थात् धर्ममें आदररहित है, जो इन दोषोंसे विनय नहीं करता है वह अविनीत आत्मा नदीके वेगमें पड़े हुए काष्ठकी तरह संसारसागरमें जन्ममरणरूप तरङ्गपर बह जाता है ॥ ३ ॥

जो कोई नर युक्तिओंके द्वारा विनयको कहा हुआ भी कुन्द होता है वह मनुष्य आती हुई दिव्य-देवसम्बन्धी लक्ष्मीको वण्डेके द्वारा पीछे लौटाता है ॥ ४ ॥

दृष्टान्तसे अविनयका घुरा फल दिखाते हैं—राजाके प्रेमपात्र प्रधान आदिके अविनीत-अशिक्षित आत्मावाले घोड़े, हाथी आदि भार आदि वहनेमें कर्मकररूपसे जोते जाते हुए दुःख भोगते देखे जाते हैं ॥ ५ ॥

इसीप्रकार—सुविनीत-सुशिक्षित घोड़े हाथी राजा आदिकी सवारीमें लगे हुए सम्पत्तिको पाकर और यशोभागी बनकर सुख भोगते हुए दिख पड़ते हैं ॥ ६ ॥

इसीतरह (पशुओंके समान) अविनीत आत्मावाले स्त्रीपुरुष लोकमें चायुक आदिके आघातसे चिह्नित और नाक आदि इन्द्रियोंसे हीन होकर दुःख भोगते हुए दिख पड़ते हैं ॥ ७ ॥ फिर—

दण्डोंसे तथा शस्त्रोंसे आहत होनेके कारण दुबले बने हुए तथा असभ्य वचन-रुखे व कर्कश वचनोंसे घोले जाते हुए वे दीन, कान्तिहीन और पराधीन बने हुए तथा भूख व प्याससे पीड़ित होते हुए दिख पड़ते हैं ॥ ८ ॥

इसीतरह सुविनीत-सुशिक्षित आत्मावाले स्त्रीपुरुष लोकमें सुख भोगते हुए सम्पत्तिशाली व परम यशस्वी देखे जाते हैं ॥ ९ ॥

ऐसेही (मनुष्योंकी तरह) अविनीत आत्मावाले देव, यक्ष और भवनवासि ये देव-भी अविनयके कारण सेवकपनमें लगे हुए दुःख भोगते दिखाई देते हैं ॥ १० ॥

वैसेही सुविनीत आत्मावाले देव, यक्ष और गुह्यक देव सुख भोगते हुए सम्पत्तिशाली और यशस्वी दिख पड़ते हैं ॥ ११ ॥

अब लोकोत्तरविनयका फल कहते हैं—जो कोई शिष्य आचार्य और उपाध्यायोंकी शुश्रूषा और आज्ञाको सम्पन्न करते हैं, उनकी शिक्षाएँ जलसे सींचे हुए वृक्षोंकी तरह बढ़ती हैं ॥ १२ ॥

अध्या० ९(१)

॥ ८८ ॥

गृहस्थ अपने लिये अथवा पुत्र आदि दूसरेके लिये कुम्भकार आदिकी कलारूप तथा वस्त्र आदि बनाने-रूप शिल्पको एवं चित्रकला आदिमें निपुणताको उपभोग-अन्वयके लिये सीखते हैं, ये सब इस लोकके कारण होते हैं ॥ १३ ॥

जिस शिल्प आदिके सीखनेमें लगे हुए वे सुन्दर शरीरवाले राजपुत्र आदि सीखते हुए अनेक तरहकी पीड़ाएँ भोगते हैं अर्थात् रज्जु आदिसे बन्धन व घेत आदिके भयङ्कर वध(मार)की और दारुण कष्टको प्राप्त करते हैं ॥ १४ ॥

इसतरह कष्ट पाते हुए भी वे उस मारनेवाले गुरुको शिल्पशिक्षा ग्रहण करनेके लिये पूजते हैं तथा वस्त्र आदिसे सत्कार करते हैं, व अग्निलि जोड़कर नमस्कर करते हैं, व इस गुरुसे शिल्पशिक्षा मिलेगी इसलिये सन्तुष्ट होकर उसकी आज्ञामें रहने हैं ॥ १५ ॥ जब सांसारिक शिक्षाके अर्थो वैसे मारनेवाले गुरुको भी पूजते हैं, तब—

जो साधु तीर्थद्वारप्रणीत आगमका व मोक्षरूप अनन्तहितका कामी है उसको तो अवश्यही गुरुओंकी भक्ति करनी चाहिये, इसलिये वह विनीत साधु आचार्यश्री जो कुछ फरमावे उस आज्ञाका उल्लंघन नहीं करे ॥ १६ ॥

विनयके उपाय कहते हैं—विनीत साधु आचार्यकी शय्यासे नीची शय्या बिछावे, पीछे चले, नीची जग-हमें बैठे और नीचे आसन बिछावे, नम्र होकर याने झुककर चरणोंमें वन्दना करे, और नम्र होकरही दोनों हाथसे अग्निलि जोड़े ॥ १७ ॥

अब वचनके विनयको कहते हैं—शरीरसे अथवा भण्डोपकरणोंसे गुरुओंकी शरीर व उपकरणोंको धक्का लगानेपर याने संघट्ट होनेपर हे पूज्य ! संघट्टरूप इस मेरे अपराधको क्षमा करो, फिर मैं ऐसा नहीं करूंगा इस-तरह बोले ॥ १८ ॥

पूर्वोक्त इस विनयको बुद्धिमान् मनुष्य स्वयं करता है, किन्तु बुद्धिहीन मनुष्य किसतरह करता है इस बातको कहते हैं—इष्ट बेल जैसे प्रतोद-तीखे कीलयुक्त लकड़ी आदिसे घीधा जाकर रथको खींचता है, वैसे वह इष्टबुद्धि शिष्य भी आचार्योंके वारंवार कहनेपर कहे हुए कार्योंको करता है ॥ १९ ॥

अध्य० ९ (२)

इस तरह किये गये कार्य ठीक नहीं इसपर कहते हैं—आचार्योंके एकवार कुछ कहनेपर या अनेकवार आज्ञा करनेपर शिष्य आसनपरही बैठा हुआ नहीं सुने, किन्तु धैर्यसम्पन्न मुनि आसनको छोड़कर शुश्रूषासे अर्थात् सेवाभावसे गुरुकी आज्ञाको सुने, तथा शरद्, शिशिर आदि कालको व गुरुकी इच्छाको जानकर और गुरुकी आराधनाके प्रकारको न्यारे २ हेतुओंसे समझकर उस २ उपायसे मुनि पित्तनाशक आदि अनुकूल गुण-वाले आहार आदिको लावे ॥ २० ॥ (वृत्तिकारने इस गाथाकी व्याख्या नहीं की है ।)

अविनीत शिष्यके तो ज्ञानादि गुणोंकी विपात्ति होती है अर्थात् वह ज्ञानादि गुणोंको नहीं पा सकता है, किन्तु विनीत-विनयवान् शिष्यको ज्ञानादि गुणोंकी सम्पात्ति-प्राप्ति होती है । जिस शिष्यने ये दोनों बातें अर्थात् विनयसे ज्ञानादि गुणोंकी प्राप्ति और अविनयसे इन गुणोंका अभाव ये दोनों बातें समझी हुई है, वह शिष्य ग्रहण य आसेवनरूप शिक्षाको प्राप्त करता है ॥ २१ ॥

इसी बातको दृढ़ करते हुए अविनयके फलको कहते हैं—जो दीक्षित होकर भी अतिक्रोधी है तथा सम्पत्तिका गर्व रखता है और पिशुन अर्थात् पीछेमें दूसरोंकी निन्दा करनेवाला है वह सिर्फ आकारमात्रसे पुरुष है, भावसे नहीं, ऐसे ही जो साधु अकृत्य करनेमें साहसिक तथा गुरु आदिकी आज्ञा भङ्ग करनेवाला है और जो अच्छीतरह धृताधिर्मको नहीं पाया है अतएव विनयको नहीं जानता और गोचरी आदि लाकर जो उसको समानतासे साधुओंके घीच नहीं घाँटता है, उसको मोक्ष नहींही मिलता है ॥ २२ ॥

॥ १० ॥

अब विनयका फल दिखानेके साथ उपसंहार करते हैं—जो शिष्य गुरुओंकी आज्ञामें तत्पर रहनेवाले

हैं और श्रुतार्थधर्मा याने गीतार्थ तथा विनय करनेमें पण्डित है, ऐसे वे महापराक्रमी साधु इस दुस्तर ओघ अर्थात् संसारसमुद्रको पार कर चरमभव ओर केवलीपदसे समस्त कर्मोंको खपाकर आतिशय उत्तम ऐसी सिद्धिगतिको गये हैं व प्राप्त कर रहे हैं ॥ २३ ॥ ऐसा मैं कहता हूँ । इति ।

अध्या० ९ (२)

॥ विनयसमाधि नामक नववें अध्ययनका दूसरा उद्देश समाप्त ॥



॥ नववाँ अध्ययन ॥



उद्देश तीसरा ।



अध्य० ९(३)

अब तीसरा उद्देश शुरू होता है, इसमें विनीत साधु पूज्य होता है यह दिखाते हैं । उसका यह आदिस्त्र है—आहिताग्नि ब्राह्मण जैसे अग्निकी उपासना करता हुआ उपासनामें सावधान रहता है, वैसेही साधु आचार्यकी सेवा करता हुआ सावधान रहे, आचार्योंकी नजरपरसे तथा आन्तरिक गुणभावोंको प्रकट करनेवाली चेष्टासेही उनके आशय (मतलब) को जानकर जो साधु आचार्यकी इच्छाको पूर्ण करता है, वह साधु पूज्य है ॥ १ ॥

गुरुवचनको सुनना चाहता हुआ शिष्य आचारके लिये विनय करता है, बाद गुरुके कुछ कहनेपर उस वचनको ग्रहण कर छलकपटसे रहित जो साधु उसको गुरुके कहे अनुसार पूर्ण करना चाहता है और विपरीत आचरणोंसे गुरुकी आज्ञातना नहीं करता है, वह साधु पूज्य है ॥ २ ॥

और—जो साधु रत्नाधिकोंमें अर्थात् दीक्षासे ज्येष्ठ मुनिआमें योग्य विनय करता है, इसीतरह जो साधु वय कमसे और आगमज्ञानसे ठहर-कम भी है किन्तु दीक्षासे बड़े हैं उनके लिये अवस्था और ज्ञानसे बड़ा भी जो साधु नम्रतासे व्यवहार करता है तथा सत्यवादी, बन्धनशील और सन्निधिमें रहनेवाला है व गुरुकी आज्ञाको पालता है, वह साधु पूज्य है ॥ ३ ॥

फिर—जो साधु बिना परिचयके भिक्षासे लाये हुए विशुद्ध आहारको करता है और वह भी केवल समयभारवाही शरीरको भाड़ा मात्र देनेके लिये, किसी अन्य निमित्तसे नहीं, तथा उचित भिक्षासे मिला

हुआही आहार सदा समविभागपूर्वक ग्रहण करता है, तथा नहीं मिलनेपर चिन्ता और मिलनेपर अभिमान व श्लाघा जो साधु नहीं करता है, वह साधु पूज्य है ॥ ४ ॥

संस्कारक, शय्या, आसन और आहार तथा जल आदि बहुत मिलते हुए भी जो साधु अल्प इच्छा रखता है, और इसप्रकार जिस किसी कल्पनीय वस्तुसे अपनी आत्माको सन्तुष्ट रखता है, वह सन्तोषरूप प्रधानभावमें रमण करनेवाला साधु पूज्य है ॥ ५ ॥

अब इन्द्रियोंकी समाधिके द्वारा पूज्यपन दिखाते हैं—इससे मुझे यह मिल जायगा इस आशासे अर्थ-प्राप्तिमें उत्साहवाले मनुष्यसे लोहके कांटे भी सहे जासकते हैं, किन्तु वाणीरूप तीखे कांटे नहीं सहे जाते किन्तु बिना किसी आशाके जो साधु कानके लिये तीखे धाण ऐसे कदु वचनोंको सहलेता है, वह पूज्य है ॥ ६ ॥

लोहके कांटे तो गड़नेके समय थोड़ी देर दुःख देते हैं, ओर गड़े हुए वे कांटे शरीरसे सुखपूर्वक निकाले भी जासकते हैं, किन्तु वाणीके द्वारा जो कदुवचन कहकर मर्म दुखाये जाते हैं वे वचनरूप कांटे दुःखद्वार अर्थात् दुःखसे निकालनेयोग्य होते हैं, तथा वे वाङ्मय कण्टक इसलोक और परलोकमें वैरभावको बढ़ानेवाले होते हैं, इसलिये कुगतिमें गिरानेके कारण होनेसे वे परम भयङ्कर हैं ॥ ७ ॥

एकाग्रित होकर सन्मुख आते हुए वे वाग्वाणोंक प्रहार कानमें पड़ते हैं और कानमें जातेही हृदयमें पीड़ा उत्पन्न करते हैं, ऐसे इन वाक्प्रहारोंको सहना मेरा धर्म है ऐसा समझकर संगममार्गमें शूर-अन्य शूरोंकी अपेक्षा प्रधान शूर व जितेन्द्रिय ऐसा जो साधु उन वाग्वाणोंको सहलेता है, वह अवश्य पूज्य है ॥ ८ ॥

अनुपस्थितकी परोक्षमें निन्दा तथा उपस्थित रहनेवालोंके सामने अपकारक-दिलको दुखानेवाली बात तथा निश्चयरूप, अवर्णवादरूप और अप्रिय लगनेवाली ऐसी भाषाको सदा जो साधु नहीं बोलता है, वह पूज्य है ॥ ९ ॥

अध्या० ९(३)

॥ ९३ ॥

जो साधु आहार आदिमें लोभ नहीं रखनेवाला व इन्द्रजाल आदि कौतुकरहित है, तथा कपटी, चुगल-खोर और दीनता दिखानेवाला भी नहीं है, तथा जो दूसरेकी शूंठी तारीफ नहीं करके खुद भी दूसरोंके पास अपनी तारीफ नहीं करता है, तथा कौतूहलके कारण नटवृत्त्य आदि होनेपर भी जो सदा अकौतूहल-स्थिर बना रहता है, वह पूज्य है ॥ १० ॥

अध्या० ९(३)

विनय आदि पूर्वकाथित गुणोंसे युक्त साधु होता है, और अविनय आदि उलट व्यवहारोंसे युक्त असाधु होता है, इसलिये हे साधु ! गुणोंको ग्रहण कर और दुर्गुणोंको छोड़। जो साधु इसप्रकार अपनी आत्मासे आत्माको समझाकर रागद्वेषोंमें समभावसे रहता है, वह पूज्य है ॥ ११ ॥

इसीप्रकार जो साधु जवान या बूढ़े स्त्री, पुरुष, साधु या गृहस्थ आदिको एकवार दुर्वचन कहनेरूप हीलना या अनेकवार कहनेरूप खिसनावचन भी नहीं कहता है, तथा अभिमान व क्रोधको जो छोड़देता है, वह पूज्य है ॥ १२ ॥

और—जो साधु शिष्योंसे सन्मान पाकर पीछे उन शिष्योंको आगमोपदेशसे सन्मान देते हैं, तथा जिसतरह मावाप यत्नसे कन्याको योग्य बनाकर गृहिणीपदपर बैठेदेते हैं उसीतरह शिष्योंको आगममें पारङ्गत-योग्य बनाकर जो गुरु आचार्यपदपर बैठेदेते हैं ऐसे महान् उपकारी तथा मान देनेयोग्य उन गुरुओंको जो मान देता है, तथा जो तपस्वी, जितेन्द्रिय और सत्यमें रमण करनेवाला है, वह साधु पूज्य है ॥ १३ ॥

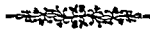
गुणोंके सागर ऐसे उन गुरुओंके सुन्दर उपदेशवचनोंको सुनकर जो बुद्धिमान् मुनि पांच महाव्रतोंमें तत्पर तथा तीन गुप्तिओंसे गुप्त रहता है, तथा जो चार कषायोंसे बाहर निकलनेवाला है, वह साधु पूज्य है ॥ १४ ॥

॥ ९४ ॥

फल दिखाते हुए उपसंहार करते हैं—जिनमतमें निपुण और अभिगममें अर्थात् अतिथिरूप साधुओंके

सत्कारमें कुशल ऐसा वह मुनि पूर्वोक्त विधिसे संदा गुरुओंकी सेवा करके पूर्वजन्मोंमें सञ्चित ऐसे रजोमल-
कर्ममलको हटाता है और कर्मोंको हटाकर ज्ञानतेजसे देदीप्यमान ऐसी गतिको अर्थात् सिद्धगतिको पाता है
॥ १५ ॥ ऐसा मैं कहता हूँ । इति ।

॥ विनयसमाधि नामक नववें अध्ययनका तीसरा उद्देश समाप्त ॥



अध्य० ९(३)

॥ १५ ॥

॥ नववाँ अध्ययन ॥

उद्देश चौथा ।

अध्य० ९(४)

अब इस चौथे उद्देशमें तीसरे उद्देशमें सामान्य रीतिसे कहे गए विनयकोही विशेष रीतिसे कहते हैं—
हे आयुष्मन् शिष्य ! उस भगवान् महावीरने ऐसा कहा है—जो मैंने सुना है—कि इस लोकमें या इस जिन प्रवचनमें परम ऐश्वर्यसे युक्त ऐसे स्थविर आचार्योंने चार विनयसमाधिस्थान कहे हैं, शिष्य कहता है—
भगवान् स्थविर गणधरोंने कहे हुए वे चार विनयसमाधिस्थान कौनसे हैं ? आचार्य—उन स्थविर भगवन्तोंने ये चार विनयसमाधिस्थान कहे हैं, जैसे कि—विनयसमाधि १, श्रुतसमाधि २, तपससमाधि ३, और आचार-समाधि ४ । विनयमें, श्रुतमें और तपस्यामें तथा आचारमें वे पण्डित सदा अपनी आत्माको लगाये रहते हैं जो जितेन्द्रिय होते हैं ॥ १ ॥

विनयसमाधि चार प्रकारकी होती है, जैसे कि—अनुशासित होता हुआ जो गुरुवचनको सुनना चाहता है १, व सम्यक् प्रकारसे गुरुके कहे हुए अनुशासन-तत्त्वको जो विषयानुसार समझता है २, और जो इसतरह विशेषसेही वेद अर्थात् श्रुतज्ञानके प्राप्तिकी यथोक्त क्रियासे आराधना करता है ३, वह मुनि ऐसी विशुद्ध प्रवृत्तिसेही आत्मसम्प्रगृहीत अर्थात् मैं विनीत हूँ, मैं सुताष्टु हूँ, आदिरूपसे अभिमानी या आत्मप्रशंसी नहीं होता है ४ । यह चतुर्थपद होता है और यहाँ श्लोक भी है—

जो आचार्य आदिसे हितानुशासनकी प्रार्थना करता है, और बाद उसको समझकर यथाथ रीतिसे

करता है, और करता हुआ भी विनयसमाधिमें जो अभिमानी-मदसे मत्त नहीं होता है, वह मोक्षको चाहनेवाला है ॥ २ ॥

॥ ९७ ॥

श्रुतसमाधि भी चार प्रकारकी होती है, जैसे कि—मुझे आचार आदि द्वादशाङ्गका लाभ होगा इसलिये पढ़ना चाहिये १, तथा अध्ययनके समय एकाम्रचित्त होजाऊँ इसलिये पढ़ना चाहिये २, तथा अध्ययन करनेसे अपनी आत्माको स्थिर रख सकूँगा इसलिये पढ़ना चाहिये ३, और स्वयं धर्ममें स्थिर होकर दूसरोंको भी स्थिर कर सकूँगा इसलिये पढ़ना चाहिये ४ । यह चतुर्थपद होता है और यहाँ श्लोक भी है—

ज्ञान और चित्तकी एकाम्रता तथा स्थिर रहना और दूसरेको स्थिर रखना, इसतरहके लाभोंसे श्रुतको पढ़कर श्रुतसमाधिमें लगा हुआ साधु रहता है ॥ ३ ॥

तपःसमाधि भी चार प्रकारकी होती है, जैसे कि—न इस लोकके लिये तप करना चाहिये १, और न परलोकके लिये तप करना चाहिये २, ऐसेही कीर्ति, वर्ण, शब्द व श्लोकके लिये भी तप नहीं करना चाहिये ३, सिर्फ कर्मनिर्जराके लियेही तप करना चाहिये (इसके सिवा अन्यके लिये नहीं) ४ । चतुर्थपद होता है और यहाँ श्लोक भी है—

विविध गुणवाले तपमें जो साधु सदा रत रहता है वह लौकिक आशाओंसे दूर होता है, तथा निर्जराको चाहनेवाला जो साधु तप-समाधिमें सदा लगा रहता है, वह उस तपस्यासे प्राचीन पापको दूर करता है ॥ ४ ॥

आचारसमाधि भी चार प्रकारकी है, जैसे कि—इस लोकके लिये आचार नहीं करना चाहिये १, परलोकके लिये भी आचार नहीं करना चाहिये २, ऐसेही कीर्ति, वर्ण, शब्द व श्लोकके लिये भी आचार नहीं करना चाहिये ३, सिर्फ आर्हत-आगममें कहे हुए हेतुओंके लिये आचार पालना चाहिये (अन्यके लिये नहीं) ४ । यह चतुर्थपद होता है और यहाँ श्लोक भी है—

अध्य० ९(४)

॥ ९७ ॥

जिनवचनमें रत रहता हुआ और किसीके कुछ कहनेपर भी कटु नहीं बोलनेवाला साधु मोक्षका अर्थी है और जो साधु आचारमें समाधि रखकर आश्रयद्वारको रोकता है तथा मन और इन्द्रियोंसे वान्त है वह मोक्षको समीप करलेता है ॥ ५ ॥

सभी समाधिओंका फल कहते हैं—पूर्वोक्त रीतिसे चार समाधिओंको जानकर और पालकर जो साधु मन, वचन और कायासे अत्यन्त विशुद्ध समाधिमान् होता है वह संयममें परमहित और विशाल सुखके केन्द्र-स्थानको प्राप्त करलेता है ॥ ६ ॥

उपसंहारमें इसी बातको स्पष्ट करते हैं—इस प्रकारका वह विनीत साधु जन्ममरणरूप संसारसे छूट जाता है, और नारकादि चतुर्विध संसारके कारणभूत वर्ण आदिको सर्वथा छोड़देता है; इसप्रकार कर्मोंके क्षयसे सदा स्थायी सिद्ध होता है अथवा कर्मोंके बचे रहनेसे अल्प मोहवाला महर्द्धिक देव होता है ॥ ७ ॥ सुधर्मा—ऐसा मैं कहता हूँ । इति ।

॥ विनयसमाधि नामका नववाँ अध्ययन समाप्त ॥



अध्य० ९(४)

॥ ९८ ॥

॥ दसवाँ अध्ययन ॥

॥ ९९ ॥

नववें अध्ययनमें आचारोंसे युक्त साधुओंको विनयसम्पन्न होना चाहिये ऐसा कहा गया है, इसलिये पहलेके नौ अध्ययनमें कहे हुए गुणोंसे युक्तही सच्चे साधु होते हैं। अब इस दशवें अध्ययनमें इस बातको सारांश-रूपसे कहते हैं, सम्पूर्ण सूत्रके उपसंहाररूप इस अध्ययनकी प्रथम गाथा यह है—

तीर्थङ्करोंके और गणधरोंके वचनसे प्रव्रज्या लेकर जो मुनि सदा तीर्थङ्करोंके वचनोंमें चित्तसे प्रसन्न होकर रहे, समाधि-चित्तकी एकाग्रताके लिये स्त्रियोंके वशीभूत-अधीन नहीं होवे तथा उसी उपायसे जो छोटे हुए भोगोंको फिरसे नहीं लेता है, वही भिक्षु भावसाधु है ॥ १ ॥

तथा जो सच्चित्त पृथ्वीको नहीं खोदता अथवा खुदाता है, वा इसी प्रकार सच्चित्त जलको नहीं पिता या पिलाता है, तथा तरवार आदि तीखे शस्त्रकी तरह आगरूप उस अस्त्रको जो नहीं जलाता अथवा न दूसरोंसे जलवाता है, वह भाव (सच्चा) साधु है ॥ २ ॥

जो साधु देह आदिको पंखे आदिकी हवासे न बीजता या बीजवाता-हवा करवाता है तथा हरे दूर्वा आदिको खुद न काटता या दूसरोंसे कटवाता है, और बीजोंके संघट्टनको सदा छोड़ता हुआ सच्चित्त वस्तुओंका आहार नहीं करता है, वह भावसाधु है ॥ ३ ॥

औद्देशिक आहारमें पृथ्वी, तृण व काष्ठके आश्रयमें रहनेवाले व्रत-स्थावर जीवोंका वध होता है, इसलिये जो साधु औद्देशिक आहारको नहीं भोगता तथा न स्वयं अन्न आदिको पकाता या पकवाता है, वह भावभिक्षु है ॥ ४ ॥

अध्य० १०

॥ ९९ ॥

श्रीमहावीरके वचनोंमें प्रेम फरके जो साधु छहों प्रकारके जीवोंको अपनी आत्माके समान समझता है, तथा पञ्चमहाव्रताको पालता है, तथा हिंसा आदि पाँच आस्रवोंको रोकता है, वह भावभिक्षु है ॥ ५ ॥

जो क्रोध आदि चार कषायोंको सदा छोड़ता है, तथा तीर्थद्वारोंके उपदेशसे जो संयममें निश्चल योग-वाला है, और चतुष्पद-गो, भैंस आदि पशु, धन और सोना चांदी आदिसे रहित होकर मूर्च्छायुक्त गृहस्थके सम्बन्धको भी जो छोड़ता है, वह भावभिक्षु है ॥ ६ ॥

जो सम्यक्त्वी जीव बिना किसी भय व शङ्काके ऐसा मानता है कि अतीन्द्रिय विषयोंको समझानेवाला ज्ञान, सञ्चित कर्मोंको क्षय करनेवाला तप और नये कर्मबन्धको रोकनेवाला संयम है, और इसप्रकारके दृढ-विचारको रखता हुआ जो तपस्यासे पुराने पापकर्मको हटाता है, तथा मन, वचन व शरीरसे जो संवृत अर्थात् अशुभ प्रवृत्ति नहीं करनेवाला है, वह भावभिक्षु है ॥ ७ ॥

उसीप्रकार याने शास्त्रमर्यादाके अनुसार अनेक प्रकारके अशन, पान, स्वाद्य और स्वाद्य पदार्थोंको पाकर इनसे कल अथवा परसों प्रयोजन होगा ऐसा समझकर, जो उन पदार्थोंको एकरात्रि भी न रखे या दूसरोंसे रखावे, (अथवा पासमें बासी रखनेवाले अन्यको जो अच्छा भी नहीं समझे), ऐसा वह सञ्चय नहीं करनेवाला भावसाधु है ॥ ८ ॥

ऐसेही—अशन, पान वा अनेक प्रकारके स्वाद्य और स्वाद्य पदार्थोंको पाकर जो साधु स्वधर्मों साधुओंको निमन्त्रण करके अथवा देकरके खाता है, और जो खाकर राधायायमें लीन रहता है, वह भावसाधु है ॥ ९ ॥

जो कलह-लडाईकी कथा नहीं कहता है, और सद्वादसम्बन्धी कथा आदिमें क्रोध भी नहीं करता है, किन्तु संयतेन्द्रिय व प्रशान्त बनकरही रहता है, तथा संयममें सदा मन, वचन व कायाकी प्रवृत्ति रखता है, और आकुलतारहित किसीभी उचित कार्यमें अनादर नहीं करनेवाला है, वह भावसाधु है ॥ १० ॥

अध्य० १०

॥ १०० ॥

काटके समान इन्द्रियोंको चुभनेवाले ऐसे ग्रामकण्टकोको—आक्रोश-गाली, प्रहार-मार व तर्जना-धमकीरूपसे आनेवालेको—जो सहलेता है, और वेताल आदिकृत शब्द और अट्टहाससे युक्त स्थानमें उपसर्गोंके आनेपर भी जो समानभावसे सुखदुःखको सहलेता है, वह भावभिक्षु है ॥ ११ ॥

इसी बातको स्पष्ट कहते हैं—जो साधु मांस आविर्की प्रतिमा याने अभिग्रहको स्वीकार कर रमशानमें अत्यन्त भयङ्कर दृश्योंको देखकर भी नहीं डरता है, तथा मूलगुण आदि अनेक प्रकारके गुणोंमें और तपोंमें सदा रत रहता है, और ममतासे शरीरको भी वर्तमान और भविष्यके लिये नहीं चाहता है, वह भावभिक्षु है ॥ १२ ॥

साधुको पृथ्वीकी उपमासे कहते हैं—जो साधु अनेक शर कायोत्सर्ग करता है, अर्थात् शरीरकी ममताको छोड़कर शोभाको त्यागता है, तथा गाली सुनकर, मार खाकर, या कुत्ते आदिके काटनेपर भी जो पृथ्वीके समान क्षमाशील-सब कुछ सहलेनेवाला होता है, तथा जो किसी प्रकारके निदान-नियान नहीं करता है और कुतूहल-देखने सुननेकी तीव्र इच्छासे दूर हाता है, वह मुनि भावसाधु है ॥ १३ ॥

फिर शरीरसे परीपहाको जॉतकर जो साधु जन्ममरणरूप संसारमार्गसे अपनी आत्माको ऊपर उठा लेता है याने अलग कर लेता है, और जन्ममरणको अत्यन्त भयङ्कर समझकर श्रमण-साधुसम्बन्धी शुद्ध आचारमें व तपमें लगा रहता है, वह भावभिक्षु है ॥ १४ ॥

जो साधु हाथोंसे संयत है, चरणोंसे संयत है, तथा वचनोंसे संयत है, और संयतेन्द्रिय-इन्द्रियोंसे संयत है, तथा जो धर्मध्यानमें लगा रहनेवाला और समाधियुक्त आत्मावाला है, तथा जो सूत्रार्थोंको समझता है, वह भावसाधु है ॥ १५ ॥

जो साधु अपने वस्त्र पात्र आदि भण्डोपकरणोंमें भी ममता और प्रतिबन्धरूप लोभसे रहित है, तथा विना परिचयके घरामें भिक्षाके लिय जाता है, व संयमको निस्तार बनानेवाले पुलाक व निष्पुलाक नामक दोषोंसे दूर रहता है, तथा खरीद, विक्री व सञ्चय आदिसे विरत रहता है, और जो सब प्रकारके सद्भास मुक्त-दूर है, वह साधु भावभिक्षु है ॥ १६ ॥

जो साधु नहीं मिली हुई चीजोंमें चाहता-लोलुपता नहीं करता तथा मिले हुए रसोंमें प्रतिबन्ध-आसक्ति भी नहीं रखता है, और भावविशुद्ध गोचरी करता है, तथा जो असंयम-जीवनको नहीं चाहता है, और जो स्थिरचित्त होकर लब्धिरूप क्रान्ति, वस्त्रादिके सत्कार तथा स्तुति आदिसे पूजाकी भी आशा नहीं रखता है, वह भावसाधु है ॥ १७ ॥

फिर—जो साधु दूसरेको यह कुशील है ऐसा नहीं कहता, और जिससे कोई क्रुद्ध होवे ऐसा वचन नहीं बोलता है, तथा प्रत्येक आत्माके जुदे २ पापपुण्योंको अग्निदाहकी वेदना जैसी स्पर्श करनेवालेकोही होती है अन्यको नहीं ऐसे जानकर, जो गुणोंके होते हुए भी अभिमान नहीं करता है, वह भावभिक्षु है ॥ १८ ॥

जो साधु न जातिसे मत्त बनता और न रूपसे, तथा जो लाभमें भी मद नहीं करता व श्रुतज्ञानका भी अभिमान नहीं रखता है, और जो सब प्रकारके गर्वोंको छोड़कर धर्मध्यानमें लगा रहता है, वह भाव-भिक्षु है ॥ १९ ॥

जो ज्ञानचरणसे सम्पन्न महामुनि परोपकारके लिये शुद्ध धर्मोपदेश देता है, और स्वयं धर्ममें स्थिर रहता हुआ दूसरेको भी धर्ममें स्थिर करता है, तथा प्रव्रज्या लेकर आरम्भ आदि कुशीललिङ्गको छोड़ता है, तथा हास्यकारी कुहक-चेष्टाओंको भी नहीं रखता है, वह भावभिक्षु है ॥ २० ॥

भिक्षुभावका फल कहते हुए अध्ययनकी समाप्ति करते हैं—प्रत्यक्षमें जेलके समान तथा अपवित्र व अनित्य ऐसे इस देहवामको सम्यग्दर्शन आदि शाश्वत हितके लिये जो साधु सदा ममत्वके नहीं रखनेरूपसे छोड़देता है, वह साधु जन्ममरणके बन्धनको काटकर जहांसे फिरकर आना नहीं होता है ऐसी सिद्धिगतिको पाता है ॥ २१ ॥ ऐसा मैं कहता हूँ । इति ।

॥ सभिक्षु नामका दसवाँ अध्ययन समाप्त ॥



॥ पहली चूलिका ॥

॥ १०३ ॥

चूलिका १

दशवें अध्ययनके साथ इस चूलिकाका सम्बन्ध इसप्रकार है—दशवें अध्ययनमें कह आण हैं कि भिक्षुओंके गुणोंसे युक्त रहनेवाला भिक्षु है, वह साधुगुणयुक्त भिक्षु भी कभी पूर्वकर्मोंकी प्रबलतासे दुःखी हो सकता है, इसलिये उस दुःखी होते हुए भिक्षुको पुनः साधुमार्गमें स्थिर करनेके लिये इन दोनों चूलिकाओंमें उपदेश देते हैं।

गुरुमहाराज इस अध्ययनको प्रारम्भ करते हुए शिष्यको कहते हैं—भो ! हे शिष्य ! इस जैन शासनमें दीक्षित हुआ भिक्षु यदि किसी कारणसे दुःखी हो जाय तथा पूर्वकथित संयममें उसका हृदय उद्विग्न हो जाय और इसी उद्वेगसे वह संयमको छोड़ना चाहे तो उसे पहले वक्ष्यमाण इन अष्टादश स्थानोंका अच्छीतरह विचार करना चाहिये, क्योंकि घोड़ेके लिये लगाम, हाथीके लिये अङ्कुश, और नौकाके लिये पताका (पाल) के समान उद्विग्न बने भिक्षुके ये वक्ष्यमाण अष्टादश स्थान संयममार्गमें स्थिर रखनेवाले हैं।

जैसे कि—उन अष्टादशस्थानोंमें प्रथमस्थान कहते हैं—गुरु फरमाते हैं—हे शिष्य ! इस दुःपमनामक समयमें सभी प्राणी दुःखसेही जीते हैं, फिर गृहस्थाश्रमसे क्या प्रयोजन ? ॥ १ ॥

तथा गृहस्थोंके सुखभोग तुपके समान तुच्छ हैं, वे भी क्षणभङ्गुर-क्षणभरमें नाशवान् हैं तथा भविष्यमें कटुफल देनेवाले हैं, ऐसे गृहस्थजीवनसे क्या मतलब ? ॥ २ ॥

और सांसारिक मनुष्य कपटप्रधान जीवनवाले होते हैं, इसलिये ये किसीके विश्वासपात्र नहीं बनते और विश्वासके बिना सुख कैसा ? भोगोंको भोगकर भी मनुष्य सन्तुष्ट नहीं होते हैं, किन्तु उलटे सदा भोग भोगनेके लिये भूखेही बने रहते हैं। इसलिये गृहस्थाश्रमके कामभोगोंसे क्या प्रयोजन ? ॥ ३ ॥

॥ १०३ ॥

और संयममें उद्वेग करनेवालेको साचना चाहिये कि मेरे कमासे प्राप्त यह शारीरिक या मानसिक दुःख
चिरकालतक नहीं रहेगा । फिर गृहस्थाश्रमसे क्या मतलब ! ॥ ४ ॥

फिर सोचना चाहिये कि संयमी साधुओंके लिये बड़े २ राजामहाराजा, महाजन भादि पूजासत्कार
करते हैं और दीक्षा त्यागनेवालेको तो समयपर अपने मतलबके लिये तुच्छ जनोकी भी खुषामद करनी
पड़ती है अतएव ऐसे गृहस्थाश्रमसे क्या प्रयोजन ! ॥ ५ ॥

भागवती दीक्षाको त्यागकर पुनः गृही बनना अर्थात् गृहस्थके सुखोंको भोगना यह तो वमन किये
पदार्थोंको पुनः स्वीकार करनेके समानही घुरा है ॥ ६ ॥

संयमी घनकर पुनः गृही होना यह तो सीधे नरक आदि दुर्गतिमें जानेके लिये साधनसम्पत्ति जुटाना
है ॥ ७ ॥

गृहवासमें बसनेवाले अर्थात् स्त्रीपुत्र-शत्रुमित्र-रूप जालमें फंसे रहनेवाले गृहस्थोंके लिये धर्म दुर्लभ है ।
गुरुमहाराज फरमाते हैं—भो शिष्य ! संयमके स्वीकार करनेसे सुलभ हुए धर्मको फिर दुर्लभ मत बनाओ ॥ ८ ॥

उस असंयमी गृहस्थके लिये आतङ्क अर्थात् ससर्गीरोग घातक होता है ॥ ९ ॥

अनेक प्रकारके सकल्प-विकल्प-रूप मानस आतङ्क गृहस्थके लिये नाशके कारण होते हैं ॥ १० ॥

कृषि, पशुपालन, वाणिज्य आदिकी तथा तेल, लोण, लकड़ोंकी चिन्ता हमेशा बनी रहती है, इसलिये
गृहस्थजीवन दुःखमय है ॥ ११ ॥

संयमियोंका जीवन पूर्वोक्त उपक्लेश-चिन्ताओंसे रहित है, इसलिये सुखमय है ॥ १२ ॥

कोश बनानेवाले कीटके समान सदा कर्मबन्ध करनेसे गृहस्थजीवन कर्मबन्धका कारण है ॥ १३ ॥

सदा कर्मबन्धोंको तोड़नेसे संयमजीवन मुक्तके समान है ॥ १४ ॥

भ्राणतिपात आदि पापोंको करनेसे गृहिजीवन पापयुक्त है ॥ १५ ॥

चुलिका १

॥ १०४ ॥

और सदा प्राणातिपात आदिसे विरत रहनेके कारण संयमियोंका जीवन पापरहित है ॥ १६ ॥
गृहस्थोंके कामभोग बहुत साधारण हैं, क्योंकि वे कामभोग चोर, चाण्डाल, पशु, पक्षियोंको भी
सुलभ हैं ॥ १७ ॥

प्रत्येकके पुण्यपाप स्वतन्त्र हैं, माता, पिता, पुत्र, कलत्र आदिके द्वारा अगर दूसरेके लिये भी किये गए हैं
तथापि वे पुण्य पाप करनेवालोंके लिएही फल देते हैं अर्थात् पुत्रका किया पुण्य पिताको नहीं मिलता है ॥ १८ ॥
इसलिये गृहवास हेय है—

बुद्ध आचार्योंने इस समस्त ग्रन्थको इन अठारह स्थानोंके अन्तर्गत ही माना है । दूसरे आचार्योंने
ग्यारहवें स्थानसे सोलहवें तक छह स्थानोंको पूर्वपक्ष उत्तरपक्ष कहकर, दो दो स्थानोंको एक मानकर छह
स्थानोंको तिनही गिने हैं, ऐसा गिनना सुसंगत ज्ञात होता है, इस हिसाबसे “प्रत्येकं पुण्यपापम्” यह जो पहले
अठारहवाँ स्थान होता था वह पन्द्रहवाँ स्थान हुआ, बाँकी छह स्थानोंको नीचे लिखते हैं—

हे शिष्य ! मनुष्योंका जीवन दर्म (कुशा) के अग्रभागपर टिके हुए जलबिन्दुकी तरह चञ्चल और
अनित्य है ॥ १६ ॥

मैंने चारित्र-मोहनीय आदि बहुतही पापोंका संचय किया है, अन्यथा ऐसी दुर्मति भी नहीं होती । इस-
लिये मुझे गृहवाससे कोई प्रयोजन नहीं है ॥ १७ ॥

और हे शिष्य ! किये गए वे शुभ अशुभ कर्म जो पूर्वजन्मोंमें प्रमाद कषाय आदिके वशीभूत होकर हो
गये हैं तथा जो कर्म मिथ्यात्व अविरातिसे दुष्पराक्रमवाले (दुःखसे प्रतिक्रमणीय) हैं, उन कर्मोंको भोगकर या
तपस्यासे क्षयकर मोक्ष होता है । बिना भोगे उन कर्मोंसे मुक्ति नहीं है, इसलिये तप संयमकी आराधनाही श्रेष्ठ
है । अब मुझे गृहस्थाश्रमसे कोई मतलब नहीं है ॥ १८ ॥

यह अठारहवों पद होता है। इस विषयमें श्लोक भी है—असंयमसे निवृत्त होनेके लिये इन अठारह स्थानोंके रहनेपर भी जब कोई अनार्य जीव भोगोंके लिये चारित्रधर्मकी त्याग देता है, तब उन भोगोंमें आसक्त होता हुआ वह बालबुद्धि परिणामकी अर्थात् भविष्यकाल नहीं समझता है ॥ १ ॥

जब कोई बालजीव संयमसे बाहर हो जाता है, तब इन्द्रासनको छोड़कर भूमिके ऊपर पड़े हुए इन्द्रके समान वह सब प्रकारके साधुधर्मसे भ्रष्ट होकर वादमें सन्ताप करता है ॥ २ ॥

जब साधुपर्यायमें रहता है तब तो सुरेन्द्रों व नरेन्द्रोंका भी वन्दनीय होता है। किन्तु संयमसे गिरनेके बाद फिर वही अवन्दनीय हो जाता है अर्थात् किसीका भी वन्दनीय नहीं रहता है। उस स्थितिमें वह स्वर्गसे भूमिपर गिरे हुए देवके समान वादमें पश्चात्ताप करता है ॥ ३ ॥

जब कोई संयममार्गमें पूजित रहता है और असंयममें आतेही अपूजनीय हो जाता है, तब राज्यसे द्युत राजाके समान वह पीछे पश्चात्ताप करता है ॥ ४ ॥

जब कोई संयमकी अवस्थामें संघका मान्य होता है और संयमसे हीन होकर पीछे अमान्य हो जाता है, तब वीक्षासे पतित वह व्यक्ति कुमाममें लाकर छोड़े गए शेरके समान पीछे पश्चात्ताप करता है ॥ ५ ॥

जब संयमको त्यागनेवाला जीव यौवनसे बहार होकर बुढ़ापेमें आता है, तब जिह्वेन्द्रियके वशीभूत होकर आहारके साथ वडिश-लोहकंटककी गिलजानेवाले मत्स्यके समान वह पश्चात्ताप करता है ॥ ६ ॥

इसी बातको स्पष्ट रीतिसे कहते हैं—जब वह संयमको त्यागनेवाला जीव सर्वाङ्गशिथिल वृद्ध होजाता है और मतलबी व कपटी कौटुम्बिकोंकी दुष्ट चिन्ताओंसे पीड़ित होता है, चिन्तासे पीड़ित होनेके बाद वह संयमहीन जीव उन नकली कुटुम्बिकोंके द्वारा जालमें फंसाकर बन्धनोंमें बन्धे हुए हाथीकी तरह पश्चात्ताप करता है ॥ ७ ॥

इसीको विशेष स्पष्टरूपसे कहते हैं—जब वह संयमको त्यागनेवाला जीव पुत्रकलत्रोंसे सताया जाता है तथा वर्शनमोह आदि मोहनीय कर्मोंके समूहमें फँस जाता है, तब गाढ़ कीचटमें फँसे हुए गजेन्द्रके समान साधुतासे गिरनेके बाद वह जीव पश्चात्ताप करता है, और मनमें सोचता है कि हाय! मैंने ऐसा अविचारका काम क्यों किया ? ॥ ८ ॥

और यह भी सोचता है कि यदि मैं जिन भगवानके कहें हुए श्रामण्य-साधुभावमें स्थिर रहता और साधुपर्यायमें रमा रहता तो आज बहुश्रुत व भावितात्मा होकर मैं गणी-आचार्य बन जाता ॥ ९ ॥

चंचल चित्तवाले संयमीको स्थिर करनेके लिये कहते हैं—संयममें रति रखनेवाले महामुनिओंके लिये यह मुनिपर्याय स्वर्गके समान सुखद तथा समाधानकारी है। जैसे देव स्वर्गमें दर्शन आदि व्यापारोंमें लगे हुए दीनतारहित होते हैं, वैसे मुनिगण भी उससे अधिक भावसे प्रत्युपेक्षणा आदि क्रियाओंमें सदा अदीनमनसे रहते हैं। किन्तु जो संयममें रति नहीं रखनेवाले केवल लिङ्गमात्रसे साधु हैं, ऐसे जिनभेषकी विठम्बना करनेवाले उन कुलिङ्गिओंके लिये तो यह साधु-पर्याय महानरक अर्थात् रीरवादि नरकके समान है, क्योंकि मुनिवेषमें उन्हें तीव्र मनोदुःख होता है जो नरकके समान दुःखप्रद और भावी नरक आदि दुर्गतिबन्धका कारण होता है ॥ १० ॥

उपसंहाररूपसे इसी बातको पुनः कहते हैं—इसलिये साधुपर्यायमें रत रहनेवाले महर्षिओंके देवतुल्य उत्तम सुखोंको समझकर तथा इसी साधुपर्यायसे विरत रहनेवाले कुलिङ्गिओंके नरकीपम प्रचल दुःखोंको जानकर पण्डित-सदसद्विवेकी साधु सदा मुनिपर्यायमें रमण करे ॥ ११ ॥

संयमसे पड़नेवालोंके लौकिक दोषोंको कहते हैं—जो श्रमणधर्मसे पतित और तपस्वरूप लक्ष्मीसे दीन है, उसके संगमें आनयोग्य कुशील लोग भी ऐसे दुर्बलदारीकी यक्षसम्बन्धी बुझाई गई निस्तेज आगकी तरह

और विप्ले दांतोंसे हीन घोर विपत्तर्पकी तरह होलना करते हैं, तथा तू पतित है, ऐसा कहते हैं और पहले समानताका व्यवहार रखनेवाले आत्म-इष्टजन भी उसे अपनी पंक्तिमें घेठने नहीं देते हैं ॥ १२ ॥

लौकिक दोषको दिखाकर अब उभयलोकगत दोषोंको कहते हैं—जो धर्मसे भ्रष्ट व अधर्मका आचरण करनेवाला तथा अखण्डनीय चारित्र्यकी खण्डना करनेवाला है उसको इस लोकमें अधर्म अर्थात् अधर्मात्मा कहते हैं, तथा अयश याने पराक्रमके अभावसे होनेवाली न्यूनता व अकीर्ति जैसे कि पुण्यफलसे रहित यह वानव किसी कामका नहीं है ऐसी निन्दा होती है, और संयमसे पतित होनेके कारण 'यह पुराना पतित हुआ' इत्यादिरूपसे नीच निन्दित व पामर जनोंमें भी उसकी बदनामी होती है, फिर शिष्टसज्जनोंकी तो बातही क्या! ये तो हुए लौकिक दोष, अब पारलौकिक दोष दिखाते हैं—चारित्र्यको खण्डित करनेवालोंकी परलोकमें नीचगति अर्थात् नरक आदि गति नियत है ॥ १३ ॥

चारित्र्यभ्रष्टोंके लिये अन्य अनिष्ट बातें कहते हैं—वह संयमसे पतित जीव धर्मकी बिलकुल परवाह नहीं करता हुआ प्रकटचित्तसे विषयसुखोंको भोगकर तथा अनेक प्रकारके खेती आदि जैसे जीवघातक कामोंको करके मरकर दुःखोंसे पूर्ण व अनिश्चित ऐसी गतिमें याने दुर्गतिमें जाता है और उस संयमभ्रष्टको बोधि याने जैनधर्मकी प्राप्ति दुर्लभ होती है। जिसलिये कि वह एकवार प्रवचनकी विराधना करचुका है इसलिये वह अनेक मायमें विराधकही बना रहता है। इसी हेतुसे बोधि भी दुर्लभ होती है ॥ १४ ॥

जिसलिये ऐसी बात है इसलिये दुःखकी दशामें भी साधुको ऐसा विचार करके संयम नहीं छोड़ना चाहिये, इसी बातको कहते हैं—पहले नरकगतिमें गये हुए और दुःखमें पड़े हुए केवल क्लेशमय वृत्तिवाले इस जीवका नरकमें पहरोपम अथवा सागरोपम जितना दीर्घकाल बाँत जाता है फिर मेरा यह संयममें अरतिरूप मने दुःख क्या चीज है! और कितने दिनोंका है! दुःखकी दशामें भी दीक्षितको संयमसे पतित नहीं होना चाहिये ॥ १५ ॥

चूलिका १

॥ १०८ ॥

फिर—मेरा यह संयममें अतिरूप दुःख बहुत कालतक नहीं रहेगा क्योंकि जीवोंकी भोग-पिपासा सदा रहनेवाली नहीं है। यह विषयभोगकी लालसा प्रायः यौवनकालमेंही रहनेवाली है, वृद्धके शरीरसे चली जाती है। अगर वृद्धावस्थामें भी यह विषयलालसा नहीं गई तो आयुके अवसानमें मेरे शरीरके नष्ट होनेपर तो अवश्यही नष्ट हो जायगी। इस भोगलालसासे अनन्तकालतक सुखदाता संयमका त्याग करना उचित नहीं है ॥ १६ ॥

इस प्रकारकी दृढ़ताका फल कहते हैं—

जिस संयमी जीवका आत्मा इस प्रकार निश्चित-दृढ़प्रतिज्ञा बना रहता है, वह विघ्न आनेपर लुप्तसिं शरीर त्यागदेता है किन्तु धर्मानुशासनको नहीं त्यागता है, पूर्वोक्त उस दृढ़ आत्माको इन्द्रियाँ चलायमान नहीं कर सकती हैं जैसे सुमेरु पर्वतको प्रबल वेगसे चलती हुई भी हवा नहीं हिला सकती है ॥ १७ ॥

उपसंहार करते हुए कहते हैं—

इस प्रकार अध्ययनमें कहे गए अष्टादशस्थान आदि भावोंको अच्छीतरह विचार कर तथा ज्ञान दर्शनादिके आयुको और इसके अनेक उपायोंको समझकर बुद्धिमान् साधु काय, वचन और मनसे संयम रहता हुआ तथा तीन गुणोंसे गुप्त होता हुआ जिनवाणीकी उपासना कर अर्थात् यथाशक्ति शास्त्रकथित क्रियाके आराधनमें तत्पर रहे ॥ १८ ॥ ऐसा मैं कहता हूँ।

॥ रतिवाक्या नामकी प्रथम चूलिका समाप्त ॥



॥ दूसरी चूलिका ॥



चूलिका २

अब दूसरी चूलिका कहते हैं—

१ इस विषयमें ऐसी प्राचीन किंवदन्ती है कि एक आर्यान् किसी साधुजीको चातुर्मासिक आदि पर्व समयमें उपवास करने की प्रेरणा की। साधुजीने भी प्रेरणाको पाकर उपवास तो कर लिया किन्तु शारीरिक स्थितिसे उन्हें समय बिताना मुश्किल होगया। सयोग्यता उनका उस तपोव्रतमेंही अरुस्थान् देहावसान होगया। इस बातको जानकर साध्वीजीको बड़ी चिन्ता हुई कि मेरी प्रेरणासे सधुजीने उपवास किया और उपवासमेंही उनका देहान्त होगया। अतः मैं कपिघातिका हूँ। मुझे तीर्थङ्कर महाराजसे इसका निर्णय करना चाहिये। ऐसा विचार कर आर्याजीने तपसे देवाराधन किया। जिससे प्रभावित होकर उस देवने भी साध्वीजीको महाविदेह क्षेत्रमें तीर्थङ्करके पास पहुँचा दिया। तीर्थङ्कर महाराजके पास पहुँचकर साध्वीने भी अपनी शङ्का निवारणार्थ प्रश्न किया, उत्तरमें भगवानने विभूद्विषयवाही व अघातिका कहकर यह चूलिका दी (हारिभद्रावधृति)।

उपरोक्त विवरणमें बहुतसी बातें विचारणीय हैं, यह चूलिका भलेही तीर्थङ्करभावित हो या न हो किन्तु है पूर्ण माननीय, क्योंकि इनमें कोईभी पक्ष नित्यवाणीविरुद्ध नहीं दिसता। जोभी दोनों अभ्ययन चूलिकाके नामसे प्रसिद्ध है तथापि रचनाकारने चूलिका नामको भ्रमेतम अभ्ययनमेंही 'चूलिभं तु पवकसामि' इस पदसे स्वाकार किया है। और इसीके लिये उपरोक्त किंवदन्ती भी है।

अब रहा मध्य चूलिका अभ्ययन सो रचनाकारने भलेही इसे चूलिका नाम नहीं दिया हो लेकिन् दशवैकालिकके साथ इसका सम्बन्ध करनेवाले आचार्योंने कदाचित् इस सूत्रके उपरिष्ठान् होनेसे चूड़ा यह नाम रक्खा हो यह सम्भव है, दोनोंकी रचना व चूड़ा नामसे प्रसिद्धि निपुकिङ्कार व भाष्यकारके अवश्य पड़लेसे है, रचनाशैलीसे दोनोंके कर्ता भिन्न भिन्न होने चाहिये ऐसा हमारा अनुमान है। विशेष आगमांके परिश्रितन करनेवाले ऐतिहासिक विद्वान् इस विषयको स्पष्ट करेंगे तो ठीक होगा।

॥ ११० ॥

इस चूलिकाका पूर्व चूलिकासे सम्बन्ध इसप्रकार है—संयममार्गमें दुःखी होकर उद्विग्न-चञ्चल होने-वाले साधुको दृढ़ रहनेका उपदेश प्रथम चूलिकामें दे आया है। इस दूसरी चूलिकामें पवित्र चर्या-समाचारोंको कहते हैं। यद्यपि नामादि भेदसे चूड़ा पदके छह अर्थ हैं किन्तु इनमें चूड़ा अर्थात् श्रुतज्ञान ही मुख्य है। श्रुतज्ञान-रूप साधनसे चर्यागुण साध्य है। कार्यकारणमें कथञ्चित् अभेद होनेसे श्रुतज्ञान इस पदसे चर्यागुणरूप कार्य लिया जाता है।

ग्रन्थकार कहते हैं—मैं केवली भगवान् से कही हुई जो श्रुतज्ञानरूप चूलिका है उसको कहूंगा, जिस चूलिकाको सुनकर सुपुण्य अर्थात् पूर्वोपाजितपुण्यशाली जीवोंकी चारित्र्यधर्ममें मति अर्थात् भावसे श्रद्धा होती है ॥ १ ॥

इस चूलिकारूप वृक्षके मूलभूत अर्थको कहत है—जहाँ बहुजनसमाज नदीप्रवाहमें पड़े हुए सूखे काष्ठकी तरह विषयवासनारूप प्रवाहमें बहा जा रहा है, वहाँ कर्मप्रकृतिके प्रतापसे विषयविकारके विपरीत अर्थात् विषयनिवृत्तिरूप प्रवाहपर लक्ष्य रखनेवाले सयमी जीवको मुक्तिरूप हेतुसे संयमरूप प्रतिस्रोत-विपरीत प्रवाहमें ही मुक्त होनेके लिये अपने आत्माको स्थिर रखना चाहिये। अभिप्राय ऐसा है कि—ओघरूपसे सांसारिक जीव विषयविकाररूप प्रबल प्रवाहमें बहा रहा है, इस प्रवाहके प्रतिकूल संयममार्गमें लगना यह परमपुण्यका परिणाम है, ऐसा सुयोग जब शुभकर्मसे मिला तब इस सुयोगको व्यर्थ नहीं जाने देना किन्तु कठिनाईमें भी आत्माको संयममार्गमें ही स्थिर रखना चाहिये ॥ २ ॥

अनुस्रोत-विषयप्रवाहमें बहत रहना इसको संसारी जीव सुख माननेवाला है, क्योंकि वह कर्मके बोझसे दबा है। किन्तु सुविदित साधुओंके लिये प्रतिस्रोत अर्थात् विषयोंसे विपरीत निवर्तन होनेरूप-विषयविकारोंसे दूर रहना ही आस्रव-इन्द्रियविषय आदि सद्गुणोंका स्थान है अथवा आश्रम-संयम आदि व्रत ग्रहणरूप

चूलिका २

॥ १११ ॥

हाता ह। अनन्नात-विषयके अभिमुख प्रवृत्ति करना जन्ममरणरूप संसार है, और प्रतिस्रोत-विषयमें प्रवृत्तिसे पृथक् रहना, यही इस संसारसे पार उतरना है ॥ ३ ॥

॥ ११२ ॥

चूलिका २

इसलिये आचारमें पराक्रमशाली तथा इन्द्रियादि निरोधरूप संवरमें अधिक समाधि-चित्तशान्तिको रखनेवाले साधुको संयमकी विशुद्धिके लिये भिक्षुभावको स्थिर रखनेवाली अनियतनिवास व अप्रतिहतविहार आदि बाहरी व भीतरी ऐसी चर्या तथा मूल व उत्तररूप गुण और समयपर पिण्डविशुद्धि आदिकी आसेवना रूप नियम सम्यग् ज्ञान, सम्यग् आसेवना और सम्यक् प्ररूपणाके द्वारा ये सब चर्या आदि सदा द्रष्टव्य-देखनेयोग्य है ॥ ४ ॥

चर्याको कहते हैं—अनियत निवास, अनेक गृहोंकी विशुद्ध गोचरी, विशुद्ध उपकरणोंका ग्रहण, निर्जन प्रदेशमें वास, और वस्त्र पात्र आदि उपाधिको अल्प रखना, तथा कलहकाण्डसे दूर रहना, अप्रतिहत विहार करना ये सब चर्याएँ साधुओंके लिये अति प्रशस्त है ॥ ५ ॥

विहारचर्या और आहारचर्यामें विशेषता दिखात है—विहारचर्यामें—जनसमूहसे परिपूर्ण जसे कि राजकुल, देवकुल आदि आकीर्ण स्थान और जहाँ स्वपक्ष या परपक्षसे अपमान होनेका भय हो वह अवमान-स्थान इन दोनों स्थानोंको साधु छोड़देवे, क्योंकि ये दोनों स्थान सद्गोप है, आकीर्ण स्थानमें—जनसंमर्षके कारण हाथ पैर टूटनेका भय है, और अपमानस्थानमें अलाभ तथा आधाकर्मादि दोषसहित आहार मिलनेकी शङ्का है, इसी प्रकार आहारचर्यामें प्रायः उपयोगपूर्वक देखकर लाया हुआ आहार-पानी साधुओंके लिये प्रशस्त है, मुनि इस प्रकारके आहारके लिये जावे, ऐसेही आहारग्रहणमें पहले आठ भाँगे कह आप है उन भक्षोंमें प्रथम

॥ ११२ ॥

भट्टकों भ्रष्ट घटाते हुए कहते हैं—संस्पृष्ट हाथ व पात्रसे दिये जाते आहारमेंही साधु यत्न करे, वह संस्पृष्ट हाथ या पात्र दिये जाते निरवयव आहारसेही संस्पृष्ट हो, किन्तु दूसरी सावध वस्तुसे संस्पृष्ट न हो, अगर असंस्पृष्ट हाथ या पात्र होगा तो पुरुषार्थकी शक्ती रहेगी, इसलिये उक्त आठ भट्टोंमें—संसृष्टे हत्ये, संसृष्टे मत्ते, सावसेसे दव्ये, यह प्रथम भट्टही उत्तम है ॥ ६ ॥

चूलिका १

उपदेशरूपसे कहते हैं—साधु मद्यपान और मांसाशनका त्यागी होवे और दूसरोंका द्वेष नहीं करे, ऐंसेही चारंगार बिना विशेष प्रयोजनके विकृति-धृत, दुध, दही आदि सरस आहार नहीं करनेगला तथा गमना-गमन आदि क्रियाओंके करनेपर कायोत्सर्ग करनेगला होवे (अथवा विकृतिका आहार करनेपर कायोत्सर्ग करे ऐसा भी एकपक्ष है), और आगमके स्वाध्यायमें व व्यावच आदिमें तथा आयम्बिल आदि तपमें विशेष प्रयत्न करे ॥ ७ ॥

मास आदि कल्पकी समाप्तिमें विहार करता हुआ साधु शयन-शय्या, आसन-पीठ, पाटला आदिके विषयमें गृहस्थोंसे ऐसी प्रतिज्ञा नहीं करावे कि मैं लीटकर आज्ञा तो मुझेही यह शयन आसन देना, ऐंसेही उपा-भयके विषयमें व स्वाध्यायभूमिके विषयमें एवं भक्त पान आदिके विषयमें वैसी प्रतिज्ञा नहीं करावे, ग्राममें व कुलमें अथवा नगरमें या किसी देशमें अर्थात् किसीभी विषयमें कहीं पर भी ममताभाव नहीं रखे ॥ ८ ॥

उपदेशरूपसे ही कहते हैं—साधु गृहस्थोंकी वैयावच नहीं करे, तथा वचनमात्रसे नमस्कार, शरीरको झुकाकर घन्दन, और चक्र देने आदि रूपसे पूजासत्कार भी नहीं करे, मुनि गृहस्थोंकी सेवा करना आदि संकृशांसे रक्षित ऐसे साधुओंके साथ रहे, जिससे कि चारित्र्यकी हानि नहीं होवे ॥ ९ ॥

॥ ११३ ॥

असंख्यिष्टोंके साथ रहना चाहिये ऐसा कहचुके हैं, अब उसमें विशेषताको कहते हैं—यदि अपनी अपे से गुणाधिक अथवा गुणांसे स्वसमान ऐसा निपुण-संयमानुष्ठानमें कुशल दूसरा सहायक साधु नहीं मिले तो कामोंमें अनासक्त तथा पापकर्मोंको त्यागता हुआ संहनन आदिसे युक्त साधु अकेला भी विहार करे ॥ १० ॥

विहारकालको कहते हैं—संवत्सर अर्थात् वर्षाऋतुसम्बद्ध चार मास और शेषकालमें एक मास एक स्थानमें रहना यह परम-उत्कृष्ट प्रमाण है, जहाँ चातुर्मास या ऋतुबद्ध एकमास उत्कृष्ट रहचुके हैं वहाँ फिर द्वितीय वर्षा-बद्ध चार मास रहे नहीं अर्थात् दूसरे वर्ष वहाँ चातुर्मास नहीं करे, ऐसे शेषकालमें भी द्वितीय तृतीय मास वहाँ नहीं रहे अर्थात् चातुर्मास व शेषकालका दुगुणा समय निकाले बिना वहाँ चातुर्मास तथा मासकल्प नहीं करे, सूत्रकथित मार्गसंही साधु प्रवृत्ति करे, सूत्रका विधिनिषेधरूप अर्थ जैसी आज्ञा करे उसीके अनुसार प्रत्येक साधुको आचरण करना चाहिये ॥ ११ ॥

इसप्रकार शुद्धसमाचारीवाला साधु जिससे सीदित न हो उस उपायको कहते हैं—जो साधु रातके प्रथमभागमें तथा अन्तिमभागमें आत्मासे आत्माको देखता है, जैसे मैंने अपनी शक्तिके अनुसार कौनसा तपःकर्म आदि किया और मेरेलिये अब क्या कर्तव्य करना बाकी है, अथवा करनेलायक कौनसा वेयावच् आदि कार्य-शक्ति होते भी नहीं कर रहा हूँ ॥ १२ ॥

मेरी कानसा छुटिको दूसरा देखरहा है अथवा क्या आत्मा कहीं थोड़े विराग्यवाला है ! या कौनसी चूकको मैं नहीं त्याग रहा हूँ ! इत्यादि बातोंपर अच्छीतरह विचार करता हुआ साधु इसीप्रकार आगमोक्त विधिस चूकको समझकर भविष्यकालके लिये संयममें बाधा नहीं पहुँचावे ॥ १३ ॥

फिसे यह दिखाते हैं—मन वचन अथवा शरीरसे जहाँ कहीं संयमस्थानसे कुछ च्युत हुआ प्रमादयुक्त आत्माका देखे तब जैसे जातिमान् घोड़ा नियमित गतिके लिये शीघ्रही लगाम लगवा लेता है वैसे उसी संयम-स्थानसे धीरे गम्भीर साधु अपने विराधक आत्माको रोककर सम्यग् विधिओंके ऊपर यत्नशील बना रहे ॥ १४ ॥

श्रुतिका, १

धैर्यवान् य जितेन्द्रिय ऐसे जिस सत्पुरुषके इस प्रकार अपने हितोंके अवलोकन करनेरूप योग मन, वाणी य शरीरके होते हैं उस सत्पुरुषकोही विद्वान् लोग सदा प्रतिबुद्धजीवी-संयममें सावधान साधु कहते हैं, क्योंकि वही सर्वथा संयमजीवनसे जीता है ॥ १५ ॥

इस शास्त्रका उपसंहार करते हुए उपदेशका सर्वस्व कहते हैं—शक्ति होनेपर सुसमाधिवाले सर्व इन्द्रियोंसे युक्त ऐसे संयमीको चाहिये कि परलोकसम्बन्धी अपायोंसे अपने आत्मा और पर आत्माकी भी रक्षा करे। क्योंकि जो साधु स्वपर आत्माकी रक्षा नहीं करता है वह अरक्षित जन्ममार्गमें जाता है, और जो अच्छीतरह रक्षा करता है वह साधु सर्व दुःखोंसे छुटता-अलग होता है ॥ १६ ॥ ऐसा मैं कहता हूँ। इति।

॥ विविक्तचर्या नामकी दूसरी श्रुतिका समाप्त ॥

॥ इति सोभाग्यचन्द्रिका हिन्दी टीका समाप्त ॥

हे जानना सूत्रार्थका गुरुकी कृपापर टिक रहा ।
हटसे स्वयं जो पढालिया वह तत्त्वसे वञ्चित रहा ॥

यह बात सच्ची मानकर गुरुनामसे टीका रची ।
गुरुने सिखाई थी तथा जो बात मतिसे भी जची ॥ १ ॥

इस बातको गाथानुगत न्यूनाधिकोंको छोड़कर ।
मैंने लिखा है गुरुकथित निज संस्मरणसे जोड़कर ॥

स्मृति ही हुई हो क्षीण या विपरीत तो चाहूँ यही ।
विद्वान् मुनिवर सोचकर समझें वही जो हो सही ॥ २ ॥



शब्दकोश व टिप्पण.

अध्ययन १

गा. नं. अर्धमागधी

१ संजम

२ अप्या

३ एसणा

४ अहागढ

५ अणिसिअ

संस्कृत

संयम (पु.)

आत्मन् (पु.)

एषणा (स्त्री.)

यथाकृत (न.)

अनिमित्त (वि.)

हिन्दी

पापमार्गका निरोध, यतना, इन्द्रियदमन.

आत्मा, जीव.

तिसरी समिती—आहार आदिकी गवेषणा.

अपने लिये सहज बनाया हुआ.

कुल बगैरहमें मोहराहित.

अध्ययन २

१ सामण्य

२ अष्टाद

५ संपराय

६ वंतप

॥ अगंधण

८ भोगराय

॥ अंधगवहि

॥ गंधण

॥ निद्रुअ

१ हड

भ्रामण्य (न.)

अष्टाद (वि.)

सम्पराय (पु.)

वान्त (न.)

अगंधण (पु.)

भोगराज (पु.)

अन्धकृष्णि (पु.)

गंधण (पु.)

निभृत (वि.)

(दे.)

साधुधर्म.

परवश.

संसार.

छोटा हुआ या बमन किया हुआ.

उत्तम जातिका सर्प, सर्पकी एक जात.

यदुवंशी राजा उग्रसेन.

यदुवंशी राजा समुद्रविजय.

हीन जातिका सर्प.

स्थिरचित्त.

अमन्दमूल बनस्पतिविशेष.

अध्ययन ३

॥ २ ॥

१	विष्यमुक्क	विष्यमुक (त्रि.)	बाह्य आभ्यन्तर ग्रन्थिसे रहित.
॥	अणाइण्ण	अनाचीर्ण (त्रि.)	नहीं आचरण करनेयोग्य कर्म.
॥	निगंथ	निर्गन्ध (पु.)	साधु.
९	उदेसिअ	औद्देशिक (न.)	दूसरा उद्गम दोष, साधुके निमित्त करके बनाया हुआ आहार आदि.
॥	फीअगड	फीतकृत (त्रि.)	अष्टम उद्गम दोष, साधुके निमित्त मूल्यसे खरीदा हुआ आहार आदि.
॥	नियग	नियोगिक (न.)	आमंत्रण देनेवालेके यहांसे अथवा नित्य एक जगहसे आहार लेना.
॥	आभिदढ	अभिदत्त (न.)	साधुके लिये स्थानान्तरसे सामने लाया हुआ आहार आदि.
३	संनिहि	संनिधि (पु.)	घृत गुड आदिका संचय.
॥	गिहिमत्त	गृह्यमत्र (गृहिपात्र) (न.)	गृहस्थके पात्र.
॥	रायपिण्ड	राजपिण्ड (पु.)	राजाके लिये योग्य या राजाके यहाँका आहार.
॥	किमिच्छअ	किमिच्छक (न.)	जहाँ पूछके इच्छानुसार दिया जाय वैसा दान.
॥	संपुच्छणा	सम्पूच्छना (स्त्री.)	गृहस्थसे सावध विषय पूछना अथवा अपनी शोभाके विषयमें पूछना.
५	सिज्जापर	शय्यातर (त्रि.)	साधुको रहनेके लिये मकान देनेवाला गृहस्थ.
॥	आसंदी	आसन्दी (स्त्री.)	छोटी खाट या आसनविशेष.
६	वेआवडिअ	वैयावृत्य (न.)	भोजन आदिसे सेवा.
॥	आजीववात्थिया	आजीववृत्तिता (स्त्री.)	जाति कुल बताकर जीना.
॥	आणिच्चुड	आनिर्हृत (न.)	अपरिणत याने पूर्ण निर्जीव नहीं बना हुआ (मिश्र व सचित्त).
७	आमए	आमक (त्रि.)	सचित्त या कच्चा.

गा ने अर्धमागधी
१० लघुमुप्रविहारी
११ आसव
१५ सिद्धि
" परिनिन्दु

संस्कृत
लघुभूतविहारि (वि.)
आसव (पु.)
सिद्धि (स्त्री.)
परिनिर्त (वि.)

हिन्दी

वायुकी तरह अनिरुद्ध विहार करनेवाले.
कर्मबन्धके कारण.
सर्वथा कर्ममुक्त जीवोंका स्थान.
सर्वथा दुःस्वस्थित या कर्ममुक्त होना.

अध्ययन ४

काश्य
अदिग्नादान
उन्मुक्त

काश्य (पु.)
अदिग्नादान (न.)
उन्मुक्त

क्षत्रियोंका गोत्रविशेष.
बिना दिये पदार्थोंका लेना अर्थात् चोरी.
भूमि, जगह, पात्रविशेष.

अध्ययन ५ (उद्देश १)

२६ आपाण
३० सपिष्ठ
३२ पुःकर्म
३४ उक्षिष्ट

आदान (न.)
सपिष्ठ (न.)
पुःकर्म (न.)
उत्क्षिष्ट (न.)

लानेका मार्ग.
पृथ्वी जल अग्नि वायु वनस्पति आदि सजीव पदार्थ.
दान देनेके पहले सजीव पानी आदिसे हाथ धोना.
कालिङ्ग तुम्ब व्रण आदि फलोंके शस्त्रसे किये हुए चिकने टुकड़े अथवा
उखलमें हूटे हुए चिंचिनी आदिके पत्ते.

३५ पश्चात्कर्म
३६ पक्षणीय
४५ नीषा
५१ शनिमहा

पश्चात्कर्म
पक्षणीय (न.)
निषादिका (स्त्री.)
शनिपकार्य (पु.)

सुनिर्भोंको आहार आदि देकर उस निमित्तसे जल आदिका आरम्भ.
क्षोषस्थित.
पीसनेकी शिला खरल आदि.
पाषाणोंके लिये बनाया हुआ आहार.

गा. नं. अर्धमागधी

संस्कृत

हिन्दी

१०	किविण	कृष्ण (पु.)	कंजूस.
"	वर्णीमग	वर्णीयक (पु.)	याचक.
१८	अगिचुड	अभिहित (न.)	सचित्त.
२०	छिपारी	(दे.)	मूंग आदिकी फली.
२१	कोल	बदर (पु.)	बेर.
"	वेनुअ	बेणुक (न.)	वंशकोला.
"	कासरनालिआ	काश्यपनालिका (स्त्री.)	श्रीपर्णी फल.
२२	रियड	विहट (न.)	शुद्धोदक.
२५	समुभाग	समुदान (न.)	भिक्षासे प्राप्त सामुदायिक.
"	ऊसड	उत्सून (न.)	क्राद्धिसम्पन्न या ऊंचाकुल.
२६	मापण	मात्राज्ञ (पु.)	आहारके परिमाणको जाननेवाला.
२७	भदग	भद्रक (न.)	अच्छा.
"	विरस	विरस (न.)	रसरहित या मासी ठण्डा आहार.
२४	पंत	मान्त (न.)	असार.
२५	मायासठ	मायाशक्त्य (न.)	कपटभावरूप कांटा.
२८	अनिध्याग	अनिर्वाण (न.)	निर्वाण—सर्वथा दुःखमुक्ति—उसका अभाव.
४९	पनिअ	पणीत (न.)	स्निग्ध आहार.
४६	देवकिभिष	देवकित्विष (न.)	नीच जातिके देवयोग्य कर्म.
४८	बोही	बोधि (पु.)	सम्यक्त्व या जिनधर्मप्राप्ति.

भा. नं. अर्धमागधी

संस्कृत

हिन्दी

५५ दूधम्	पूतिकर्म (न.)
॥ भग्नीभ	अप्यरपूरक (पु.)
॥ पमिष्प	प्रमित्य (न.)
॥ शीघ्रमाप	मिभजान (न.)
५९ उचिगन्धग	उचिगन्धनक (पु.)
५९ मालाहृदा	मालाहृता (स्त्री.)
७५ संसेदम	संसेदिम (न.)
७८ धोष	स्तोरु (त्रि.)
८१ पठिरिज्या	परिष्ठापयेत्
८७ क्षिप्या	क्षय्या (स्त्री.)
८९ अहपा	अतिचार (पु.)
९५ पित्रस	प्रीतिकर (त्रि.)
९८ सूहभ	सूचित (न.)
९९ फागुभ	मासुक (त्रि.)

आधारकर्म दोषयुक्त आहारके अंश समिश्रित आहार.
 अपने लिए सीझते हुए ओदन आदिमें साधुका आना सुनकर अधिक डालना.
 साधुके लिये किसी दुर्बलसे छीनकर आहार आदि देना.
 गृहस्थ और साधु दोनोंके लिये सम्मिलित बने हुए पदार्थ.
 फीदीनगरा आदि.
 माला शरीरह ऊंचे स्थानसे उतारकर दी जानेवाली भिक्षा.
 पसीनेसे पैदा होनेवाले जीव, अटिका पानी,
 थोड़ा.
 अपनापन हटाकर अनुपयोगी वस्तु डालदेना.
 निवासस्थान,
 दोष.
 प्रसन्न मन.
 कहके दिया हुवा या शाक आदिसे युक्त आहार.
 निर्जीव.

अध्ययन ५ (उद्देश २)

१ पठिगह	प्रतिमह (पु.)
२ निदिदिभा	नैदिधिकी (स्त्री.)
५ संनिरेष	सन्निवेश (पु.)
७ उगृभ	अगृहक (त्रि.)

पात्र.
 स्वाध्यायभूमि वा निवासस्थान,
 उपनगर.
 सन्मुख.

गा. नं. अर्धमागधी
६९ हरिन्नरिन्ना

संस्कृत
स्वरियरिया (श्री.)

१	विणय	विनय (पु.)
३	असत्यमोक्ष	असत्यामृषा (श्री.)
४	सासय	शाश्वत (त्रि.)
८	पञ्चम्यग्न	प्रत्युत्पन्न (न.)
२१	पंचिदिअ	पञ्चेन्द्रिय (पु.)
२७	उदयशोणि	उदकश्रोणी (श्री.)
२९	टाल	टाल (न.)
२६	सुतिम्या	सुतीर्यो (श्री.)
४१	सुन्द	सुलट (त्रि.)
५७	चउकसापागमअ	चतुष्कसापागम (त्रि.)
॥	अणिशिअ	अनिधित (त्रि.)

११	उधिग	उधिङ्ग (पु.)
॥	पणम	पनरु (पु.)
२९	निशग	निशान (न.)
॥	रसनिगूर	रसनिर्गूढ (न.)

हिन्दी

परलोकसाधक विद्या अर्थात् तात्त्विक ज्ञान.

अध्ययन ७

भाषाका शुद्ध प्रयोग.
सत्य भी नहीं और नृपा भी नहीं ऐसी व्यावहारिक मोलचालकी भाषा.
मोक्षपद.
वर्तमानकाल.
पाँच इन्द्रियोवाले जीव (कर्ण, चक्षु, नासिका, रसना, स्पर्श.)
अरुष्ट, प्राचीन जलयन्त्र.
गुठली नहीं बंधा हुआ फोमल फल.
सुन्दर तीरवाली नदी.
सुन्दर.
फोप मान कपट लोभ इन चार कपायोंसे रहित.
कहीं भी मोक्ष या रुकावट नहीं रखनेवाला.

अध्ययन ८

सर्पच्छत्रादि या कीहीनगरा.
उष्टी, पाँचवर्णकी काई.
वर्ण रस आदिसे युक्त उत्तम अन्न.
विरस या तुच्छ धान्य.

गा. नं. अर्धमागधी

संस्कृत

हिन्दी

५० सुचमिदिहिरि

सुमणिहितेन्द्रिय (पु.)

इन्द्रियोंमें उपयोग रखनेवाला.

॥ त्रिलज्ज

तीव्रलज्ज (पु.)

उत्कृष्ट संयमवाला.

अध्ययन ६

१ दंष्ट्र

दर्शन (स्त्री.)

सम्यक्त्व याने सत्यश्रद्धा.

॥ गणि

गणिन् (पु.)

साधु आदि समूहका अधिपति वा आचार्य.

॥ समोसद

समवसूत (न.)

स्थित या धर्मदेशनामें लगा हुआ.

२ आधारगोचर

आचारगोचर (पु.)

क्रियाकलाप.

३ सिख्ता

शिक्षा (स्त्री.)

ग्रहणा और आसेवनारूपसे शिक्षाके दो प्रकार है.

५ विपुलक्षण

विपुलस्थान (न.)

विपुल ऐसे मोक्षका हेतु संयम.

६ सुदुग्ध-वियत्त

क्षुल्लक-व्यक्त (पु.)

क्षुल्लक-बालक, व्यक्त-ज्ञान आदिसे कृद्ध.

१४ उग्राह

गवग्रह (पु.)

उपाश्रय.

१६ भेदाययण

भेदायतन (न.)

चारित्र्यभङ्गका कारण.

१८ विर

प्राप्तुक (न.)

निर्जीवि बना हुआ.

२० करणजोअ

करणयोग (पु.)

करना करवाना अनुमोदन ये तीन करण है, और मन वाणी और शरीर

ये तीन योग.

५१ कुण्डमोअ

कुण्डमोद (पु.)

मिट्टी आदिका बड़ा भाजन अर्थात् कुण्डा.

५४ आशालअ

आशालक (पु.)

आजूबाजू सहारेवाला आसन.

६२ पछा (स्त्री.)

देशी

शुषिर भूमि.

६६ चिह्नण

॥

स्निग्ध या गाढ.

गा नं. अर्धमागधी
६९ सविज्जविज्जा

संस्कृत
स्वविविधा (स्त्री.)

- | | |
|-----------------|-------------------------|
| १ विणय | विनय (पु.) |
| ३ असत्तामोसा | असत्तामसा (स्त्री.) |
| ४ सासय | शाम्बत (त्रि.) |
| ८ पञ्चुप्पण | प्रत्युत्पन्न (न.) |
| २१ पचिदिअ | पञ्चेन्द्रिय (पु.) |
| २७ उदगदोणि | उदरुद्रोणी (स्त्री.) |
| २९ टाल | टाल (न.) |
| ३६ सुत्तिथा | सुतीया (स्त्री.) |
| ४१ सुल्लु | सुल्ल (त्रि.) |
| ५७ चउल्लसापावगम | चतुष्कपायापगत (त्रि.) |
| ” अणिसिअ | अनिमित्त (त्रि.) |

- | | |
|-------------|------------------|
| ११ उप्पिग | उत्तिह (पु.) |
| ” पणम | पनक (पु.) |
| २२ निट्ठाण | निष्ठान (न.) |
| ” रणणिज्जूड | रसनिर्भूट (न.) |

हिन्दी

परलोकसाधक विद्या अर्थात् तात्त्विक ज्ञान.

अध्ययन ७

भाषाका शुद्ध प्रयोग.
सत्य भी नहीं और मृषा भी नहीं ऐसी व्यावहारिक बोलचालकी भाषा.
मोक्षपद.
वर्तमानकाल.
पाच इन्द्रियोंवाले जीव (कर्ण, चक्षु, नासिका, रसना, स्पर्श.)
अरुहट्ट, माचीन जलयन्त्र.
गुठली नहीं बधा हुआ फोमल फल.
सुन्दर तीरवाली नदी.
सुन्दर.
क्रोध मान कपट लोभ इन चार कपायोंसे रहित.
कहीं भी मोक्ष या रुकावट नहीं रखनेवाला.

अध्ययन ८

सर्पच्छनादि या कीड़ीनगरा.
उल्ली, पांचवर्णकी काई.
वर्ण रस आदिसे युक्त उत्तम अन्न.
विरस या तुच्छ धान्य.

गा. न.	अर्धमागधी	संस्कृत	हिन्दी
२१	अतितिण	अतिन्तिन (पु.)	भिक्षा आदि नहीं मिलनेपर भी शान्त रहना.
२२	विषदभाव	विकटभाव (पु.)	प्रकट विचारवाला.
२५	बल	बल (न.)	मनोबल.
॥	थाम	स्थाम (पु.)	शरीरकी दृढ़ता.
५०	आयारपण्णात्ति	आचार-प्रशस्ति	आचाराङ्ग, विवाहप्रशस्ति (भगवती) आदि.

अध्ययन ९ (उद्देश १)

१	धम्	स्तम्भ (पु.)	अभिमान.
११	जहादिअग्गी	यथाहिताग्नि (पु.)	अग्निको घरमें सतत रखनेवाले आहुण.

अध्ययन ९ (उद्देश २)

१	खंघ	स्कन्ध (पु.)	शूक्ष्मका मूल.
२	सिग्घं	शीघ्रं अथवा श्लाघ्यं	जल्दी वा. प्रशंसनीय.
३	मिय	मृग (पु.)	मूर्ख.
॥	नियडी	निकृति (स्त्री.)	कपट.
६	उववज्झ	औपवाह्य (पु.)	राजा आदिके प्रेमपात्र हाथी घोड़े बैराह.
७	छाय	छात (वि.)	चाबुक आदिके प्रहारसे चिह्नित शरीरवाले.
८	फलुण	करुण (पु.)	दीन.
॥	विषण्णउंद	विषमच्छन्दस् (वि.)	पराधीन होनेसे स्वेच्छारहित.
१४	निअच्छंति	नियच्छन्ति (क्रि.)	पाते हैं.

सा. नं.	अर्धमागधी	संस्कृत	हिन्दी
१५	निर्देशवृत्ती	निर्देशवर्ति (पु.)	आज्ञापालक.
१६	अनन्तदिअज्ञानअ	अनन्तहितकाम (पु.)	मोक्षपदका इच्छुक.
१८	उपधि	उपधि (पु.)	वस्त्र पान रजोहरण आदि धर्मसाधनके उपकरण.
१९	द्विष	द्विष (न.)	आचार्य या गुरुजन.
२२	हीनप्रेक्षण	हीनप्रेक्षण (पु.)	गुरुकी आज्ञाको बराबर न पालनेवाला.
२४	सुप्रत्ययम्	सुप्रार्थपर्य (पु.)	गीतार्थ यानि आगमके विशेषज्ञ.
॥	ओह	ओष (पु.)	संसारका प्रवाह.

अध्ययन ९ (उद्देश ३)

१	रायगिअ	रायगिअ (नि.)	ज्ञानदर्शन-चारित्र्य-रूप भावरात्नोंकी विशेषतावाले.
॥	परिआयनिउ	पर्यायज्येष्ठ (नि.)	तन्त्रे कालके अर्थात् पूर्वदीक्षित.
॥	ओशयव	अवपानवत् (नि.)	विनम्रशील.
४	उउ	उउ(न.) (श्वस्थोदरितादि)	छदरथके बचे हुये आहार आदि अथवा थोडा.
॥	समुपान	समुपान (न.)	विधिपूर्वक भिक्षा.
८	परममशूर	परममशूर (पु.)	दानशूर युद्धशूर आविर्से विशिष्ट प्रधान शूर.
१०	अमुदअ	अमुदक (पु.)	इन्द्रजाल आदि कौतुकसे रहित.
१५	अभिगमकुशल	अभिगमकुशल (नि.)	आगत साधु योगरहके योग्य सत्कार करनेमें चतुर.

अध्ययन ९ (उद्देश ४)

अपक्षेयगादिअ	आत्मसम्पदशीत (पु.)	मैं विनीत हूँ आदिरूप अहङ्कारयुक्त न हो.
--------------	----------------------	---

गा. नं. अर्धमागधी

संस्कृत

हिन्दी

आययद्वि

आयतार्थिन् (पु.)

मोक्षका इच्छुक.

किञ्चि

कीर्ति (स्त्री.)

सर्वत्र फैलनेवाली शोभा.

वर्ण

वर्ण (पु.)

एक दिशामें व्याप्त प्रशंसा.

सह

शब्द (पु.)

आधी दिशामें व्याप्त गुणानुवाद.

सिलोगदुअ

श्लाघार्थ वा श्लोकार्थ (पु.) गुणीके समक्ष होनेवाली स्तुतिके लिये.

अतितिग

अतिन्तिन (पु.)

किसीके एकवार कुछ कहनेपर असूयासे बारंबार बोलनेवाला.

५ भावसंधअ

भावसन्धक (वि.)

मोक्षको समीप करनेवाला.

७ इत्थत्थ

इत्थंस्थ (वि.)

नारक आदि संसारके पर्यायोंको.

अध्ययन १०

१ छंदिअ

निमन्त्र्य

निमंत्रण करके.

१० निहुइंदिअ

निभूतेन्द्रिय (वि.)

इन्द्रियोंको स्थिर रखनेवाला.

अपिइठअ

अविहेठक (पु.)

योग्य कार्यमें अनादर नहीं करनेवाला.

१२ वीसठुचत्तदेह

व्युत्सृष्टत्यक्तदेह (वि.)

शरीरपर रागद्वेष नहीं करनेवाला.

१४ जाइपह

जातिपथ (पु.)

संसार.

१५ अजसप्परअ

अध्यात्मात् (वि.)

शुभध्यानमें तल्लीन.

१६ पुलनिप्पुलाअ

पुलाक-निप्पुलाक (पु.)

संयमको निस्तार करनेवाले दोषोंसे रहित.

१७ अणिह

अनिभ (अनीह) (वि.)

कपटसे रहित.

२० अज्जपय

आर्यपद (पु.)

शुद्ध धार्मिक पद याने केवल सम्यग्धर्मके कहनेवाले पचन.

गा. नं. अर्धमागधी

संस्कृत

हिन्दी

२१ निश्चादिय

नित्यहित (वि.)

मोक्षसाधन सम्यग्दर्शन आदि.

” अपुनागमा

अपुनरागमा (वि.)

जहाँ जानेपर फिर संसारमें नहीं आना पड़े ऐसी गति याने सिद्धगति.

प्रथम चूलिका

अरइसमावण्णचित्त

अरतिसमावण्णचित्त (वि.)

संयममें उद्दिग्ध चित्तवाला.

ओहाणुप्पेही

अवधानोत्प्रेक्षी (पु. न.)

संयमसे पीछे हटनेकी इच्छावाला.

दुस्समा

दुष्पम (पु.)

दुष्मानामका काल (पंचमआरा).

१ आयइ

आयति (स्त्री.)

भविष्यकाल.

५ कव्वड

कर्वट (पु.)

बहुत छोटा खेडा.

७ कुतत्ती

कुतात्तिः (स्त्री.)

धुरी चिन्ताई.

९ भाविअप्पा

भावितात्मन् (पु.)

ज्ञानक्रियासे प्रसन्न जीवनवाला.

१२ जण्णगिबिज्झायनिव

यज्ञाग्नि विध्यातमिव

बुझी हुई यज्ञाग्निके समान.

१४ पसज्झचेअ

प्रसन्नचेतस् (उ.)

प्रकट चित्त.

” अणहिज्झिअ

अनभिध्यात (वि.)

अनिष्ट गति.

१५ सिज्झइ

क्षीयते (क्रि.)

समाप्त होता है.

१६ जीविअपज्जव

जीवितपर्याय (पु.)

जीवनकी समाप्ति.

१८ आय

आय (पु.)

ज्ञान आदिका लाभ.

” उवाय

उपाय (पु.)

उसके साधन काल विनय आदि.

द्वितीय चूलिका

१ अणुसोअ

अनुसोतस् (पु.)

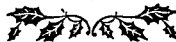
विषयानुकूल लोकप्रवाह.

गा. नं. अर्धमागधी

संस्कृत

हिन्दी

३	पडिसोअ	प्रतिस्रोतस् (पु.)	विषयसे विरुद्ध प्रवृत्ति.
५	समुआणचरिआ	समुदानचर्या (स्त्री.)	अनेक घरोंमें भिक्षाके लिये घूमना.
”	पइरिछिया	प्रतिरिक्ता (स्त्री.)	एकान्तसेवीपन.
”	ओसण्ण	उत्सन्न	प्रायः.
९	अभिवायण	अभिवादन (न.)	वचनसे नमस्कार करना.
”	वंदण	वन्दन (न.)	प्रणाम.
”	पूअण	पूजन (न.)	वस्त्र आदिसे सन्मान करना.
१२	पुव्वरत्तावरत्तकाल	पूर्वरात्रापररात्रकाल	रात्रीके प्रथम और अन्तिम महर.
१३	अणमय	अनागत (न.)	भविष्यकाल.
१४	आइण्णअ	आकीर्णक (पु.)	उत्तम जातिका घोडा.
”	खलीण	खलिन (पु.)	लगाम.



टिप्पणम्

१ तृतीयाध्ययनस्य चतुर्थगाथायां छत्रोपानद्धारणरूपे द्वेऽनाचीर्णे १९-२१ संख्यायां प्रतिपादिते स्तः । वृत्तिकारेण यत्तत्राऽपवादरूपम् 'आगाढगलानाद्यालम्बनं मुक्त्वा अनाचरितम्' इत्युक्तं तत्प्रवृत्तिपोषकत्वात्तन्मूल-
कत्वाद्वा प्रवृत्तेर्न यथावन्मान्यमिति विदुषा विवेक्तव्यम् ॥

२ महाव्रतप्रतिपादकेषु 'तिविहं तिविहेणं मणेणं' इत्यादिपाठेषु दृष्टेष्वादेशेषु मुद्रितपुस्तकेषु च प्रायः 'मणेणं वायाण काणं' इत्येवंविधः पाठो दृश्यते । अस्मिन्नेव सूत्रे परत्र बाहुल्येन 'मणसा वयसा कायसा' एवमपि पाठ उपलभ्यते, परं शब्दानुशासनदृष्ट्या तु 'मणसा वयसा काणं' इति शुद्धपाठेन भाव्यम् । अन्यत्त्वार्षत्वादिति प्रतिपादयार्हमेव भवति ।

३ 'से भिक्षु वा' इत्यादि पाठे पूर्व-से-शब्दो भिक्षुवाचकः, पर-से-शब्दस्तत्कायवाचक एवं बहुभिः सम्मतत्वादत्राऽपि तथैव स्वीकृतम् । किन्तु यदि पूर्व-से-शब्दोऽथवाचकः पर-से-शब्दश्च भिक्षुवाचकः स्वीक्रियेत तदा भवति विशिष्टार्थसङ्गतिः । एवं स्वीकरणे काऽपि बाधा न स्यात्तदा विद्वद्भिस्तथा स्वीकरणीयम् ॥

स्पष्टीकरणम्

वृत्तिटिप्पणस्थवाक्येषु कतिचिर्लौकिकदृष्ट्याऽपि प्रयुक्तानि, यथा- 'श्रोत्रियस्य चाण्डालालिङ्गनमिव' । एवमुदाहरणरूपेण-उद्धरणरूपेण वा प्रयुक्तवचनेषु यत्रकुत्रचिद्वैषम्यं चेत्तत् सैद्धान्तिकं न मन्तव्यम् ॥ एवमेव 'इत्वरं सूतकयुक्तम्' इति वचनं लौकिकदृष्ट्या कैश्चित्स्वीकृतमपि न जैनं सैद्धान्तिकम् ।

सम्पादकः ।

शुद्धिपत्रम् भूमिका

॥ २ ॥

पृष्ठ	पंक्ति
१	२
१	१८
३	७
३	१६
५	११
५	१४
६	१५
९	६
१०	१५
११	७
१२	१७
८	९

अशुद्ध
पाठक !
कभी
जीवनकी
ह
देवर्द्धि*
९५०
ओर
छट्टा
दिया
तो अपने
परिश्रम

अध्ययन २

वत्थगध*

शुद्ध
पाठकों !
कभी
जीवनके
हे
देवर्द्धि*
९८०
जो
चौथा
दिशे
तो मैं भी अपने
परिश्रमको

वत्थगध*

॥ २ ॥

श्रु	पंक्ति
४४	२
५०	१
५७	११
६०	४
६२	११
७१	९
७४	५
७४	१०
८१	४

अशुद्ध
सत्त्वेदिमाः—
तेषां
पुनर्द्वयभावेन
नाऽऽपीडयेत्
पुद्गलं
अविहारो
मोक्ष
सम्भितरवाहिरं
ति

शुद्ध
सत्त्वेदिमाः
तेषां—
पुनर्द्वयभावेन
नाऽऽपीडयेत्
पुद्गलं
अ विहारो
मोक्षं
सम्भितरवाहिरं
इति

अध्ययन ५ (१)

८५	११
९९	३
१००	८
१०२	२
१०३	१०
११३	१

सत्य (ताऽ)
आनीयात्
बोधव्ये
पञ्चाकम्म दोसओ
तथा
बीजिहरित्तैर्वा

सत्य (ताऽ)—
आनयेत्
बोद्धव्ये
पञ्चाकम्मदोसओ
तथा
बीजिहरित्तैर्वा

पृष्ठ	पंक्ति
२०६	१
२०९	५
२१५	१५
२१६	८
२१६	८
२१८	२
२२१	१४
२२२	८
२२४	१३
२२५	५
२२५	९

अशुद्ध
नत्तुणित्ति
महाकायत्ति
मायूपि
पणित्तऽथ
इति
शब्दाद्
आस्त्वैहि
नाऽऽलपेद्
रिद्धिमंतत्ति
भयत्ता व
क्रोधात्क्रोधाद्भयाद्भयाद्

अध्ययन ८

२२९	३
२२९	६
२३२	६
२३३	११
२३६	९
२४२	१४
२५२	३

निरवज्ज पि
कायव्व
शृष्टं
पत्तिणी^०
पणकं
आहारमाइअं
वर्तते

शुद्ध
नत्तुणियत्ति
महाकायत्ति
मायूपि
पणित्तऽर्थ
इति
शब्दाद्
आस्त्वैहि
नाऽऽलपेद्
रिद्धिमंतत्ति
भय हास
क्रोधात्क्रोधाद्भयाद्भयाद्

निरवज्ज पि
कायव्व
शृष्टं
पत्तिनी^०
पणकं
आहारमाइअ
वर्तते

पुत्र	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
		चूलिका २	
३४५	२	अस्यौघत	अस्यौघतः
३४५	१०	°दार्यया स°	°दार्ययाऽस°
३४५	१०	ऋषिघातका°	ऋषिघातिका°
३४६	२	भवतुऋमेन	भवितुऋमेन
३४६	३	°काष्ठवद्	°काष्ठवद्
३४७	३	°पराक्रमेन	°पराक्रमेण
३४८	२	प्रशस्ताः	प्रशस्ता
३४८	३	समुदानचर्या	समुदानचर्या-
३५२	१३	°द्वतुषद्धकाले	°द्वतुषद्धकाले

आम्योऽन्याऽपि काचिपुटिलब्धावकाशा स्यादत्र सशोधने तदा धीधनैर्मुनिवरैः श्रद्धेभ्यः संशोध्य सूचनीया येनाऽप्रिममुद्रणे
स्यात्तस्या विशोधनमिति । सम्पादकः ।



हिन्दी टीका

पृष्ठ	पंक्ति
१	१
१	८
२	१
२	१०
४	१७
६	५
६	५
६	८
६	८
६	१५
७	५
७	१३
८	९
९	९
१३	११
१४	१
१९	१

अशुद्ध

सूत्रका

दुर्गतिमें

ह

-

होता

अधारतासे

इसलिये धैर्यवान्

पूवाक

ग्रन्थसे

गृहिमात्र-

खलना

आर

अंजन

जिन्होंने

सचेतन

कहे

सूत्रोंका

शुद्ध

सूत्रकी

दुर्गतिमें

हैं

-

होगा

अधारितासे

इसलिये धैर्यवान्

पूर्वोक्त

ग्रन्थसे

गृहिमात्र-गृहस्थके

खेलना

और

अंजन

जिन्होंने

सचेतन

कहे

सूत्रोंका

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध
१६	२	दूसर
१६	४	लेनेसे
१६	४	व्रतमें
१६	१६	अलग
१७	१०	जान्
१९	८	धुआ
१९	१३	उत्तेजन—
२१	७	करनेवाला
२२	१३	आर
२२	१५	फकता
२३	३	विधिसे—
२४	१	मन्दतासे
२६	३	करत
३२	१३	और
३३	४	बहों
३७	१	निसरणी
३८	५	पदार्थको
३८	१५	लेते
४१	३	बना हुआ

शुद्ध
दूसरे
लेनेसे
महाव्रतमें
पीछे
जानू
धुआ
उत्तेजन,
करनेवाला वह
और
फँकता
विधिसे
मन्दतासे
फरते
या
बह
निसरणी—
पदार्थ
देते
बने हुए

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४१	१२	आहारको दोषरहित होकर	दोषरहित आहारको
४४	५	ऐसे	तो
४४	८	फटे	तोड़े
४४	१३	बाचमें	बीचमें
४४	१३	अ र	अगर
४४	१४	निजाव	निर्जीव
४४	१५	ता	तो
४४	१५	साध	साधु
४४	१७	अर्धही	अर्धही
४४	१८	मालम	मालूम
४५	९	मुझ	मुझे
४९	१	परिणामको-	परिमाणको
४७	१३	यह मयपी साधु-	जैसे
४७	१३	यह दुर्बुद्धि	यह मयपी दुर्बुद्धि
४९	३	सीरकर	सीरकर साधु
५०	१०	होकर	होकर उनको
५१	१०	कुशीलपना घोर	कुशीलपना लोकमें घोर
५४	५	आहारोंका	आहारोंको
५५	११	वायुके	वायुके

पृष्ठ	पंक्ति
५५	१३
५६	११
५७	९
५९	९
६१	४
६१	१६
६२	नोट
६३	१४
६८	१
६८	१५
६८	१७
३८	१८
६९	३
६९	६
६९	८
६९	१२
६९	१३
७०	१
७१	१६

अशुद्ध
 दूसरोंको
 आश्रममें
 बचे
 विभूषा निमित्तक
 सत्यकी
 बोलना
 याने दादीको
 ह
 बची
 फलानेकी
 आदि हैं
 होंगे
 बोलना
 जैस
 मानस
 भाषाको बोलनेवाला
 भाषाको छोड़नेवाला
 क्रिये
 ईदोंके

शुद्ध
 दूसरोंसे
 आश्रयमें
 धोये
 विभूषानिमित्तक
 सत्यके
 बोलनी
 याने नानी व दादीको
 है
 बेची
 अमुककी
 आदि
 होंगे
 बोले
 जैसे
 मानसे
 भाषाको विचारकर बोलनेवाला
 भाषाको सदा छोड़नेवाला
 किये हुए
 पत्थरके

पङ्क्ति	अनुच्छ
७३	मासुक्त हुआ है
७४	अप्रिकायके
७५	अप्रिकायविधि
७६	अनन्तकाय वचिष
७७	रहनेवाला
७८	मिनको
७९	इन
८०	यत्न करे
८१	भी साधु सदा
८२	वाहर ग्रहण भी नहीं करे
८३	रागद्वेषके
८४	मानेसे
८५	ऐक्यते ॥ ११ ॥
८६	तन्मीन
८७	इन दोनोंको
८८	(या कम नहीं करे),
८९	होकर भ्रमणधर्ममें लगानेवाला साधु

अनुच्छ
मासुक्त किया गया है
अप्रिकायकी
अप्रिकायविधि
अनन्तकाय व सचित्त
रहनेवाले
उनको
उन
सदा यत्न करे
भी सदा
अज्ञातपनसे लेलेनेपर भी भोग नहीं करे
रागद्वेषके
जानेसे
रोकले, तथा दूसरीबार फिर उस अकृतव्यको
नहीं करे ॥ ११ ॥
पिनीत
इन चार दोनोंको
या कम नहीं करे,
होकर मुनि भ्रमणधर्ममें लगावे, क्यों कि
भ्रमणधर्ममें लगा हुआ

पृष्ठ	पंक्ति
७८	११
७८	१८
७९	५
७९	७
७९	११
७९	१२
७९	१४
७९	१५
७९	१६
७९	१७
७९	१७
८०	४
८१	७
८१	१७
८१	११
८१	१४
८१	१४
८१	१५
८१	१५

अशुद्ध
 उपयोगपूर्वक गुरुके
 विरोधी है—किसी भी
 पुरुषके,
 याग
 कर
 हो, मुनि
 करे, साधुओंके
 स्नातसर्ग नक्ष
 ऐसेही
 नातिकार
 जैसे
 स्वाध्यायको करनेवाला
 होनेवालाही
 आवे उसके
 वैसे
 शास्त्रालोचनामें
 तथा कारणान्तरसे
 अर्थात् स्थापित
 हा

शुद्ध
 उपयोगपूर्वक मनवाणीकी गुप्तिके साथ गुरुकी
 विरोधी है—उसको किसीभी
 पुरुषकी
 योग
 करे
 हो, तो मुनि
 करे, किन्तु साधुओंके
 स्त्रीसंसर्ग नहीं
 ऐसेही
 नीतिकार
 जैसे
 स्वाध्यायको सदा करनेवाला
 होनेवालाही मुनि आचारवान्
 आवे तो उसके
 वैसे
 आलोचनामें
 तथा स्थापित अल्पवयस्क आचार्यको
 अर्थात् कारणान्तरसे स्थापित
 हा

इस	पंक्ति
८१	१३
८१	१७
८२	१
८२	१२
८३	६
८३	४
८३	१४
८८	१
८८	३
८८	६
८८	८
९०	८
९०	१०
९०	११
९०	१३
९१	११
९१	१

अशुद्ध
 यही
 यही
 होने हैं
 मुद्रका सत्कार
 शास्त्र
 शान्ति
 विनयको
 दिखाते हैं—पनाके

सुशिक्षित
 होकर गुप्त
 प्याससे
 बने आहार
 सिम्पने
 कपड़ी हुई है
 तथा सम्पत्ति का
 बचनको ध्यान कर छलकपटों रहित
 जो साधु उसको
 आदि

शुद्ध
 यही
 यही
 होते हैं, और निजसे मोक्ष भी नहीं होता
 मुद्रका सदा सत्कार
 शील
 होती
 विनयके विषयमें
 दिखाते हैं—दिव्य लक्ष्मीके निवारणकी
 तादृशी रानाके
 सुशिक्षित प्रेमपात्र
 होकर ये दुरा
 म्यास आदिसे
 पाले उस आहार
 शिष्यको
 समझी है
 तथा ज्ञान आदि सम्पत्तिका
 बचनको छलकपटसे रहित जो साधु ग्रहण
 करता तथा उसको
 आदि

पृष्ठ	पंक्ति
१३	६.
१४	२
१४	२
१४	१६
१५	२
१६	८
१६	१४
१६	१५
१७	८
१८	१
१८	६
१९	४
१९	७
१९	९
१९	१०
१९	१०
१९	१२
१९	१३
१९	१६

अशुद्ध
ह
दूसरेकी
करके
निकलनेवाला है,
ऐसी
गणधरोने
विशेषसेही
यथार्थ
श्रुतसमाधिमें लगा हुआ साधु रहता है
मोक्षका अर्थी
केन्द्रस्थानको
इसी
उसी
अथवा खुदाता
या पिलाता
अथवा
या
या
या

शुद्ध
है
दूसरेसे
कराता व
होकर चलता है,
ऐसी अनुपम
गणधरोसे
अनुशासनसेही
यथार्थ
साधु श्रुतसमाधिमें लगा रहता है
मोक्षका अर्थी व सूत्रादिसे प्रतिपूर्ण
केन्द्रस्थान क्षेमपदको अपने लिये
इसी
इसी
अथवा नहीं खुदाता
या न पिलाता
तथा
व न
और नहीं
व न

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१००	६	शङ्काके ऐसा	शङ्काके सदा ऐसा
१००	११	या	व न
१००	१२	अथवा	तथा
१००	१८	आकुलतारहित	आकुलतारहित व
१०१	२	आदिकृत शब्द	आदिकृत भयङ्कर शब्द
१०१	१८	बनानेवाले पुलाऊ व निष्पुलाऊ नामक दोषोंसे	बनानेवाले दोषोंसे
१०२	१	चाहता	चाहना
१०२	३	स्थिरचित्त होकर	स्थिरचित्त व मायारहित होकर
१०२	६	जैसी	जैसे
१०३	११	भिद्युके ये	भिद्युके लिये
१०४	१	साचना	सोचना
१०४	१	कमोंसे	कमोंसे
१०४	४	खुशामद	खुशामद
१०६	३	भविष्यकाल	भविष्यकालमें
१०६	१३	बहार	बाहर
१०६	१७	फसाकर	फसकर
१०७	५	कि	कि—
१०८	१	घोर विपत्तर्वर्ती	घोरविष सर्पकी
१०८	१	हैं	हैं

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध
१०८	१२	दुःखासे पूर्ण व अनिश्चित
१०८	१४	भावमें
१०८	१८	दुःखकी दशामें
१०९	१	क्याकि
१०९	१२	संयम
१११	१३	बढ़
१११	१४	बढ़त
१११	१८	इन्द्रियवि य
११२	१	हाता
११२	१	ह
११२	१	अनस्रात
११२	१	विषयोंमें
११२	११	दिखात
११२	११	जसे
११३	६	धृत
११४	२	अपे से
११४	३	विहार
११४	६	रहचुके हैं
११४	७	शेषकाल

शुद्ध
दुःखोंसे पूर्ण व अनिष्ट
भवोंमें
इस विचारसे दुःखकी दशामें
क्योंकि
संयत
बढ़
बढ़ते
इन्द्रियविजय
हाता
है
अनुस्रोत
विषयोंकी
दिखाते
जैसे
धृत
अपेक्षासे
विहार
रहचुके हैं
शेषकाल

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध
११४	१२	जसे
११४	१५	कानसा
११४	१५	क्या आत्मा
११५	४	स्थानमें
११५	४	दितोंके
११५	४	योग मन, वाणी व शरीरके हेतु हैं
११५	८	भी रक्षा करे
११५	१७	विधिसे
११६	२	हठसे

शुद्ध
जैसे—
कौनसी
क्या मेरा आत्मा
स्थानमें
दितोंको
मन वाणी व शरीरके योग होते हैं
भी सतत रक्षा करे
विधिसे
हठसे

शब्दकोश व टिप्पण.

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध
४	२	अशसमिभित
६	५	दर्शन (स्त्री)
७	१४	मोक्ष
१०	७	भारभार बोलनेवाला
१०	११	अविह्वल
११	९	बहुत
१२	९	रात्री

शुद्ध
अशसे मिभित
दर्शन (न.)
मोह
भारभार नहीं बोलनेवाला
अविह्वल
बहुत
रात्रि

॥ श्रीदशवैकालिकसूत्रं समाप्तम् ॥

श्रीमद्वैकालिक सूत्रपर जैन एवं अजैन विद्वानोंसे प्राप्त कुछ अभिप्राय.



(१) भारतभूषण शतावधानीजी श्री रत्नचन्द्रजी महाराज, पंजाबकेसरी पूज्यश्री काशीरामजी महाराज वक्ता मुनिश्री सीभाग्यमलजी महाराज—

“दृष्टमिदं श्रीद्वैकालिकसूत्रं (तावचूरि सच्छायम्) क्रियदंशेन, अल्पसमयत्वात् साधोपान्तम् । तत्र या त्रुटिः सा पृथक्सूत्रे निर्दिष्टा । अवचूरिविषये अस्माकमयमभिप्रायः—यदर्थोऽस्मत्समाजस्य सर्वथा न प्रमाणपदमर्हति सा टीका वाऽवचूरिः किमर्थं सर्वथा प्रमाणरूपसूत्रेण संयोजनीया ? अनेक स्थलेषु अवचूरिभाषाटीकयोर्मध्येऽर्थभेदः स्पष्टं प्रतीयते, कुत्रचिद्विपरीतार्थोऽपि, यथा—पञ्चमाध्ययन-प्रथमोद्देशक—सप्तदशगाथायां “इत्वरं सूतक्युकमित्यादि” इदं सूत्रं बहूनां साधूनां साध्वीनां श्रावकश्राविकाणाञ्च कण्ठस्थं क्रियतेऽतोऽत्र स्वल्पोऽपि पाठभेदो न क्षन्तुमर्हः स्यात्* । ‘मणसा वयसा कायसा’ इति पाठ आचलप्रसिद्धो वर्तते । तत्स्थाने विनाकारणं ह्रस्वविधानं न केनाऽपि प्रकारेण सोढव्यं स्यादित्यादि । बहुवक्तव्यमपि मुद्रणा-नन्तरमकिञ्चित्करमिति किमधिकेन ? वस्तुतस्त्वेतादृशगौरवयुतकार्यं सहवासप्रवृत्त्या परस्परविचारविमर्शेन परस्परसाहाय्यप्रदानेन च क्रियते तावच्छ्रेयस्करं भवति । सुज्ञेषु किं बहुना ? एतत्तु प्रशंसनीयं यत् पत्रादिकं प्रकाशनकार्यं च मनोहरं वर्तते । संशोधन-परिश्रमोऽपि श्लाघनीयः ।

कान्दावाडी, बम्बई, १२-६-१९४०

* शङ्का-निरसनके लिये ‘स्पष्टीकरणम्’ इस शीर्षकको देखिए.

(१) जैनधर्मदिवाकर उपाध्यायजी श्री आत्मारामजी महाराज, कविवर उपाध्यायजी श्री अमरचन्द्रजी महाराज—

“ दशमैकालिक सूत्रका इतना अधिक सुन्दर एवं सफल संस्करण जैन संसारको देनेके उपलक्ष्यमें आचार्य श्री हस्तीमल्लजी महाराजको हार्दिक धन्यवाद । आधुनिक सम्पादनपद्धतिके सभी समुचित साधनोंका उपयोग करके वास्तवमें स्थानम्वासी जैन समाजमें प्रकाशनकी एक नई दिशा स्थापित की गई है ।

सौभाग्यचन्द्रिका टीकाकी भी अपनी एक खास विशेषता है । सरस, सरल और सुबोध भाषाके द्वारा संक्षेपमें मूलका वास्तविक आशय प्रगट करदेना ही विशिष्ट लेखनकला है । और इसमें आचार्यश्रीकी सफलता प्रशंसनीय है ।

जैन समाजका कर्तव्य है कि वह प्रस्तुत संस्करणको अधिकसे अधिक अपनाए और इस प्रकार आगमसाहित्य-के मौलिक संस्करणोंके प्रकाशनका अग्रिम मार्ग प्रशस्त करे । किसी भी प्राचीन आगमका आधुनिक शैलीके द्वारा सम्पादन-कार्य बहुत नाजुक होता है, बहुतसी बार बड़ी बड़ी भूलोंको हटानेकी चेष्टामें छोटी खटकनेवाली भूलें रह जाती हैं । परंतु आशा है—भ्रान्तियोंके विवादमें पढ़कर हम पुस्तककी अन्य अनेकविध प्रशस्तताओंको न भुलाएंगे और अपने एक विद्वान् सहयोगीका इस अभिनव क्षेत्रमें सोल्लास स्वागत करेंगे । ”

लुधियाना (पंजाब). २३-५-४०

श्री. अगरचंदजी भैरोंदानजी साहब सेठिया—बिकानेर—

“ जैन और जैनेतर समाजको जैन साहित्यसे परिचित करानेके लिये आपका यह प्रयत्न प्रशंसनीय है । अवचूरि सरीसृपी सरल, संक्षिप्त और सूत्रार्थको स्पष्ट करनेवाली प्राचीन टीकाको प्रकाशित करके आपने एक अभावकी पूर्ति की है । हिन्दी टीका भी उपयोगी है । इससे साधारण जनता पर्याप्त लाभ उठा सकेगी । इसके लिये आप और महाराज भी धन्य-वादके पात्र हैं । कामज और छपाई सुन्दर है । ”

डॉ. पी. एल्. वेद्य, प्रोफेसर नॉरोसजी वाडिया कॉलेज, पूना —

“ या ग्रंथात प्राकृत मुद्र, त्याची संस्कृत छाया, एक अप्रसिद्ध पण सुबोध संस्कृत टीका व शेवटीं मराठी किंवा हिन्दी अनुवाद हीं दिली आहेत या सर्व सामग्रीमुळे समाजाच्या सर्व प्रतींच्या लोकांची उत्तम सोय झाली असून या ग्रन्थाचा आस्वाद आता सर्व लोकांस वेणें शक्य झाले आहे. संपादकांनीं आपलें काम अत्यंत काळजीपूर्वक व उत्तम रीतीनें केले आहे, त्यामुळे एकंदर ग्रन्थ फार सुंदर व शुद्ध झाला आहे. ग्रन्थ पोथीरूपानें छापला असल्यामुळे मुनि, शास्त्री व पंडित यांची सोय झाली आहे, पण आकार बेताचा व आटोपशीर असल्यामुळे नवीन विद्वानांनाही फारसा गैरसोईचा वाटणार नाही. ”

डॉ. ए. एन्. उपाध्ये, प्रोफेसर राजाराम कॉलेज, कोल्हापूर —

“ The first volume of the series, “ श्रीदशवैकालिकसूत्रम् (सावचूरिसंज्ञायम्) ” is already before us. It is edited by Mr A. N. Surpuria, M. A., LL. B. who is to be highly congratulated for bringing an unpublished Avachūri to light and for presenting the edition in such a manner that it would attract a wider public of readers. Mr. Surpuria has taken great pains and has done the work ably and carefully. ”

